

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० १

(युग्मांक)

जनवरी-मार्च १९८६

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	आदिनाथ जिन-स्तवन	१
२.	परिग्रह की घुसपैठ में अहिंसा की लाक्षणिक हत्या श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	२
३.	पुरुषोत्तम-चम्पू का आलोचनात्मक परिशीलन —डा० कपूरचन्द जैन, खातोली	४
४.	अपभ्रंश साहित्य की एक अप्रकाशित कृति : पुष्पासक कहा —डा० राजाराम जैन आरा	८
५.	धर्मसार सतसई : श्री कुन्दनलाल जैन दिल्ली	११
६.	कस्तूरी मृग : डा० सविता जैन	१६
७.	जैन विद्याओं में शोध एक सर्वेक्षण —डा० नन्दलाल जैन, रीवा	१७
८.	आयुर्वेद में अनेकान्त : —आचार्य राजकुमार जैन, दिल्ली	२२
९.	णायकुमार चरित्र में प्रतिपादित धर्मोपदेश —डा० कस्तूरचन्द 'सुमन', श्री महावीर जी	२६
१०.	परिग्रह मोह में पंचव्रतों के नाम बदलाए —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	३०
११.	जरा सोचिए—सम्पादकीय	३२
१२.	भगवान महावीर प्रथम देशना—राजगृही आ०पृ० २	

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

भगवान महावीर प्रथम देशना स्मारक—राजगृही

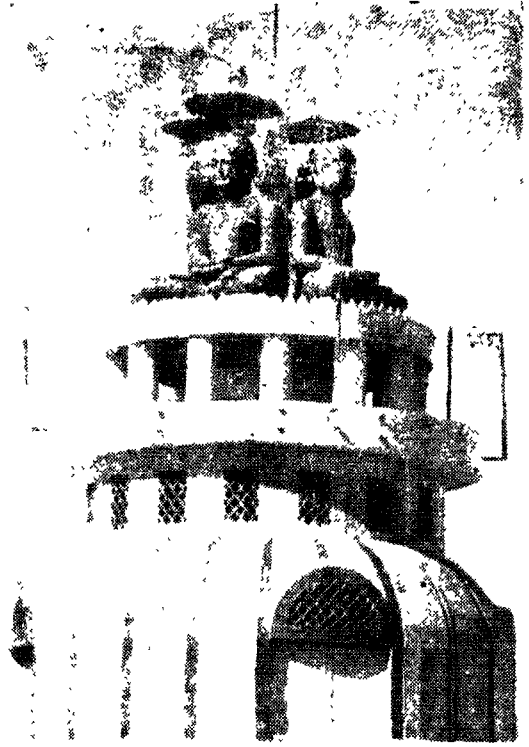
पटना से लगभग सौ किलोमीटर नालन्दा से लगभग १७ किलोमीटर दूर स्थित राजगृही एक ऐतिहासिक स्थल है। जिसे भगवान महावीर और गौतम बुद्ध ने अनेक बार अपने बिहार से पवित्र किया था। इसी नगरी में स्थित पाँच पहाड़ियों में से प्रथम पहाड़ी विपुलांचल पर्वत पर भगवान महावीर का पहला उपदेश हुआ था। इसी कारण विपुलांचल पर्वत विशेष रूप से जैनियों का अत्यन्त पवित्र स्थल बना हुआ है। यद्यपि कालान्तर में हिन्दू-मुसलमान, सिख आदि धर्मों का भी महत्व इस नगरी से जुड़ा गया और राजगृही सर्वधर्म समन्वय की नगरी बन गई। यहाँ हर साल देश-भर से लगभग एक लाख जैन और लगभग इतने ही अजैन तीर्थ-यात्री दर्शनार्थ आते हैं।

राजगृही पाँच पहाड़ियों के मध्य अवस्थित है। इसी कारण महाभारत के पूर्व में एवं हिन्दू पुराणों में इसे गिरी-व्रज कहा गया है। जैन पुराणों में बताया गया है कि श्री वासुपूज्य भगवान के अतिरिक्त तेईस तीर्थंकरों का समवशरण राजगृहमें ही हुआ था। बीसवे तीर्थंकर भगवान मुनि सुव्रतनाथ के गर्भ, जन्म तप और ज्ञान ये चारों कल्याणक इसी राजगृही में हुए थे। भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में महारजा श्रेणिक द्वारा किए गए साठ हजार प्रश्नों के उत्तर में रचे गए सैकड़ों ग्रन्थ इसी राजगीर से संबंधित हैं। अब हम इसे कथानकों का उद्गम स्थान भी कह सकते हैं। इस पंचकल्याणक में होने वाले द्वितीय केवली श्री सुधर्माचार्य का निर्वाण माघ सुदी सप्तमी के दिन राजगीर के विपुलांचल पर्वत पर ही हुआ था।

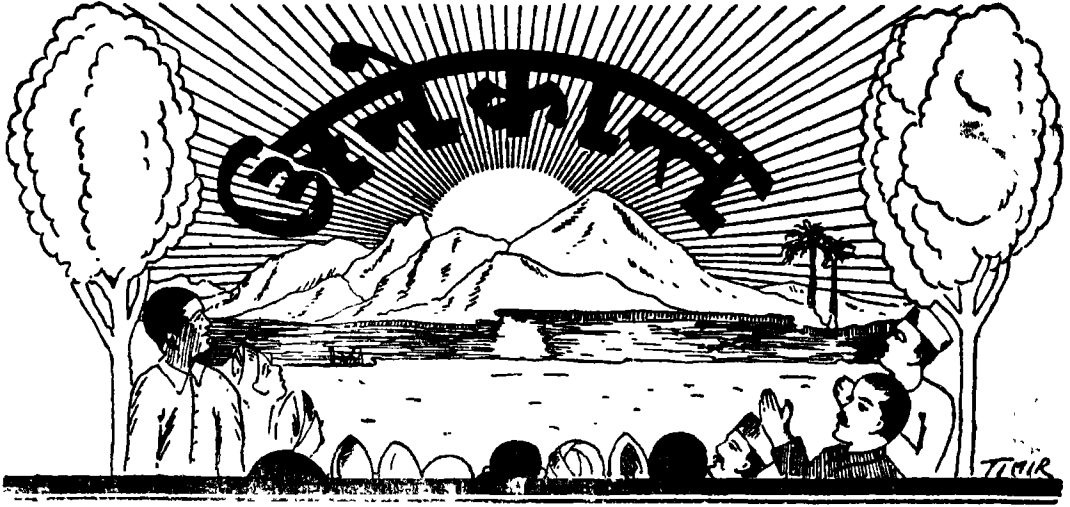
राजगीर को जैन हिन्दू बौद्ध सभी पवित्र मानते हैं। यहाँ गर्म पानी के स्वास्थ्यवर्द्धक झरने हैं जिनसे अर्हन्स उष्णजल प्रवाहित होता रहा है। इस गंधक युक्त जल से जनमानस की शारीरिक तथा मानसिक अशान्तियाँ दूर हो जाती हैं। शीत-ऋतु में हजारों रोगी स्त्री-पुरुष यहाँ जलवायु परिवर्तनार्थ आकर स्वास्थ्य लाभ करते हैं। इस गर्म पानी के झरनों तथा अपने शान्त और सुरभ्य प्राकृतिक वातावरण के चलते यह देश का ही नहीं बल्कि विश्व के पर्यटन स्थलों को मानचित्रों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

राजगीर में अनेक प्राचीन दर्शनीय स्थल हैं। प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेष प्राचीन मूर्तियाँ, आज्ञातशत्रु का किला स्वर्ण भण्डार गुफा आदि जैन ब्राह्मी कला, मन्दिर राजगीर (वीरायतन) देखने योग्य हैं। इसमें चौबीसों तीर्थंकरों पर दर्शाई गई झाकियाँ अति सुन्दर व मनोज्ञ हैं। अठारह लाख की लागत से राजगीर पर्वत पर रज्जू मार्ग बनाया गया। जिस पर १६० आदमी एक साथ आकाश मार्ग से ऊपर आ जा सकेंगे।

इस प्रकार इस तीर्थ क्षेत्र के महत्व को देखते हुए १९७४-७५ में भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव के समय समारोह के अध्यक्ष समाज सेवक साहू शांतिप्रसाद जैन के नेतृत्व में समाज ने यह निर्णय किया था कि विपुलांचल पर्वत पर भगवान महावीर के प्रथम उपदेश की स्मृति में एक भव्य स्मारक का निर्माण किया जाए। स्मारक के निर्माण का दायित्व साहू जैन ट्रस्ट को सौंपा गया। निर्माण का विशेष आकर्षण पहाड़ी पर खुले आकाश में अवस्थित चार मनोहारी पाँच-पाँच फुट ऊँची चतुर्भुजी पद्मासन प्रतिमाएँ हैं जो ७२ फुट ऊँचे इस स्मारक पर विराजमान हैं। इसकी रचना समवशरण के रूप में है। इसका निर्माण करते समय आध्यात्मिक वातावरण का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है। ऐसा लगता है कि जैसे भगवान का उपदेश चारों दिशाओं में प्रतिध्वनित हो रहा हो।



ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६
किरण १

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५११, वि० स० २०४२

{ जनवरी-मार्च
१९८६

आदिनाथ-जिन-स्तवन

कायोत्सर्गायिताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा
मध्याह्ने यस्य भास्वानुपरिपरिगतो राजतिस्मोप्रमूर्तिः ।
चक्रं कर्मन्धनानामतिबहु दहतादूरमोदाल्ख्यवात—
स्फूर्जत्सद्धानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः ॥१॥

—पद्मानन्दाचार्य

कायोत्सर्गं मुद्रा धरि वनमें ठाढ़े रिषभ रिद्धि तजि दीनी ।
निहिचन अंग मेरु है मानो दोऊ भूजा छोर जिनि दीनी ।
फँसे अनन्त जन्तु जग-चहले दुखी देख करुणा चित लीनी ।
काढ़न काज तिन्हें समरथ प्रभु, किधों बाँह ये दीरघ कीनी ॥

—सूघरदास

अर्थ—कायोत्सर्ग के निमित्त से जिनका शरीर लम्बायमान हो रहा है, ऐसे वे नाभिराय के पुत्र महात्मा आदिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त हों, जिनके ऊपर प्राप्त हुआ मध्याह्न (दोपहर) का तेजस्वी सूर्य ऐसा सुशोभित होता है मानो कर्म रूप ईन्धनों के समूह को अतिशय जलाने वाली एवं उदासीनता रूप वायु के निमित्त से प्रगट हुई समीचीन ध्यान रूपी अग्नि की दैदीप्यमान चिनगारी ही उन्नत हुई हो ।

विशेषार्थ—भगवान् आदिनाथ जिनेन्द्र की ध्यानावस्था में उनके ऊपर जो मध्याह्न काल का तेजस्वी सूर्य आता था उसके विषय में स्तुतिकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह सूर्य क्या था मानों समताभाव से आठ कर्मरूपी ईन्धन को जलाने के इच्छुक होकर भगवान् आदिनाथ जिनेन्द्र द्वारा किए जाने वाले ध्यानरूपी अग्नि का विस्फुलिंग ही उत्पन्न हुआ है ॥

परिग्रह की घुस पैठ में अहिंसा की लाक्षणिक हत्या

□ ले० पद्मचन्द्र शास्त्री

स्वामी समन्तभद्र जैन-दर्शन के ज्ञाता प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने श्रावकाचार के मंगलाचरण में तीर्थंकर वर्धमान को “निर्धूत-कलिलात्मने” रूप में नमस्कार किया है और “कैलिल” को श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने ज्ञानावरणादिरूप पाप कहा है*। इसी रत्नकरण्ड के दूसरे श्लोक में स्वामी समन्तभद्र ने इन्ही कर्मों के विनाशक धर्म के वर्णन की प्रतिज्ञा की है। तथाहि—“नमः श्री वर्धमानाय निर्धूत-कलिलात्मने” “देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्”—

उक्त प्रसंग से इतना तो स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्र की श्रद्धा आत्मा की परिग्रहातीत निर्मल दशा पर रही है। वे पाप/कर्म रहित निर्मल आत्मा को इष्ट मानते हैं। इनसे पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने भी वन्धरूप होने से कर्म-पर्याय मात्र को पाप कहा है। उन्होंने पुण्य-पाप में बंध की अपेक्षा भेद ही नहीं माना—दोनों को ही कुत्सित भाव कहा। वे कहते हैं—

“कम्ममसुह कुशील सुहकम्मं चावि जाणह कुशील।

वह त होइ सुशील ज ससार पवेसेदि ॥”—

—जैसे अशुभ कर्म कुशील है वैसे ही शुभ कर्म भी कुशील है। भला जो संसार में घुमाता हो—प्रवेश करता हो वह सुशील कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्र ने इन्ही कर्मों के निवर्हण—विनाश करने वाले मार्ग को धर्म कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि उक्त आचार्यों के मत में और समस्त जैन-दर्शन में धर्म वही है जो कर्मों से—परिग्रह से छुटकारा दिलाकर स्व-स्वभाव में स्थापित कराने वाला हो। अब यह विज्ञों का काम है कि वे ऐसे धर्म को पहचानें। इसी श्रावकाचार में आगे चल कर श्रावकाचार प्रसंग में धर्म की जो परिभाषा दी गई है उसमें उनकी कर्म निवर्हण वाली बात का पूर्ण पुष्टि होती

है—वहां वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को धर्म कहते हैं—
“सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धमेश्वराः विदुः।”

श्री उमा स्वामी महाराज सूत्र के प्रारम्भ में “सम्यग्-दर्शनज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः” द्वारा तीनों के एकत्व को मोक्षमार्ग बतलाते हैं जो मुनिपद में ही संभव है। आचार्य कुन्दकुन्द देव तो रत्नत्रय में भेद होने की बात पहले ही कह चुके हैं।

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य में एकत्व स्थापित हो और तीनों पृथक् न रहे यह मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् मार्ग है और पूर्ण अपरिग्रहत्व का यही रूप है जिसमें आत्मा पूर्णतया निर्मल होता है—श्रावकाचार तो मात्र अभ्यास दशा है। आचार्यों ने निर्मल आत्मा को रत्नत्रय रूप और पूर्ण अपरिग्रही घोषित किया है। क्योंकि परिग्रह में रत्नत्रय की पूर्णता नहीं और रत्नत्रय की पूर्णता के बिना आत्मा का शुद्धत्व भी नहीं। यतः—सम्यग्दर्शन आत्मानुभूति का नाम है और आत्मा की अनुभूति ज्ञानरूप होने से सम्यग्दर्शन से अभिन्न है तथा सम्यक्चारित्र्य आत्म-रमणरूप क्रिया होने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से अभिन्न है और यह अभिन्नता अपने में रहने पर ही संभव है। जब तक पर अर्थात् परिग्रह में प्रवेश की बात है तब तक रत्नत्रय की पूर्णता नहीं और तब तक मोक्ष भी नहीं। सि० चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य के कथनानुसार “रयणतय ण वट्टइ अप्पाण मुयतु अण्णदवियम्हि” और कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार “ताणि पुण जाण तिणिण वि अप्पाण चेव पिच्छयदो” और अमृतचन्द्राचार्य के अनुसार “दर्शन ज्ञान चारित्र्यैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्” सभी शुद्धात्मा रूप ही ठहरते हैं—पर अर्थात् परिग्रह के लेश से भी अछूते।

हम “पर” को परिग्रह कहते हैं चाहे वह पर किसी

रूप में ही क्यों न हो। यहां तक कि अपने में अपनेपन का विकल्प उठना भी परिग्रह है और इसीलिए मोक्षमार्ग में निर्विकल्प दशा को प्रमुख स्थान दिया गया है। यद्यपि “मूर्च्छा” को परिग्रह कहा है और व्यवहार में मूर्च्छा की ‘ममेदं’ यह मेरा है, ऐसी परिभाषा की गई है। पर, वास्तव में यहां पर आचार्य का भाव ममत्व (अपने पन) मात्र से संबंधित न होकर अधिक व्यापक रूप में है—इसमें ममत्व की भांति परत्व (परायेपन) जैसे अनेको भेद समाए हुए हैं। यदि ऐसा न हो और मात्र “यह मेरा है” से भिन्न, ऐसे भाव जिनमें मेरा पन नहीं है जैसे—किसी से घृणा करना, किसी को गाली देना, किसी को मार देना आदि पाप ममत्व की परिधि से निकल जायेंगे।—परिग्रह न कहलाएंगे। क्योंकि ये सभी भाव और कार्य ममत्व न होकर, उससे विपरीत घृणादि के ही फलित कार्य हैं और ममत्व से अधिक भयावह भी हैं। भला सोचिए, जब आचार्य ममत्व भाव को परिग्रह बतला रहे हैं तब घृणादि जैसे भाव अपरिग्रह होंगे क्या? अर्थात् नहीं हो सकेंगे। एतावता मानना होगा कि राग के साथ पर-प्रेरित घृणादि जैसे सभी भाव आत्मा को अहितकारक होने से “मूर्च्छा”—परिग्रह की श्रेणी में आते हैं।

इसी भांति जब हम अहिंसा के लक्षण की ओर दृष्टि-पान करते हैं तब वहां भी “अप्रादुर्भावः खलु रागादीना भवत्यहिंसेति” स्पष्ट लक्षण दिखाई देता है। इसका तात्पर्य ऐसा है कि जहां किंचित् भी रागादि भाव हैं, वहां हिंसा है (और वही मूर्च्छाभाव-परिग्रह है) जबकि लम्बे समय से अहिंसा के जनक अपरिग्रह की उपेक्षा कर रागादि पार-ग्रह जन्य करुणा, दया आदि जैसे भावों से फलित प्राण रक्षा को अहिंसा नाम दिया जा रहा है। हमारा ऐसा चलन कहां तक उचित है? विचार दृष्टि से तो ऐसा मालूम होता है कि हम जिनवाणी को माता मानकर भी उसकी अवहेलना कर रहे हैं और प्रमाद-परिहार रूप जैन की अहिंसा के सही रूप से दूर चले जा रहे हैं—अहिंसा की मूल व्याख्या को बदल रहे हैं। स्पष्ट है कि रागादिरूप विकल्प हुए बिना किसी जीव की प्राण रक्षा के भाव और तद्रूप कार्य दोनों ही न हो सकेंगे—उल्टे रागादि जैसे परिग्रह सर्वथा हिंसा ही होंगे।

यदि प्राण रक्षण रूप उक्त प्रसंग को हम अहिंसा का नाम न देकर “शुभ लेश्या” नाम दे दें तो सही बैठ जाता है। क्योंकि प्राण हनन और प्राण रक्षण दोनों स्थितियों में ही “कषायोदयानुरजित” योग प्रवृत्ति होती है जो लेश्या के लक्षण से पूर्ण भेल खा जाती है—प्राण हनन और प्राण रक्षण दोनों में ही कषाय और योग साथ चलते हैं। हनन और रक्षण में यदि कोई अन्तर है तो वह अन्तर मात्र अशुभ और शुभ लेश्या रूपों में ही है। जबकि अहिंसा में रागादिकषाय और योग जाति का सर्वथा अभाव है—“अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।”—

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्यों ने जैसे प्राण व्यपरोपण को हिंसा कहा वैसे अहिंसा के लक्षण को प्राण रक्षण रूप में नहीं कहा। क्योंकि वे जानते थे कि—प्राण रक्षण विकल्पाधीन होने से प्रमाद के बिना सम्भव नहीं और प्रमाद परिग्रह है और परिग्रह हिंसा में कारण है। इसीलिए उन्होंने प्रमाद के अभाव को अहिंसा कहा। और उसे रक्षा करने आदि जैसे विकल्पों से नहीं जोड़ा। जैसा कि कालान्तर में जोड़ा जाने का प्रचलन चल पड़ा और लेश्याभाव के व्यवहार का सर्वथा लोप हो गया।

हनन और रक्षण से लेश्या की व्यवहारिकता कैसे मल खाती है इस विभिन्न आगम लक्षणों से स्पष्ट जाना जा सकता है। तथाहि—

कषायोदयरजिता योग प्रवृत्ति लेश्या।”

—राजवा० २/६

“कषायश्लेष प्रकर्षप्रकर्षयुक्ता योगवृत्तिर्लेश्या।”

—राजवा० ६/७

“कषायोदयतो योगप्रवृत्तिरूपदशिता।

—श्लोकवा० २/७/११

“जोगपउत्ती लेस्सा कसाय उदयानुरजिया होइ।”

गोम्मट० ४८६

“कषायोदयरजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकी-त्युच्यते।”

—सर्वा० २/६

“योगपरिणामो लेश्या।

योगस्तु त्रिविधोऽपि कर्मोदयजन्य एवं।”

अनुयोगद्वार पर हेमचन्द्रवृत्ति सूत्र १-२६

उपर्युक्त सभी लक्षण लेश्या के हैं और कषायोदयान-

(शेष पृ० ७ पर)

पुरुदेव चम्पू का आलोचनात्मक परिशीलन

□ डा० कपूरचन्द जैन

संस्कृत काव्य को गद्य-पद्य और मिश्र इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। मिश्र रचना शैली के प्राचीनतम उदाहरण वेदों के साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। पालि की जातकथाओं और प्राकृत की 'कुवलयमाला' प्रभृति ग्रन्थों में इस शैली के दर्शन होते हैं। संस्कृत नाटकों में तथा पंचतन्त्र हितोपदेश जैसी रचनाओं में गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है।

किन्तु यहां गद्य तथा पद्य का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। यहां कलात्मक भाग गद्य में और उमका सार या उपदेश भाग पद्य में ग्रथित रहा। जब गद्य तथा पद्य दोनों में ही उत्कृष्टता, प्रौढ़ता और कलात्मकता आने लगी तब नवगुणानुरागी कवियों ने सम्मिलित प्रौढ़ गद्य और पद्य की कसौटी पर अपने आपको परखा, फलतः अनेक कवियों ने गद्य की अर्थगंभीरता व पद्य की रागमयता में समन्वित गद्य-पद्य मिश्रित काव्यों की रचना की। कालान्तर में यही प्रौढ़ गद्य-पद्यमयी विधा 'चम्पू' नाम से अभिहित हुई।

सर्वप्रथम दण्डी ने काव्यदर्श में गद्य-पद्यमयी काचित् चम्पूरित्यभिधीयते यह चम्पू की परिभाषा प्रस्तुत की। दण्डी का समय आलोचकों ने सातवीं शती स्वीकार किया है, जिससे इस अनुमान को पर्याप्त अवकाश मिलता है कि इससे पूर्व भी चम्पू रचनाएं रही होंगी, जो आज भी काल के गर्ते में पड़ी अन्वेषकों की बाट जोह रही है।

महाकवि हरिचन्द्र ने लिखा है कि गद्यावली और पद्यावली दोनों ही, पृथक्-पृथक् प्रमोद उत्पन्न करती हैं। फिर दोनों से समन्वित रचना तो बाल्य और तारुण्य से युक्त कान्सा की भांति अताल्लादक होगी, इसमें संशय नहीं और हुआ भी यही, दशवीं शती से ही यह शैली अत्यन्त

लोकप्रिय हुई, फलतः लगभग एक सहस्र वर्षों में विपुल चम्पू काव्यों का सृजन हुआ। डा० छविनाथ त्रिपाठी ने चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन ग्रंथ में लगभग २५० चम्पू काव्यों की सूची दी है।

जैन चम्पू काव्यों में 'सोमदेव का यशस्तिलक' हरिचन्द्र का 'जीवन्धर' और अर्हदास का 'पुरुदेवचम्पू' अत्यन्त प्रसिद्ध चम्पूकाव्य हैं। उन्नीसवीं और बीसवीं शती में भी जैन चम्पूकाव्यों का सृजन हुआ, जिसमें मुनि श्री ज्ञानसागर महाराज का 'दयोदय चम्पू' और श्री परमानन्द पाण्डेय का 'महावीर तीर्थंकर चम्पू' उल्लेखनीय कृतियां हैं। अभी हाल में श्री मूलचन्द शास्त्री ने 'वर्धमान चम्पू' की रचना की है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होकर विद्वत् समाज के समक्ष जा रहा है। इनके अतिरिक्त 'पुण्याश्रव-चम्पू', 'भरतेश्वराभ्युदय चम्पू', 'जैनाचार्यविजय चम्पू' आदि सुन्दर जैनचम्पू काव्य हैं। जैनचम्पू काव्यों की इस परम्परा में महाकवि अर्हदास का नाम अत्यन्त सम्मान और आदर के साथ लिया जाता है।

महाकवि अर्हदास की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं। 'मुनिसुव्रतकाव्य' में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का चरित्र चित्रित है, इसमें दस सर्ग हैं और कथावस्तु उत्तर-पुराण से ली गई है। स्वयं कवि ने इसे 'काव्यरत्न' कहा है। दूसरा काव्य 'भव्यजनकण्ठाभरण' है, जो सचमुच ही भव्य जीनों द्वारा कंठ में आभरण रूप से धारण करने योग्य है। इसमें दो सौ बयालीस पद्य हैं, जिनमें अर्हदास ने देव-शास्त्र-गुरु और सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र्य का स्वरूप निबद्ध किया है।

अर्हदास का तीसरा काव्य 'पुरुदेवचम्पू' काव्य है।

इसमें प्रथम तीर्थंकर वृषभनाथ, आदिनाथ या पुरुदेव का चरित्र अंकित है।

तीर्थंकर वृषभनाथ का चरित्र अनेक जैन पुराणों और काव्यों में गुंथा हुआ है, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी ही नहीं कन्नड जैसी दक्षिण भारतीय भाषाओं के कवियों ने भी उनके इतिवृत्त को लिखकर अपने आपको गौरवान्वित किया है। वैदिक साहित्य में ऋषभदेव का उल्लेख बहुवचनित रहा है और वैदिक परम्परा में उन्हें आठवाँ अवतार मानकर वैदिक एवं श्रमण संस्कृतियों के सह अस्तित्व का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

मानव जाति के समुन्नयन में जिन महापुरुषों का प्रमुख योगदान रहा है, उनमें तीर्थंकर ऋषभदेव अग्रगण्य है। वे आद्य कर्मोपदेष्टा और प्रथम तीर्थंकर हैं, जिनकी विचारधारा एवं चिन्तन का मानव-जीवन पर स्थाई प्रभाव पड़ा है। ऐसे महापुरुष के चरित्र को अपना वर्णन-विषय बनाने वाला काव्य निश्चय ही उपादेय है।

पुरुदेवचम्पू के गद्य पद्य दोनों ही प्राञ्जल तथा प्रौढ रूप में रचे गये हैं, यह कालिदास, हरिचन्द्र, वाणभट्ट जैसे महाकवियों की कृतियों से प्रभावित और तुलनीय है। इसकी कथावस्तु दस स्तवकों में विभक्त है। आरम्भिक तीन स्तवकों में ऋषभदेव के पूर्वजों का विषय वर्णन है, शेष में ऋषभदेव व उनके पुत्र भरत और बाहुबली का चरित्र चित्रित है।

इसका कथाभाग अत्यधिक रोचक है, जिस पर अर्हंदास की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सम्पृक्त नई-नई कल्पनाओं तथा श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारों के पुट ने इसके सौन्दर्य को और अधिक वृद्धिगत कर दिया है।

इतना होने पर भी आधुनिक शोध की दृष्टि से यह ग्रन्थरत्न उपेक्षित ही रहा। इस पर लिखे गये शोधनिबन्धों की संख्या भी नगण्य ही है। यतः इस विषय पर शोध की महती आवश्यकता स्पष्ट है, अतः मैंने इस ग्रंथ का आलोचनात्मक रूप से परीक्षण करने का निश्चय किया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को नौ परिच्छेदों में विभक्त किया गया है, जिनमें साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, कथात्मक एवं चरित्रात्मक दृष्टि से सर्वांग विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। परिच्छेदगत सारांश निम्न प्रकार है—

प्रथम परिच्छेद में महाकवि अर्हंदास के व्यक्तित्व का आकलन करते हुए यह निश्चय किया गया है कि वह वेद पुराणों के अप्रतिम अध्येता थे। वे जन्म पर्यन्त गृहस्थ ही रहे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे आशाधर के पास पहुँचे और उनके 'धर्मावृत' से प्रभावित होकर काव्य रचना में संलग्न हुए। उनका समय आशाधर और अलंकार-चिन्तामणि के कर्ता अजितसैन के मध्य ठहरता है। अतः अर्हंदास ने आशाधर का उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ अपनी कृतियों में किया है और अलंकार चिन्तामणि में मुनिसुव्रतकाव्य के श्लोक उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं। अतः इन दोनों के मध्य अर्हंदास का समय तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।

आगे आलोच्य ग्रंथ की स्तवकानुसार संक्षिप्त कथावस्तु प्रस्तुत की गई है। कथावस्तु के मूल श्रोत पर विचारकर यह निश्चय किया गया है कि उन्होंने जिनसेन कृत आदि-पुराण से पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु ग्रहण की है। और उसमें नाम मात्र के परिवर्तन, परिवर्द्धन किये हैं।

द्वितीय परिच्छेद में काव्य-स्वरूप की सामान्य चर्चा की गई है। काव्य के भेद बताते हुए चम्पू शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है। विभिन्न चम्पू-परिभाषाएँ देकर अन्त में कहा गया है कि यद्यपि चम्पू की निष्पक्ष और पूर्ण परिभाषा देना अत्यन्त कठिन कार्य है तथापि 'गद्य पद्य.....' इत्यादि डा० त्रिपाठी की परिभाषा को उचित कहा जा सकता है। आगे चम्पू काव्य की चर्चा कर जैनचम्पूकाव्यों की परम्परा का उल्लेख किया गया है तथा यशस्तिलक, जीवनधर दयोदय तथा महावीर तीर्थंकर, वर्धमान, पुण्याश्रव, भारत, भरतेश्वराभ्युदय, जैनाचार्यविजय आदि चम्पूकाव्यों का परिचय दिया गया है।

यद्यपि संख्या की दृष्टि से अत्यल्प ही जैनचम्पूकाव्यों का सृजन हुआ, पर गुणवत्ता की दृष्टि से जैनचम्पूकाव्य पीछे नहीं है। सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू काव्यों का मेह है। जीवनधरचंपू, जहाँ कथावस्तु की दृष्टि से अपनी समानता नहीं रखता, वहीं पुरुदेवचंपू श्लेष की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण चंपूकाव्य है। दयोदचंपू आधुनिक शैली पर लिखे जाने से स्वतः ही हृदयग्राही बन पड़ा है। महावीर तीर्थंकरचंपू चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन करने से

निश्चय ही उपादेय है। अन्य चंपू भी महत्वपूर्ण चम्पू काव्य है।

तृतीय परिच्छेद में पुरुदेवचंपू का काव्यात्मक अनुशीलन किया गया है। इस दृष्टि से इस काव्य में वर्णित रस, गुण, रीति, छन्द एवं अलंकारों का अध्ययन प्रस्तुत है।

इस काव्य का अंगीरम शान्त है। आरम्भ के तीन स्तवकों में जगह-जगह संसार की असारता और उस असारता से विभिन्न पात्रों को दीक्षा लेकर वन में तपस्या करते हुए दिखाया गया है। आगे भी नायक ऋषभदेव को हम संसार की असारता का चिन्तन करके विरक्त होते हुए देखते हैं। अन्यरसों में श्रीमती मरूदेवी आदि के चित्रण में शृंगार का, ललितांग के अवसान पर तथा युद्ध आदि में करुण का सैन्य प्रमाण तथा युद्ध में रौद्र और वीभत्स का सुन्दर परिपाक हुआ है।

पुरुदेवचंपू का प्रधान रस शान्त होने से उसमें माधुर्य गुण की मधुरता यत्र-तत्र विद्यमान है। साथ ही बज्रवन्त और भरत की दिग्विजय-यात्रा-प्रसंगों, भरत-बाहुबलियुद्ध-सन्दर्भों में ओजमयी भाषा भी कम आकर्षित नहीं करती और प्रसाद की प्रासादिकता भी सहृदयों को बलात् आकृष्ट करती है। अर्हंदास ने रस एवं भाव के अनुसार ही उक्त तीनों गुणों, छन्दों और अलंकारों का प्रयोग किया है।

चतुर्थ परिच्छेद में कथातत्व का निरूपण किया गया है। जब कोई घटना या विचार किसी कथानक में बार-बार प्रयुक्त होता है तो उसे कथानकरुद्धि कहा जाता है। पुरुदेवचंपू की कथावस्तु पौराणिक है। अतएव अनेक पौराणिक कथा-रुद्धियां यहां जल्लिखित हैं। अनेक कार्यों के एक साथ उपस्थित होने पर धर्म कार्य को प्रमुखता दिया जाना नष्ट होती आयु, बन्द होते कमल में भौरे की देखना, सफेद बाल, विलीन हुए बादल को देखकर दीक्षा लेना आदि कथारुद्धियां यहां वर्णित हैं। कुछ 'प्रकरो' कथायें भी इस काव्य में आई हैं जिनका अलग-अलग विश्लेषण यहां किया गया है। धार्मिक काव्य होते हुए भी कहीं-कहीं अर्हंदास शृंगारिकता में कण्ठ निमग्न हो गये हैं। लोकमंगल, उपदेशात्मकता, अद्भुत तत्वों का समन्वय, कुतूहलवृत्ति और उदात्तीकरण की भावना इस काव्य में दिखाई देती है।

पंचम परिच्छेद में पुरुदेवचंपू के पात्रों का तुलनात्मक

अनुशीलन किया गया गया है। किसी भी महान पुरुष के वर्तमान का सही मूल्यांकन करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि को देखना आवश्यक है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि आज के महापुरुष की महत्ता कोई आकस्मिक घटना नहीं, अपितु जन्म जन्मान्तरों में की गई उसकी साधना का ही परिणाम है। अतः पूर्वभवों का वर्णन उपयोगी है। पुरुदेवचंपू के सभी प्रमुख पात्रों का अलग-अलग पूर्वभव वर्णन इस परिच्छेद में किया गया है।

ऋषभदेव का मानवीय सस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनका व्यक्तित्व इतना विराट है कि वह किसी सम्प्रदाय, जाति, देश अथवा काल की सीमा में आवद्ध नहीं किया जा सकता है। प्राकृत भाषा में 'सूत्र-कृतांग', स्थानांग', 'समवायांग', 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' 'जम्बू-दीपपण्णत्ति', तिलोपपण्णत्ति, चउपन्नमहापुरिसचरिय आदि ग्रन्थों में तथा महापुराण आदि अपभ्रंश ग्रन्थों में उनका चरित्र वर्णित है। सस्कृत का महापुराण तो ऋषभचरित का आकर ग्रन्थ है।

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उनकी स्तुति की गई है। लगभग सभी पुराणों में जताया गया है कि नाभि के पुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में ऋषभदेव का चरित्र विस्तार से वर्णित है।

कन्नड साहित्य के आदिपुराण, जिनराजस्तव त्रिषष्टि-लक्षण महापुराण, भरतेशवैभव आदि ग्रन्थों में ऋषभदेव वर्णित है। ऋषभदेव विषयिक जैन मान्यताओं में उनके जन्म, वंश, पारिवारिक जीवन, विद्याओं का उपदेश वर्ण-व्यवस्था, प्रवज्या ग्रहण, तपश्चरण, समवसरण, निर्वाण आदि विषयों पर विचार किया गया है।

चक्रवर्ती भरत भारतीय इतिहास के प्रतापशाली राजा हैं, जिनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। जैन साहित्य में भरत और बाहुबलि के युद्ध का विस्तृत चित्रण हुआ है। यहां उनके इस युग का तुलनात्मक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है।

छठे परिच्छेद में पुरुदेवचंपू का सांस्कृतिक विश्लेषण किया गया है। यहां भौगोलिक और सामाजिक दृष्टियों से उपलब्ध सामग्री का विपद विवेचन विवेचित है।

सप्तम परिच्छेद में राष्ट्रनीति और लोकाभ्युदय का विवेचन किया गया है। राजा प्रजा के अनुरंजन के लिए तत्पर थे। वे महायशस्वी और स्वाभिमान से परिपूर्ण थे। पुरुषदेवचम्पू में सापेक्ष राजाओं की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। ये अपने जीवनकाल में ही पुत्र को राज्य-भार सौंप देते हैं। भरत-बाहुबली प्रजानुरंजन के लिए सैन्य युद्ध न करके परस्पर में ही युद्ध करते हैं। राज्य का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता था। अवयस्क बालक को भी राज्य भार सौंप दिया जाता था। राज्य में मंत्रियों का सम्मान था सेनापति, पुरोहित और दूतों की व्यवस्था थी, प्रजा संतुष्ट थी और सर्वत्र सुख शान्ति थी।

आठवें परिच्छेद में कला और मनोरंजन का विवेचन किया गया है। जैन साहित्य में यद्यपि चौसठ और वहत्तर

कलाओं का बहुधा उल्लेख हुआ है, पर पुरुषदेवचम्पू में उनकी संख्या निश्चित नहीं बताई गई है। चित्रकला, नाट्य, संगीत-शास्त्र आदि का उल्लेख कर, कहा गया है कि ऋषभदेव ने अन्य पुत्रों को लोकोपयोगी कलाओं का उपदेश दिया।

उत्सवों में वर्षवृद्धिमहोत्सव, अभिषेकोत्सव, राज्याभिषेकोत्सव आदि उत्सवों तथा जल-क्रीड़ा, बनक्रीड़ा धूलि-क्रीड़ा आदि का वर्णन किया है।

नवम परिच्छेद में उपमहार करते हुए कहा गया है कि जैनचंपूकाव्यों के विकास में महाकवि अर्हदास का अवदान अनुपेक्षणीय है। अर्हदास की कृतियों ने संस्कृत साहित्य के विपुल भण्डार को नवीन रश्मियों का उपहार दिया है।

□ □

(पृ० ४ का शेषांश)

रंजित योग प्रवृत्ति से होने वाले प्राण हनन व प्राण रक्षण जैसे भावों और कार्यों से पूरा मेल खाते हैं। अन्तिम दो लक्षणों में तो लेश्या को ओदयिक भाव बतलाया जाने से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा जैसा औपशमिक, या क्षायोपशमिक भाव कषाय और योग जैसे ओदयिक भावों का कार्य नहीं हो सकता। जबकि कषाय और योग-जन्य प्राण रक्षण जैसे उपक्रम को अहिंसा माना जा रहा है और अहिंसा के मूल अप्रमाद (अपरिग्रह) से नाता तोड़ा जा रहा है—परिग्रह की बढवारी की जा रही है।

हा, कदाचित् यदि आचार्य रागादिक के अप्रादुर्भाव को अहिंसा का लक्षण घोषित न करते और हिंसा के लक्षण में प्रमाद के योग को कारण न मानते मात्र प्राण-हनन को हिंसा का लक्षण घोषित करते, तो हम ऐसा मान सकते थे कि जैसे मात्र प्राण-हनन हिंसा है वैसे प्राण-रक्षण भी अहिंसा है। पर, आचार्य ने ऐसा नहीं किया और सभी पापों में प्रमाद को प्रमुखता दी। अतः यह आवश्यक है कि हम पापों के त्याग के पूर्व पापों के कारण भूत प्रमाद - परिग्रह का त्याग करें तथा कषाय और योग जन्य भाव और कार्यों को शुभ और अशुभ लेश्याओं के

रूप में स्वीकार करें। यतः—सभी सविकल्प अवस्थाओं में रागादिक के अंश विद्यमान है—पाप-पुण्य का पूर्ण परिहार तो निविकल्प—प्रमादातीत वीतराग अवस्था में ही है, जो जैन धर्म को इष्ट है।

हम एक निवेदन और कर दें—अपरिग्रह को मूल मानकर हमने जो शास्त्रीय तथ्य उजागर किए हैं वे भले ही दया, करुणा और दान आदि के आदान-प्रदान के छलावे से यश एवं परिग्रह-अर्जन में लगे लोगों को पसन्द न आयें—वे इसका विरोध करें, पर, हमें सतोष है कि प्रबुद्धों ने उन तथ्यों को स्वीकार कर जैन धर्म और जिन-वाणी की रक्षा को समर्थन दिया है। हमारे पास समर्थन में बहुत से पत्र आए हैं, हम सभी का स्वागत करते हैं। यदि कोई समझें और समार्ग पर आयें तो हमें उनका स्वागत करने में भी हर्ष होगा—जिन्होंने परिग्रह की लालसा में जैन के मूल - अपरिग्रह की उपेक्षा के लिए, मिथ्या व प्रच्छन्नरूप से लेश्या के लक्षण को अहिंसा के लक्षण में फलितकर कुशील (कुस्वभाव) का परिचय दिया—पाँचों पापों की वढवागी की और जो अब प्रायश्चित्त के सन्मुख हों; अस्तु, 'सर्वे भवन्तु जैनाः।'।

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज नई दिल्ली-२

गतांक से आगे :

अपभ्रंश साहित्य की एक अप्रकाशित कृति : पुष्पासवकहा

□ डा० राजाराम जैन, आरा

‘पुष्पासवकहा’ की आद्य प्रशस्ति के अनुसार महाकवि रङ्ग ने प्रस्तुत ग्रन्थ भट्टारक कमलकीर्ति की प्रेरणा से लिखा है। वे कहते हैं कि हे कवि रङ्ग—तुम व्यर्थ में समय क्यों गँवा रहे हो ? कवित्व विनोद के साथ ही समय व्यतीत करना चाहिए। अतः तुम विशाल ‘पुष्पासवकहा’ की रचना करो। क्योंकि पुष्पाश्रव से ही सुखसिद्धि होती है, उसके बिना मनुष्यभव दुर्लभ है। ससार में रहकर विद्वानों को ऐसे ही कार्य करना चाहिए जिससे शुभ भावों का प्रवर्तन होता रहे। कवि ने लिखा है :—

एकहि दिखि धम्माएसु दिण्णु ।

भो बुह किं वासरु गमहि सुण्णु ॥

सकइत्त विणोएँ जाउ कालु ।

पुष्पासउ बिरयहि जणि विसालु ॥

पुष्पासवेण सुहसिद्धि होइ ।

ति विणु माणुस भउ विहलु लइ ॥

सुहभाउ पवट्टइ जेण जेण ।

तं त कायव्वउ इह बुहेण ॥

पुष्पासव १।२।४-७

कवि यद्यपि इस कार्य को श्रमसाध्य मानता है, फिर भी उक्त भट्टारक के आदेश से वह ग्रन्थ रचना में अग्रसर होता है।

उक्त भट्टारक कमलकीर्ति के विषय में मैं अन्यत्र प्रकाश डाल चुका हूँ। अतः यहाँ संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है कि महाकवि रङ्ग ने इन्हें अपना प्रेरक गुरु माना है और अपनी अन्य रचनाओं—अरिट्टनेमि चरिउ, जसहर चरिउ प्रभृति ग्रन्थों में भी उनकी चर्चा की है। उनका समय कई प्रमाणों के आधार पर वि० सं० १५०६ से १५४५ के मध्य निश्चित होता है।

अश्रयदाता—

उक्त ग्रन्थ प्रशस्ति के अनुसार यह रचना महाकवि रङ्ग ने साहू नेमदास के आश्रय में रहकर लिखी है। साहू नेमदास के विषय में कवि ने लिखा है कि उसके पूर्वज योगिनीपुर के निवासी थे। यह वंश साहित्य सेवा को अपना महान् धर्म एवं समाज सेवा को अपना पुनीत कर्तव्य समझता रहा है।

साहू नेमदास के विषय में कवि ने लिखा है कि वह अपने समकालीन राजा रुद्रप्रताप चौहान द्वारा सम्मानित था तथा व्यापार कार्यों में अग्रसर। उसने हीरा, मोती, माणिक्य विद्रुम आदि की कई जिन-प्रतिमाओं का निर्माण कराकर तथा उनकी प्रतिष्ठा कराकर तीर्थेश गोत्र का वंश किया था। पुण्य कार्यों से अपनी ऐसी उज्ज्वल महिमा बनाई थी कि उसके सम्मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा की ज्योति भी मलिन होती हुई प्रतीत होती थी। उसने अनेक जिन-भवन बनवाए। बुधजनों के लिए तो वह चिन्तामणि रत्न ही था। उसने अपने व्यवहार से शत्रुओं को भी अपना मित्र बना लिया था। कवि ने कहा है :—

.....जसमरणिवासु ।

संघाहिव णोमि णेमिदास ॥

अग्गेसरु णिव वावार कज्जि ।

सुमहंत पुरिम पहुद्धरज्जि ॥

जिणाबिब अणेय विमुद्ध वोह ।

णिम्माविवि दुगइं पर्हाणरोह ॥

सुपइट्ट कराविवि सुहमणेण ।

तिच्छेसमोत्तु बंधियउ जेण ॥

पुणु सुर विमाणुस मुसिहव्वेउ ।

णिय पहुकर पिहियउ चंदतेउ ॥

काराबिड जि जिणपाह भवणु ।

मिच्छामय मोहकसाय समणु ॥

बुद्धियण चित्तमणि जसमयं कु ।

वंदियण विद थुउ खल असंकु ॥

पुष्पासव० १।५।६-१२

एक बार अवसर पाकर साहू नेमदास ने रइधू से प्रार्थना की कि “हे रइधू कवि तुम मेरे परम हितैषी हो, तुम्हारी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान है, तुम्हारे वचनामृत का पान करने से मेरे प्राण तृप्त हो जाते हैं। मेरे कथन से तुमने मेरे प्रतिष्ठा कार्यों को सम्पन्न कराया है। तुम्हारे आदेश से मैंने याचक जनो को यथेच्छ दान दिया है। तुम्हारे ही आदेश से मैंने जिन बिहार करवाया है। जब मेरी एक और इच्छा है कि तुम मेरे निमित्त से ‘पुष्पासवकहा’ नामक ग्रन्थ की रचना कर मुझे अनुग्रहीत करो जिससे मैं अपने जीवन को शाश्वत सुख-प्राप्ति की ओर मोड़ सकूँ।” यथा—

भो रइधूवुह वडिठ पमोय ।

तुम्हहं पसाएं महु विणि लोय ॥

संसिद्ध जाय तुहु परम मित्तु ।

तउ वयणासिय पाणेण त्तिषु ॥

पइकिय पइट्ट महु सुहमणेण ।

जाचय पूरिय धण कंचणेण ॥

उरणु तुव उवएसैं जिणविहार ।

कारा विउ मई दुरिया वहारू ॥

पइहोति वंछिय रायल पुण्णु ।

एक्कजिज चिता वट्टइ पसण्ण ॥

तुहु सकइत्तण फल कामधेणु ।

महु साणु रायमाणु पुथु अरेणु ॥

पइ विरइयाइं णाणा पुराण ।

सिद्धंतायम जुत्ति पहाण ॥

पुष्पासउ हउ वयणाउं तुज्झु ।

सो हउं वंछमि इयचित्त मज्झु ॥

सकयत्तें थप्पहि मज्झुणामु ।

जिह होइ अयलु सासउ सधामु ॥

पुष्पासव० १।६।८-१६

साहू नेमदास के इस प्रकार के आग्रह करने पर कवि ग्रन्थ की रचना आरम्भ कर देता है :—

.....पुष्पासव विरयणि पुण्णु होइ ।

तुव जसु विच्छारमि एच्छुलोइ ॥

पुष्पासव० १।६।२४

कवि रइधू साहू नेमदास के स्वभाव एवं चरित्र से इतना अधिक प्रभावित था कि उसने अपने ‘पुष्पासवकहा’ की प्रत्येक सन्धि के अन्त में विविध छन्द वाले संस्कृत श्लोकों में उसका गुणगान कर उसे आशीर्वाद दिया है। उन श्लोकों एवं पुष्पासवकहा की विस्तृत आदि एवं अन्त की प्रशस्ति को देखने से यह विदित होता है कि साहू नेमदास पद्मावती पुरवाल जाति के थे। उनके पूर्वज योगिनीपुर छोड़कर कालिन्दी के तीर पर बसे हुए चन्द्रवाड नामक नगर में आकर वस गये थे।

रइधू ने नेमदास की छह पीढ़ियों तक का विस्तृत वर्णन किया है और प्रसंगवश कई महत्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं। इनमें से दो सूचनाएं बड़ी ही रोचक हैं। प्रथम तो यह है कि नेमदास के पुत्र ऋषिराम को उस समय पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई जब वे स्वयं निर्मित जिनविम्ब की प्रतिष्ठा के समय उस पर तिलक निकाल रहे थे। अतः उसी उपलक्ष्य में साहू ने अपने उम नवोत्पन्न पोते का नाम ‘तिलकू’ रख दिया। यथा :—

जसु जम्भागमि जिणवर बिबहं ।

तिलव पदिण्णउ दुरिय-णिसुमहं ॥

कुलहु तिलउ तिलकू ति वुत्तउ ।

पुष्पासव० १३।१।१३-१४

दूसरी मनोरञ्जक घटना यह है कि साहू नेमदास के दूसरे भाई साधारण को जब वीरदास नामक द्वितीय पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई तब उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक रइधू द्वारा विरचित ‘पुष्पासवकहा’ को हाथी पर प्रतिष्ठित करके बड़े ही समारोह के साथ नगर में घुमाया था।

जसु जम्पणि पुष्पासउसत्थो ।

हत्थि चडिउ पयडिउ परमत्थ ॥

पुष्पासव० १३।१।२

कवि द्वारा उक्त उल्लेख काफी महत्वपूर्ण है। इससे यह विदित होता है कि रइधू के समय में चन्द्रवाड नगर

में लोग साहित्यकारों एवं साहित्य कृतियों को सर्वोपरि समझते थे तथा साहित्य-सम्मान समाज एवं राज्य का सर्वश्रेष्ठ उत्सव माना जाता था।

अभी तक इसी प्रकार के दो सम्मान मुझे और पढ़ने को मिले हैं। दक्षिण भारत में कन्नड कवि विजयण्ण कृत 'द्वादशानुप्रेक्षा' नामक ग्रन्थ की समाप्ति पर कवि एवं उसकी कृति का गाजे-बाजे के साथ हाथी पर शानदार जुलूस निकालकर उसका सार्वजनिक सम्मान किया गया था। इसी प्रकार गोपाचल के कमलसिंह सघवी ने भी स्वयं के लिए लिखवाये हुए 'सम्मतगुणनिहाणकव्व' एवं उसके रचयिता महाकवि रङ्गू को उक्त रचना की परि-समाप्ति होते ही हाथी पर विराजमान कर गाजे-बाजे के साथ कवि एवं उसके काव्य की नगर परिक्रमा कराई थी। मध्यकालीन सामाजिक स्थिति के अध्ययन में इस प्रकार के उल्लेख अपना विशेष महत्व रखते हैं।

समकालीन राजा—

कवि रङ्गू ने अपने आश्रयदाता को राजा प्रतापरुद्र द्वारा सम्मानित कहा है। यह प्रतापरुद्र चौहानवंशी नरेश रामचन्द्र का पुत्र था। वह जैन धर्म एवं साहित्य का बड़ा प्रेमी था तथा उसने अपने मन्त्रिमण्डल में कई जैनो को मन्त्रिपद प्रदान किया था। इस विषय पर मैं अन्यत्र प्रकाश डाल चुका हूँ। कई सदस्यों के आधार पर राजा रुद्रप्रताप का समय वि० सं० १४६८ से १५२५ के मध्य ठहरता है।

ग्रन्थ-कर्ता रङ्गू—

प्रस्तुत ग्रन्थ—'पुण्णसवकहा' के कर्ता महाकवि रङ्गू के सम्बन्ध में अन्यत्र काफी प्रकाश डाल चुका हूँ। अतः यहाँ उसके विषय में विस्तृत चर्चा करना पुनरुक्ति मात्र ही होगी। फिर भी संक्षेप में इतनी जानकारी आवश्यक है कि वे गोपाचल या उसके आस-पास के ही निवासी थे। उनकी जाति पद्मावती पुरवाल थी। सरस्वती देवी ने उन्हें स्वप्न में कवि बनने का आदेश दिया था अतः उन्होंने इस दिशा में पर्याप्त अभ्यास किया और इस प्रकार सफल महाकवि बन गये।

रङ्गू की साहित्य-साधना का प्रमुख केन्द्र गोपाचल था। वहाँ के तोमरवंशी राजा ढुंगरसिंह एवं उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह ने उनकी कवित्व शक्ति से प्रभावित होकर राज्य में उन्हें काफी सम्मान दिया था तथा उनकी इच्छा-नुसार पिता-पुत्र दोनों ने ही गोपाचल-दुर्ग में लगभग तेतीस वर्षों तक लगातार जैनमूर्तियों का निर्माण कराया था। उत्तर-भारत की सर्वोन्नत ५७ फीट ऊँची आदिनाथ भगवान की प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा भी गोपाचल दुर्ग में उन्हीं के हाथों सम्पन्न हुई थी।

रङ्गू ने लगभग तीस ग्रन्थों की रचना की है जिसमें से २२ रचनाएँ अभी तक उपलब्ध हो चुकी हैं। उनमें से १६ रचनाएँ अपभ्रंश में, दो रचनाएँ प्राकृत में तथा एक रचना हिन्दी में है। कवि की अधिकांश रचनाएँ विशाल हैं। उसकी मेहेसरचरित, रिट्ठणेभिचरित, जिवधरचरित में ३-३ सौ से भी अधिक कड़वक हैं। अन्य अपभ्रंश रचनाएँ १०० से लेकर २५० कड़वको में हैं। इसी प्रकार इनकी एक प्राकृत रचना सिद्धन्तत्थसार लगभग २००० गाथा प्रमाण है। दो रचनाएँ अत्यन्त लघु हैं, जिनमें से एक में कुल १८ पद्य हैं तथा दूसरी हिन्दी रचना 'बारा-भावना' है, जिसकी पद्यसंख्या ३७ है।

कवि रङ्गू का यह साहित्य उत्तर मध्यकालीन भाषा साहित्य, इतिहास एवं संस्कृत आदि की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है। उसके प्रकाशन से कई नवीन तथ्य साहित्य जगत में अवतरित होंगे। प्रसन्नता का विषय है कि प्राकृत एवं अपभ्रंश के वरिष्ठ महारथी विद्वान प्रो० डा० एच० एल० जैन एवं प्रो० डा० ए० एन० उपाध्ये का ध्यान इन साहित्य की ओर आकर्षित हुआ है और उनकी प्रेरणा उन्हीं के निर्देशन में समग्र रङ्गू-साहित्य रङ्गू ग्रन्थावली के १५ भागों में यथाशीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है।

कई अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर महाकवि रङ्गू का समय वि० सं० १४४० से १५३० के मध्य सिद्ध होता है।

महाजन टोली नं० २

आरा (बिहार)

गतांक से आग :

पं० शिरोमणिदास कृत : 'धर्मसार सतसई'

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

अथ एकादश प्रतिमा वर्णन—

विषय सकल सों होइ उदास, समय सौ राखो शुभ आस ।
उदय प्रतिज्ञा दिन दिन काम,

प्रतिमा कहिए याको नाम ॥१०४॥

दोहा —आठ मूल गुण पालिके, व्यसन त्यागि जिनमानि ।

मल पच्चीस विवर्जि कै, दर्शन प्रतिमा जानि ॥१०५॥

पांच अणुव्रत पालिके, तीन गुणव्रत धारि ।

चउ शिक्षाव्रत मनधरौ, व्रत प्रतिमा यह सार ॥१०६॥

सामायिक तिहुंकाल करि, नियम सौ दृढचित्त ।

सामायिक प्रतिमा कही, यही जान तुम मित्र ॥१०७॥

दो आठे दो चौदसै, प्रोषध कर उत्कृष्ट ।

प्रोषध प्रतिमा यह कही, कहे वचन जिन इष्ट ॥१०८॥

सचित्त वस्तु सब त्यागि कै, पीवै प्रासुक नीर ।

सचित्त त्याग प्रतिमा कही, छोड़े हरि तजु धीर ॥१०९॥

चोपाई—दोय दंड दिन ऊगै जोलौ,

अरु पुनि होय रहै दिन तोलौ ।

तासों दिन कहिए प्रमाण,

भोजन स्नान करै विधि पान ॥११०॥

यातै रात अवर तुम जान,

भोजन सकल तजो हित मान ।

सूक्ष्म थूल मरै जीव जहां,

मृढ़ न जानै हिंसा तहां ॥१११॥

रात को नीर रुधिर सम होय,

अन्न मांस सम जानो लोय ।

भूत पिशाच जे रातें चलें,

जहं तहं आनि इकट्ठे मिलें ॥११२॥

जेंवत (खाते हुए) लोग देख ठहराय,

अन्न अपावन करै छिन मांहि ।

अशुचि वस्तु लै डारें घनी,

नीच स्वभाव निशाचर जनी ॥११३॥

पतंग अनेक परें अकुनाइ,

सूक्ष्म जीव को रहै बढ़ाय ।

यातें पाप अवर नही कोय,

महा पाप तुम जानो लोय ॥११४॥

जहां वस्तु देखी नही जाय,

सो पुन रात कही समुझाय ।

रसोई रात को त्यागै ब्रती,

यातें दोष न लागै रति (रत्ती) ॥११५॥

दिवसं पुनि छोड़े निज नारि,

सो निशि प्रतिमा कही सुधारि ।

इह विधि रात्रि भुक्ति जो तजै,

षष्ठम प्रतिमा तासों भजै ॥११६॥

निज पर नारी तजै जब ब्रती,

नवधा शील धरै शुभ मती ।

सुगन्ध तेल भूषण शृंगार,

मनोज्ञ वस्तु तजि मिष्ट अहार ॥११७॥

तुच्छ अहार करै तजि भोग,

प्रत्याख्यान लेइ नित जोग ।

ब्रह्मचर्य यह प्रतिमा कही,

जो पालै सो श्रावक सही ॥११८॥

हिंसा कर्म सकल आरम्भ,

विवाह वणिज सब छोड़ै दंभ ।

काट नखन नही अग्नि विराधै,

वस्त्र धोय नही आयुध बांधै ॥११९॥

पशु जीव राख न मन्दिर रचै,

अस्त्र न नित्य नही तिलकहि रचै ॥

पत्र फूल फल लेय न हाथ,
वाहन चढ़े न चाहै साथ ॥१२०॥
जंत्र मंत्र नहीं साधं घने,
बैद्यक ज्योतिष धातु सब मनै ।
इह विधि क्रिया भव्य जो चले,
आठवों प्रतिमा तासौ पलै ॥१२१॥
दश विधि उपधा बाह्य जु छाड़ै,
भोग उपभोग तजि इन्द्रियन डाड़ै ।
कटि कोपीन वस्त्र इक धरइ,
नवमी प्रतिमा जिनवर कहइ ॥१२२॥
विक्रया चार तजै उपदेश,
हारि जीति मन धरै न लेश ।
हिंसा कर्म वचन नहीं भासै,
क्षमा भाव सबही सो राखै ॥१२३॥
मोह काम तजि मान निवारि,
क्रोध, लोभ, माया, मद जारि ।
इह विधि क्रिया चढ़ै गुणवत,
प्रतिमा दशमी लहै तुरन्त ॥१२४॥
माटी काठ को पात्र जु लोइ,
शौच हैतु पुनि राखे सोइ ।
पीछी जीव दया हित लेइ,
दृष्टि देखु धरनी पगु देइ ॥१२५॥
कटि कोपीन लुचि विधि पूरी,
तजि ग्रह वास तपस्या सूरौ ।
पाणि पात्र भोजन शुभ करै,
पच धरा फिर नियामा धरै ॥१२६॥
अस्थि चर्म जीव वध जो देखे,
मांस रुधिररी दुर्गंधा पेखै ।
प्रत्याख्यान क्षीण होय तहां,
अंतराय पुनि मानै जहां ॥१२७॥
इह विधि क्रिया चले आचार,
सो एकादश प्रतिमा धार ।
ये प्रतिमा सक्षेप बखानि,
कहैं शिरोमणि सुनि जिनवर बाणी ॥१२८॥
षट् प्रतिमा लौ होइ जघन्य,
सातै, आठै मध्यम गन्य ।

प्रतिमा दशमी ग्यारहमी जानि,
उत्तम श्रावक कहौ बखानि ॥१२९॥
॥ इति एकादश प्रतिमा ॥

अथ पात्र वर्णन—

प्रथम पात्र पुनि दान विचारी,
पुनि विधि कहौ सुनो हितकारी ।
यथाख्यात चारित्र को धारी,
सो मुनि महापात्र गुणधारी ॥१३०॥
अभ्यतर बाहिज (बाह्य) तप शुद्ध,
वनवासी तप चारी बुद्ध ।
वीस चार उपधी कौ त्यागी,
देह भोग संसार विरागी ॥१३१॥
अष्टावीस मूल गुण पालै,
सहै परीसह चित्त न चालै ।
छटै सातै गुणधानै रहै,
उत्कृष्ट पात्र श्री जिनवर कहै ॥१३२॥
एकादश प्रतिमा जु कही,
श्रावक पालै मन वच सही ।
पंचम गुण स्थान चढ़ै गुणवत,
मध्यम पात्र सो होय तुरन्त ॥१३३॥
दया क्रिया नहीं पालै रंच,
इन्द्रिय मन पुनि करै न खंच ।
है केवल दृढ़ता जिनवाणी,
श्रद्धा भक्ति करै गुण जानी ॥१३४॥
मिथ्यात्व सकल छोडै निज हेतु,
समकित गुण सौ धरै सुचेत ।
चढ़ि चौथी गुण थानै धीर,
जघन्य पात्र सो जानो बीर ॥१३५॥
समकित भेद न जानै जो लौं,
कोटिक व्रत तप करइ जु तोलौं ।
बंध मोक्ष को भेद न पावै,
सो कुपात्र यह तुरत कहावै ॥१३६॥
व्रत आचार कछु नहीं करै,
समकित भाव न मन में धरै ।
महा मिथ्यात्वी विषयनि लीन,
तासौ अपात्र कहौ यह चीन्ह ॥१३७॥
॥ इति पात्र वर्णन ॥

अथ दान गुण दोष वर्णन—

बोह—दूषण पंचहु त्यागि कै, भूषण पंचहु वास ।

गुण सात हूं सुनि दान के, नव बिधि पुण्य प्रकास ॥१३८

अथ दूषण—

विलम्ब विमुख अप्रिय वचन, आदर चित्त न होय ।

देकरि पश्चाताप करि, दूषण पंचहु सोय ॥१३९

अथ भूषण—

आनंद आदर प्रिय वचन, जनम सफल निज मानि ।

निर्मल भाव जु अति करै, भूषण पंचहु जानि ॥१४०

अथ गुण—

श्रद्धा ज्ञान अलोभता, दया क्षमा निज शक्ति ।

दाता गुण ये सप्त कहि, करै भाव सौं भक्ति ॥१४१

अथ नव प्रकार पुण्य—

चौपाई—पात्रहि पढ़गाहै कर जोडि,

चक्र आसन जु धरै समोरि ।

चरण धोय बंदै तसु पाय,

पुनि सो विधि सो पूज कराय ॥१४२

मन वच काय रसोई शुद्ध,

नव विधि पुण्य कहो सुनि बुद्ध ।

पुनि सुनि मल चउदह दुखदाई,

ए पुनि दान न दीजै भाई ॥१४३

अथ चउदह मल वर्णन—

कंद मूल फल हरित जु होय,

पान फूल बहुबीजा सोय ।

मांस रुधिर जो सगति भयो,

रोम, चाम, जीव वध तह छयो ॥१४४

छांडहः स्वाद फफूडा लगै,

होइ दुर्गंध बहुत दिन पगै ।

ए चउदह मल वजित होय,

निर्मल दान कहावै सोय ॥१४५

अथ दान और फल वर्णन—

आहार दान दीजै शुभ पोष,

क्षीय ऋद्धि पुनि छोटे दोष ।

भव भव सुख मिलै अति धनै,

निर्मल देण सुभग द्युति बनै ॥१४६

ज्ञान दान दीजै शुभ सार,

उत्तम मति होय जातै सार ।

केवल ज्ञान लहै जग पूजा,

पुनि सो सिद्ध होय पद दूजा ॥१४७

औषधि दान देय जो ज्ञानी,

नीरोग देह सो पावहि प्राणी ।

दीरघ आयु मिलै शुभ काय,

कीरति है तिहुं जग में छाव ॥१४८

अभय दान सब जीवनि देय,

जातै इन्द्र चक्री पद लेय ।

बहुत भोग भुगतै सुख पाय,

पुनि सो होय मुक्ति पति राय ॥१४९

सूकर नौरा बांदर वाय,

कुरजी वए बहु दुखदाय ।

दान भाव जो मन में भयो,

छिन में भोग भूमि पद लियो ॥१५०

दोहा—जो नर उत्तम भाव सौ, पात्र दान शुभ देय ।

सो महिमा को गनि सकै, गणघर आपु कहैय ॥१५१

चौपाई—उत्तम पात्र त्याग फल जानि,

तज्ज्व मोक्ष होइ सुख खानि ।

कै फल भोग भूमि मे लहै,

तीन पल्ल की आयु जु कहै ॥१५२

तीन कोस देह ऊंचो होय,

महा सुगंध मल वजित सोय ।

देह दीप्ति दीसै प्रकाश,

चन्द्र सूर्य तहं करै न वास ॥१५३

ग्रीष्म, वर्षा, शीतु न जहां,

साम्य काल इक दीसै तहां ।

ठाकुर दास भाव नहीं जोग,

एक समान भुगतै सुख भोग ॥१५४

इति भीति चिंता नहीं शोक,

जरा, रजा, भव दोष न लोक ।

क्रोध लोभ माया मद नहीं,

पाप पुण्य नहीं जानै तहीं ॥१५५

दशविधि कल्पवृक्ष सुख देय,

जुगल रूप हरि बहु सुख लेय ।

तीन दिवस जब बीतै जबहीं,
 पुंगी (सुपारी) समान आहार ले तवही ॥१५६
 आलस निद्रा श्रम नहीं खेद,
 रात दिवस दीसै नहीं भेद ।
 मध्यम पात्र दान फल कहै,
 मध्यम भोग भूमि सुख लहै ॥१५७
 आयु पल्ल होय भुगतै जहां,
 कोस दोय देह है उन्नत तहां ।
 अवर भोग सब इह विधि सार,
 आरज भुगतै सुख अपार ॥१५८
 जघन्य पात्र दान फल जोग,
 पारहि जघन्य भूमि के भोग ।
 एक पल्ल तहं आयु जु होय,
 एक कोस तनु जानो सोय ॥१५९
 भाजन भूख न वस्त्र अहार,
 मन वांछित फल भुगतै सार ।
 इह विधि आयु सब पूरी करै,
 पुण्य तें देव लोक पद धरै ॥१६०
 ॥ इति तीन पात्रदान फल वर्णन ॥

अथ कुपात्र दान फल वर्णन—

नीच जाति जो तनु लहै,
 कुपात्र दान फल तासो कहै ।
 हाथी घोड़े दासी दास,
 देश कोस बहु सुख मे वास ॥१६१
 करहि पाप नर अति सुख पाय,
 नीच स्वभाव न छाड़ै जाय ।
 करहि विनोद रंग रति मान,
 षट् ऋतु सुख भुगतै चित तानि ॥१६२
 जे तिर्यंच सुखनि में लीन,
 कुपात्र दान फल जानो प्रवीन ।
 अपने स्वारथ परहि सतावै,
 पुन ते मर दुर्गति दुख पावै ॥१६३
 ॥ इति कुपात्र दान फल वर्णन ॥

अथ अपात्र दान फल वर्णन—

सर्पहि दूध पियावहि रुढ़,
 विष को करहि न जानहि मूढ़ ।

त्यो अपात्र दान दुख देय,
 दाता भवभव दुर्गति लेय ॥१६४
 ऊसर बरसै फल नहीं होय,
 पाथर नाव तिरै नहीं कोय ।
 दुर्जन संगति गुण नहीं लहै,
 विषयी पोख न धर्महि लहै ॥१६५
 दोहा—छिपनी केला सर्प मुख, स्वाति बूंद जल पाय ।
 मोती शुभ कर्पूर पुनि, विष उपजै दुखदाय ॥१६६
 सोरठा—जल बरसै अति घोर, भूमि परै सब में जगै ।
 जहं जैसो गुण जोर, तहं तैसो फल सो लहै ॥१६७
 अंध कूप घन डारिए, हु भलौ करि जानि जे ।
 अपात्र दान मति वारि, जिनवर सीख जु मानिजे ॥१६८
 दोहा—कुदान कबहु न दीजिए, दिए पाप अति होय ।
 दुर्गति में सशय नही, भवभव भटकै सोय ॥१६९
 ॥ इति अपात्र दान फल वर्णन ॥

अथ जल गालन क्रिया—

चौपाई—सात लाख जल योनि भए,
 अरु अनत त्रस तामे भए ।
 त्रस की दया जानि जल गालि,
 यह आचार करहु व्रत पालि ॥१७०
 दीरघ हस्त सवा के जानि,
 पनहा (अर्ज) एक हस्त के मान ।
 नूतन वस्त्र पुनि दूनों करै,
 इह विधि गालि धर्म व्योपरै ॥१७१
 दोय दण्ड जल गाली रहै,
 पुनि सो अनंत राशि अति लहै ।
 जब जब जल लीजै निज काम,
 तव तब जल छानो निज धाम ॥१७२
 जो जल छानि छानि घट धरो,
 पुनि सो जल, जल में लै करो ।
 एक बूंद जो धरनी परै,
 अनंतराशि जीव छिन में मरै ॥१७३
 सोरठा—ढीमर पारिधि जानि, जुग जुग पाप जु जे किए ।
 इत उत एक प्रमान, अनगल्यो बूंदक पिये ॥१७४
 चौपाई—याम युगल प्रासुक जल रहै;
 अष्ट प्रहर तासो (तो) निर्वहै ।

इतनी बेरा (ला) उलंघै जबी,

सन्मूर्छन जीव उपजै तबही ॥१७५॥

दोहा—बेरा(ला) अधिक न रखिए, गालै दोष नु होय ।

डारै तैं हिंसा बढै सु बेरा (ला) राखो सोय ॥१७६॥

चौपाई—अनगालै जल स्नान जु कीजै,

होय पाप पुनि धर्महि छीजै ।

उत्तम क्रिया तेही की सार,

जो जल गालै विधि सौ ढार ॥१७७॥

सोरठा—जो नर उत्तम होय जो, जल गालै युक्ति सौ ।

सांची दया जु सोय, जिनवर कही सु उक्ति सौ ॥१७८॥

॥ इति जल गालन क्रिया वर्णन ॥

अथ अंथऊ (सध्या भोजन) क्रिया वर्णन—

दोहा—जो नर अंथऊ पाल ही, क्रिया जानि पुनि सोय ।

सो विधि प्रतिमा मे कही फिर वर्णन नही होय ॥१७९॥

॥ इति अंथऊ क्रिया वर्णन ॥

अथ रत्नत्रय क्रिया वर्णन—

सत्य जिनेश्वर वाणी मानै,

हेयाहेय सुलक्षण जानै ।

मिथ्या मारग छोड़ै सग,

नि शक्ति यह जानहु अंग ॥१८०॥

व्रत तप जाप पुण्य बहु कियो,

तोरथ यज्ञ सु दान जु दियो ।

ताकी फल बांछै नही धीर,

सो निःकाष्ठित जानहु वीर ॥१८१॥

विद्या ज्ञान उदो सब जानि,

साधु शरीर न मानौ ग्लानि ।

तृतीय अंग कहिए सुख धाम,

निर्विचिकित्सा याकी नाम ॥१८२॥

देव शास्त्र गुरु लक्षण जोइ,

गुण दोष न पहिचानै सोइ ।

तीन मूढ़ त्यागै सुख लहै,

अग अमूढ़ दृष्टि यह कहै ॥१८३॥

पर दोष नही भासै रंच,

जो पुनि देखे करै न खंच ।

उपगूहन यह अंग कहावै,

पंचम गुण दर्शन को पावै ॥१८४॥

तप व्रत क्रिया चलत जो देखै,

महिमा कर्त्ता व्रत को पोखै ।

धीरज देकर करै सहाय,

स्थितीकरण यह अंग जु आय ॥१८५॥

धर्मवंत व्रत तप जप लीन,

कर्म जोग तैं भयो जु छीन ।

ताको सहाय करै गुणवंत,

यह वात्सल्य अंग शुभ संत ॥१८६॥

जिनवर धर्म जातै शुभ चलै,

महिमा करि मिथ्यात्वहि गलै ।

बहुत हर्ष सौ करहि करावै,

यह प्रभावना अंग कहावै ॥१८७॥

ये आठहु गुण दर्शन जानो,

पुनि आठ ज्ञान के मानौ ।

तेरह अंग चारित्र गुण वास,

यह रत्नत्रय भव दुख नाश ॥१८८॥

॥ इति रत्नत्रय क्रिया वर्णन ॥

ये त्रेपन क्रिया अनुराग,

जो पालै उत्तम बड़भाग ।

षोडश स्वर्ग इन्द्रपद धरै,

पुनि सो मुक्ति रमणी को वरै ॥१८९॥

दोहा—सकल सभा मन हर्षियो, सुनि गणधर के वैन ।

श्रेणिक सुख मन अति भयो, सुधरो धर्म दूढ़ जैन ॥१९०॥

भव भव जिन शासन मिलै, सकल कीर्ति मुनिदेय ।

पंडित शिरोमणि दास कौं, दीजो जिनकी सेव ॥१९१॥

इति श्री धर्मसार ग्रंथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति उप-

देशात् पंडित शिरोमणि विरचिते त्रेपन क्रिया वर्णनो नाम

तृतीय संधिः समाप्तः ।

‘कस्तूरी मृग’

□ डा० (कुमारी) सविता सेन

न जाने किस चीज की तलाश में,
वर्षों से भटक रही हूँ मैं ।
अनेक युगों से,
अनेक भवों में,
जी और मर रही हूँ मैं ।
अक्सर सोचती,
यह कुछ और नहीं,
केवल ज्ञान-पिपासा है ;
और मैं स्वयं को,
गागर में ज्ञान-सागर की,
बषाह जल-राशि भरे हुए,
भारी-भरकम ग्रन्थों में डुबो देती ।
किन्तु वर्षों के अध्ययन के बाद भी,
स्वयं को वहीं-का-वहीं खड़ा पाती ।
बल्कि महसूस करती,
कि मेरी तलाश कुछ और बढ़ गई है ।
तब ज्ञान को छोड़,
मैं भक्ति का मार्ग अपनाती ;
न जानें कितने,
तीर्थों की खाक छानती ।
किन्तु वर्षों की यात्रा के बाद भी,
जहां से चली थी,
वहीं पहुंच जाती ।
फिर वहीं महसूस करती,
पाती कि तलाश कुछ और बढ़ गई है ।

एक दिन,
अपनी इसी पराजय पर,
ग्लानि और अवसाद में डूबी,
पद्मासन में बैठी,
अर्ध उन्मीलित नेत्रों से,
पर से उदासीन हो,
निज में झाँक रही थी,
कि अचानक,
न जाने कहां से,
हवा का एक तीव्र झोका आया,
और अपने साथ,
समस्त विषाद को बहा ले गया ।
तभी सहसा,
भीतर से झिलमिलाई,
चिर आनन्द,
चिर स्वतन्त्र,
आत्म की एक किरण ।
तब मैंने जाना,
जिसकी तलाश मे,
युगों से भटक रही हूँ,
८४ लाख योनियों मे,
जी और मर रही हूँ,
वह तो कस्तूरी मृग की भाँति,
मेरे ही अन्तर मे,
विद्यमान है ।

७/३५, दरियागंज, नई दिल्ली-२

जैन विद्याओं में शोध : एक सर्वेक्षण

□ डा० नन्दलाल जैन

यह माना जाता है कि जैनधर्म प्रागैतिहासिक द्रविड़ संस्कृति का प्रतीक है। इसके सिद्धान्त मानव के प्रारम्भिक ज्ञान व विचारधारा को निरूपित करते हैं। इसके विषय में पूर्व और पश्चिम के विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है पर अब स्थिति स्पष्ट हो गई है। अब इसे अन्य धर्मों से पृथक् एवं स्वतंत्र माना जाता है। यह महावीर से हजारों वर्ष पूर्व (कृष्ण-युग) तक स्वीकृत हो चुका है। इसका अध्ययन भारत के बहुमुखी विकास को समग्ररूप में समझने में सहायक है। इसीलिये विभिन्न विश्वविद्यालयों के अनेक विभागों में इसका सम्मिलित अथवा स्वतन्त्ररूप से अध्ययन-अध्यापन निरन्तर बढ़ रहा है। इस दिशा में अनेक भारतेतर देश भी आगे आ रहे हैं। इसके महत्व को दृष्टि में रखते हुए अब अनेक स्थानों पर जैन विद्या नाम से नये विभाग खोले जा रहे हैं जहाँ इससे संबंधित सामान्य एवं तुलनात्मक अनुसंधान भी किये जाने लगे हैं। बौद्धों की भाषा पालिके समान जैन वाङ्मय की प्रमुख भाषा प्राकृत है। इस भाषा के नाम से भी नये विभाग चालू हो रहे हैं। इससे एक लाभ यह हुआ है कि जैन विद्याओं के अन्तर्गत भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन-अनुसंधान भी चालू हो गया है।

अध्ययन-अध्यापन और अनुसंधान का अन्योन्याश्रय संबंध है। ये दोनों पत्रिकायें एक-दूसरे के विकास तथा ज्ञान के नये क्षितिजों के उद्घाटन में सहायक हैं। आगम प्रामाण्य और सर्वज्ञता की धारणाओं के कारण भारत में आत्मानुसंधान की जो भी प्रगति रही हो, लेकिन व्यवहारोपयोगी विद्याओं के प्रति माध्यस्थभाव ही दृष्टि-गोचर होता है। इसीलिये इन विषयों का विकास अवरोद्ध-लगता है। इस लेखक तथा अन्य विद्वानों ने जैन ग्रन्थों में वर्णित अध्यात्मेतर विषयों के अध्ययन से यह निष्कर्ष पाया है कि यदि अकलकोत्तर सदियों में भी इन विषयों पर

स्वतंत्ररूप से विचारण अविरत रहती, तो यह सम्भव है कि पश्चिम ने जो विचारों की शृंखला सोलहवीं सदी के बाद प्रस्तुत की है, वे दसवीं सदी तक ही विकसित हो चुके होते और भारत की बौद्धिक गरिमा उत्कृष्ट बनी रहती। समुचित संप्रसारण से विश्व की विचारधारा में आज से काफी प्रगति होती।

यह प्रसन्नता की बात है कि बीसवीं सदी में पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों का ध्यान जैन विद्याओं में वर्णित अध्यात्मेतर विषयों की ओर भी गया है। वे इसे तुलनात्मक दृष्टिकोण से भी उद्घाटित कर रहे हैं। इससे जैन विद्याओं के भारतीय संस्कृति, कला, साहित्य, इतिहास एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में किये गये योगदान के महत्वपूर्ण पहलुओं ने विश्व के अनेक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। इससे अनुसंधान एवं ज्ञानवर्धन के नये क्षितिज उभरे हैं। इससे जैन विद्याओं का महत्व बढ़ा है। यही कारण है कि जैन विद्याओं के शोधकर्ताओं में जैनैतरों की संस्था दो-तिहाई तक पहुँच गई है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इस क्षेत्र की अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

अनुसंधान के रूप -

अनुसंधान के मुख्यतः दो रूप हैं— एक वह जो किसी उपाधि हेतु किया जाये या जिस पर उपाधि मिल गई हो। दूसरे रूप में वह अनुसंधान है जो उपाधि-निरपेक्ष एवं समय निरपेक्ष भी हो। प्रथम रूप अनुसंधान-विद्या का एक प्रशिक्षणात्मक अनुभव है। इसमें शोधप्रक्रिया के विविध चरणों-विषय चूनाव, प्रस्तुतीकरण या प्रयोगविधि एवं समालोचनात्मक विश्लेषण का अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रिया में अध्ययनशीलता, मनन एवं सार्थक लेखन की प्रवृत्ति विकसित होती है। इस रूप में विषय वस्तु एवं ज्ञान-गरिमा का निखार होता है। वर्तमान युग

में इसी रूप को उत्तम माना जाता है। यही कारण है कि प्रायः पी०एच्०डी० प्राप्त विद्वान् अपने उपाधि-निरपेक्ष शोधकार्यों को मान्यता देते प्रतीत नहीं होते। 'पठित परम्परा के योगदान' पर आयोजित एक संगोष्ठी में यह प्रवृत्ति परिलक्षित हुई थी। सम्भवतः इसी कारण, जब भी शोधकार्य का समाकलन होता है, तब उपाधिपरक शोध का ही विवरण मिलता है, उपाधि निरपेक्ष शोध या शोध कर्त्ताओं के अनुसंधान-क्षेत्रों या महत्वपूर्ण कृतियों का सामान्य निर्देश तक नहीं किया जाता। यह प्रवृत्ति बहुत ख़चिकर नहीं प्रतीत होती और न ही यह शोध का पूर्ण विवरण ही प्रस्तुत कर पाती है।

भारत में उपाधि निरपेक्ष शोध से ही 'जैन विद्याएँ' पल्लवित हुई हैं। इस कोटि में विषय वस्तु और ज्ञान गरिमा का अनुठा रूप देखने को मिलता है। यह शोध स्वान्तः सुझाय होती है और जीवन के लक्ष्य के रूप में होती है। आजीविका इसका गौण लक्ष्य होता है। नाथूराम प्रेमी, मुख्तार सा०, परमानन्द शास्त्री, दलसुख भाई, मुनि कान्ति सागर, बालचंद्र एवं फूलचंद्र शास्त्री, अगरचंद्र नाहटा, बालचंद्र और कुंदनलाल जैन आदि के नाम किसी श्रद्धाप्रेरित नहीं करते? आज भी अनेक शोध-विद्वान् प्रकाशस्तम्भ बने हुए हैं। इनमें जी० आर० जैन, मुनि महेन्द्र कुमार, एल० सी० जैन आदि सुजात हैं।

शोध के ये दोनों ही रूप 'जैन विद्याओं' को प्रकाशित करते हैं। इन्हें एक-दूसरे का पूरक और संवर्धक मानना चाहिये। इसलिए लेखक का सुझाव है कि जैन विद्या शोध विवरणिकाओं में उपाधि निरपेक्ष एवं उपाध्युत्तर शोध का भी विवरण होना चाहिए।

शोध का संचरण—

वर्तमान युग में अनुसंधान कार्य का जितना महत्व है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य है—उसका समुचित रूप में संचरण। यह न केवल पूर्व-कृत शोध की जानकारी देता है, अपितु यह शोध के नए क्षितिजों की ओर सकेत भी देता है। आज ज्ञान का संचरण अनेक रूपों से किया जा सकता है :

(अ) शोधकार्यों का समुचित रूप में प्रकाशन—इसका एक रूप है। इस विधा में दो कठिनाइयाँ अनुभव में आई हैं। प्रकाशित शोध-प्रबंध का मूल्य अधिक होता है। दूसरे, अधिकांश शोध प्रबंध असंपादित एवं असंक्षेपित ही प्रकाशित होते हैं। इन्हें लिखने की विधा के जानकार यह कहते हैं कि संपादन से प्रबन्ध दो-तिहाई रह जाता है जिससे उसकी ग्राहकता एवं उपयोगिता बढ़ जाती है।

(ब) शोध-संगोष्ठियाँ परिसंवाद—शोध-संचरण के दूसरे माध्यम हैं। इनमें पठित शोधपत्रों का संपादित प्रकाशन ऐसे आयोजनों का एक अनिवार्य अंग होना चाहिए। पूना और उदयपुर ने इस दिशा में उदाहरण प्रस्तुत किया है। अनेक आयोजनों में पठित शोधपत्रों की प्रकाशित या साइक्लो-स्टाइलित प्रतियों के वितरण की परम्परा देखी गई है। यह भी और भी अच्छा होता कि इनके बदले इनका एकीकृत पुस्तकाकार रूप ही वितरित किया जाता।

(स) शोध संक्षेपिकाएँ—भी शोध-संचरण का एक रूप है। वैज्ञानिक विषयों में विश्व के किसी भी भाग में होने वाली शोध के सार-संक्षेप को प्रकाशित करने वाली पत्रिकाएँ (जैसे केमिकल एक्स्ट्रेक्ट) राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा प्रकाशित कर अल्पमूल्य में ही खडशः शोधकर्त्ताओं में प्रसारित की जाती है। जैन विद्याओं के क्षेत्र में यह परम्परा प्रायः अज्ञात है। जैन संदेश शोधार्क ने इस दिशा में नेतृत्व किया था, पर उसके सीमित प्रमाण हो अब तक प्रकाशित विवरणिकाओं में उसका नामोल्लेख नहीं हो सका। अब तो वह भी बद हो गया है। जैन विद्या के क्षेत्र में, वर्तमान में, अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता की स्वायत्त-संस्थाएँ कार्यरत हैं। इनमें से कम-से-कम एक संस्था को अपनी प्रकाशित पत्रिक पत्रिका को 'जैन शोध वार्षिकी' के विशेषांक के रूप में अथवा स्वतन्त्र प्रकाशन के रूप में 'शोध-सार' क्रम से निकालना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि यह संस्था प्रत्येक शोध प्रबंध की माइक्रोफिल्म का फोटोकॉपी प्राप्त करें और उसका संक्षेपण करायें। इस समय औसतन जैन विद्या में पच्चीस शोधोपाधियाँ प्रति

वर्ष मिल रही हैं। इनके लिये उपरोक्त कार्य में प्रायः पांच हजार रुपये प्रति वर्ष खर्च होने का अनुमान है। नव-स्थापित बी० एल० इन्स्टीट्यूट, दिल्ली यह कार्यक्रम नियमित रूप से अपनायें, तो उसकी महत्ता और उपयोगिता ही बढ़ेगी।

(द) शोध-नाभिकायें—भी शोध-संचरण करती है। इस दिशा में डा० जैन का कार्य उल्लेखनीय है। उन्होंने अनेक राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के अवसर पर जैन विद्याओं में कृत एवं क्रियमाण शोध की नाभिकायें संकलित कर अनेक पत्रिकाओं के सामान्य या विशेषांशों में प्रकाशित की हैं। इनमें एक सकलन १९७३ में 'महावीर और उनकी विरासत' में भी प्रकाशित हुआ है। इसका आधार विभिन्न विश्वविद्यालय रहे हैं। इसमें आठ प्रान्तों के छत्तीस विश्वविद्यालयों की २०४ शोधों का विवरण था। जैन ने एक संगोष्ठी में इसको विषयवार वर्गीकृत कर समीक्षा प्रकाशित की है एवं युगानुरूप शोध के अज्ञात का उपेक्षित क्षेत्रों में अनुसन्धान का सुझाव दिया है। वर्ष १९८३ में उन्होंने पुनः पूर्व-परंपरा के अनुकरण में एक अन्य शोध नाभिका प्रकाशित की है जब कि काशी से ही एक अन्य शोध-नाभिका पुस्तक विषयवार क्रम के आधार पर प्रकाशित हुई है। डा० जैन की नाभिका 'अ' श्रमण-संकाय पत्रिका के अंग के रूप में है तथा हिन्दी-अंग्रेजी में है। पुस्तक-नाभिका 'ब' अंग्रेजी में है और उसमें बौद्ध शोध-नाभिका भी है। नाभिका 'अ' में कृत और क्रियमाण शोध-विवरण है जब कि नाभिका 'ब' केवल कृत शोध को ही लक्ष्य में रखकर तैयार की गई है। जैन विद्या शोध की दृष्टि से नाभिका 'अ' अधिक उपयोगी दिखती है। फिर भी, दोनों ही बहुमोली हैं। इसमें उपाधि निरपेक्ष शोध का विवरण नहीं है और न ही पूर्वोक्त विषयवार गुणात्मक एवं परिमाणात्मक समीक्षा का उल्लेख है। यदि दोनों ही नाभिकाओं को कृतशोध के आधार पर आंका जावे, तो आंकड़ों में अन्तर दिखता है। उदाहरणार्थ, नाभिका 'अ' में इस श्रेणी में जहां ३४१ नाम हैं वहीं 'ब' में कुल ३२४ नाम ही हैं (संभवतः

यह कुछ पहले प्रकाशित हुई होगी। नाभिका 'अ' कुछ अपूर्ण भी लगती है। उसमें डा० रायनाडे (बनारस), डा० एस० के० जैन (कुह क्षेत्र) तथा डा० उषा जैन (जबलपुर) आदि के नाम नहीं हैं। पंजीकृतों में भी सीबा की सा० प्रियदर्शना श्री, सा० सुदर्शना श्री व श्रीमती सरला त्रिपाठी, काशी के कमलेश जैन तथा डा० सी० जैन तथा संस्कृत विश्वविद्यालय की प्रकाशित सूची के नाम नहीं हैं। स्वविवेक का ऐसा उपयोग समझ में नहीं आया। अनेक नाम। विषयो में पुनरावर्तन भी है। यदि किंचित सावधानी बरती जाती और कुछ प्रयत्न किया जाता, तो इसकी गुणात्मकता और अच्छी होती। यद्यपि यह १९७३ की नाभिका की तुलना में पर्याप्त प्रगत है, इसमें १५ प्रान्तों के ४९ विश्वविद्यालयों के ४२६ शोधों का विवरण है, फिर भी इसके आंकड़े शताधिक विश्व-विद्यालयों के आधार पर पर्याप्त ही माने जावेंगे। इसमें आठ प्रदेशों एवं आठ केन्द्र शासित क्षेत्रों के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं है। इसमें प्रकाशित शोध प्रबंधों की सूचना तो है, पर प्रकाशन या प्राप्ति स्थान का उल्लेख नहीं है। मूल्य भी नहीं है। शोध निर्देशक के नाम भी नहीं हैं। ये तथ्य दोनों ही नाभिकाओं में लागू होते हैं। यह उत्तम होगा यदि भविष्य में इन बातों पर ध्यान रख कर प्रकाशन किया जावे।

जैन विद्या शोध की प्रगति का विश्लेषण—

उपरोक्त अनेक अपूर्णताओं के बावजूद भी, दस वर्षों के अंतराल में प्रकाशित नाभिकाओं के अध्ययन में भारत में जैन विद्या शोध की वर्तमान स्थिति, प्रगति का वेश तथ्य दिशाओं की विविधताओं में वृद्धि का आभास होता है। सारणी १, २ ३ में दोनों नाभिकाओं (अ) पर आधारित तुलनात्मक आंकड़े दिये जा रहे हैं। इनमें नाभिका 'ब' के विषयों का संक्षेपण किया गया है। इसके प्रायः आधे विषय ललित साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इनके विश्लेषण से हम वर्तमान स्थिति के साथ आशावादी वर्णों के लिये शोध-दिशाएं आकलित कर जैन विद्याओं की महत्ता को और भी प्रकाशित कर सकते हैं।

समरणी १. जैन विद्याओं तुलनात्मक (१६७३—८३)

विषय (८-१४) ६ ३.० ५१ १६.५ ४६ (७-१४)

में शोध : आंकड़े

१४.२०

(अ) सम्मान्य १६७३ प्र० १६८३ : अ प्र० १६८३ : ब प्र० १६. तुलनात्मक

	शत	शत	शत	अध्ययन	१०	५.०	३३	७.७	४०	१२-३
१. प्रदेश	८	१५	—	१७. विज्ञान	४	२.०	५	१.२	२	०.६
२. विश्ववि०	२५	४६	—	१८. विविध	६	३.०	०	—	—	—
३. शोधकर्ता	२०४	४२६	३२४							
(अ) जैन	६०	८८	—		२०४	४२६	—	३२४		
(ब) जेनेतर	११४	३४१	—							
(स) पजी०	८८	८८	—							
(द) उपाधि										
प्राप्त ११६	३४१	३२४								

४. शोध-प्रवध

प्रकाशन ३२ १५.६ ६८ १५.८५ ३६ —

(अ) शोध और प्रकाशन—

सारणी १ से स्पष्ट है कि पिछले दस वर्षों में जैन विद्याओं में शोधकर्ताओं की संख्या दुगुनी से अधिक हो गई है। जेनेतर विद्वान् इस क्षेत्र में अधिकाधिक संख्या में रुचि ले रहे हैं। दस वर्ष पहले जहां इनका अनुपात १ : २५-२११, वही अब १ : २-८३ हो गया है। इसके विपर्यास में, शोध प्रवन्ध प्रकाशन की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। यह प्रायः १५.७ प्रतिशत ही है। इस प्रकार, जहां जैन विद्याओं का शोध प्रतिशत बढ़ रहा है, वहां इसके सप्रसारण की स्थिति शोचनीय है। इसे सुधारने की आवश्यकता है।

(ब) शोध क्षेत्र

सारणी २ से प्रकट होता है कि जैन विद्याओं के शोध क्षेत्र की दृष्टि से उत्तर प्रदेश का प्रथम स्थान है जहां ३५.६ प्रतिशत शोध हो रही है। उसके बाद बिहार (१५-१५ प्रतिशत) और मध्य प्रदेश (१० प्रतिशत) आते हैं। महाराष्ट्र और राजस्थान मध्य प्रदेश से कुछ ही पीछे हैं। दिल्ली और गुजराज मध्यम कोटि में हैं। दक्षिण के सभी प्रदेशों में मिलाकर जैन विद्या शोध का प्रतिशत ६.४ है। अन्य प्रान्तों में भी यह काफी कम है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाभिकाओं में जिन क्षेत्रों का विवरण नहीं है, वे जैन विद्या शोध की दृष्टि से शून्य हों। फलतः यह स्पष्ट है कि वर्तमान में जिन क्षेत्रों में जैन अधिक संख्या में हैं, वहीं शोध प्रतिशत भी अधिक है। ऐतिहासिक दृष्टि से अन्य क्षेत्रों में अधिक शोध होनी चाहिए क्योंकि वहीं जैन इतिहास की निर्मिति हुई है। यदि—

(ब) विषयवार शोधकर्ता—

१. ललित						
माहित्य	१०२	५०	१७५	३६	१५०	४६.२
२. न्याय/दर्शन	२७	१३	३६	६	४४	१३.६
३. भाषा (प्रा०,						
अ०, वितान)	८	४	३४	८	—	—
४. आगम	१०	५	१२	५	७	२.२
५. नीति,						
आचार, धर्म	१०	५	४२	६.५	१२	३.७
६. व्यक्तित्व-						
कृतित्व	११	५	२७	५.६०	२३	६.६
७. कला,						
पुरातत्व	१०	५	१२	२.६०	—	—
८. इतिहास						
				३३	—	—
९. राजनीति				६	४	—
१०. अर्थ-शास्त्र				४	—	—
११. समाज-शास्त्र				४	—	—
१२. भूगोल				१	—	—
१३. मनोविज्ञान				२	—	—
१४. शिक्षा				१	—	—
१५. आधुनिक						

सारणी २. जैन विद्या शोध क्षेत्र, १९८३ में

क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत
१. उत्तर प्रदेश	३५.६०	८. हरियाणा	२.१०
२. बिहार	१५.१५	९. पंजाब	०.६०
३. मध्यम प्रदेश	१०.०२	१०. बंगाल	१.६०
४. महाराष्ट्र	६.८०	११. कर्नाटक	२.३०
५. राजस्थान	७.७	१२. केरल	०.४०
६. गुजरात	५.६०	१३. आंध्र	०.६३
७. दिल्ली	४.८०	१४. तामिलनाडु	२.८०
		१५. उड़ीसा	०.२३

विदेशों की जैन विद्या शोध को समाहित किया जावे, तो वहां अनेक देशों में कुल प्रतिशतता ६.५ है। यह उत्साह वर्धक तथ्य है।

(स) शोध दिशा—

१९७३ के समीक्षण में व्यक्त किया गया था कि जैन विद्या शोध की प्रमुख दिशा ललित साहित्य ही है। यह अब भी सत्य है, यद्यपि इसकी प्रतिशतता १९७३ के ५० से घट कर १९८३ में ३६ रह गई है। यह शुभ लक्षण है और इस प्रवृत्ति को बढ़ना चाहिये। यह कमी अन्य दिशा की शोधों के रूप में प्रतिफलित हुई है जैसा सारणी ३ से प्रकट होता है। आलोच्य दशक में कुछ ऐसे विषयों की शोधों में भी कमी आई है, जो चिन्तनीय है। इन विषयों—

सारणी ३. १९७३—८३ के दशक में जैन विद्या शोध-विषयों में हानि-वृद्धि

विषय	प्रतिशत हानि	विषय	प्रतिशत वृद्धि
१. साहित्य	११.००	१. आधुनिक विषय	८.७०
२. न्याय/दर्शन	४.००	२. धर्म, नीति, आचार	४.५०
३. विज्ञान	१.००	३. भाषा	४.५०
४. कला	२.५०	४. व्यक्तित्व-कृतित्व	१.००
५. विविध	२.२०	५. तुलनात्मक अध्ययन	२.७०
	२०.७०		२०.७०

की शोधों से ही जैन विद्या के अनेक क्षेत्रों की मौलिकता

एवं ऐतिहासिकता का भान होता है। संभवतः न्याय, दर्शन, विज्ञान आदि विषय किञ्चित् गहन अध्ययन, मनन और भ्रम चाहते हैं जो अब विराम होता जा रहा है। यद्यपि इन क्षेत्रों में कुछ उपाधि-निरपेक्ष काम हो रहा है, फिर भी इस शोध को प्रेरित करने के उपाय करना चाहिये। इसके लिए यह आवश्यक है कि इन विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों का हिन्दी/अंग्रेजी में अनुवाद किया जावे। दूसरा संभावित बाधक कारण वर्तमान जैन शोध निर्देशकों, विद्वानों के अधिकांश का ललित-साहित्य-आधारित होना हो सकता है। इस विषय से अनेक विद्वान् भाषाओं और भाषा विज्ञान तक तो आ गये हैं, पर इससे आगे जाने योग्य शिष्य ही इन्हें नहीं मिलते। सम्भवतः इसी कारण अनेक व्याकरण और दर्शन के आचार्य व्यापारी बन गये ?

यह प्रसन्नता की बात है कि जहां कुछ क्षेत्रों में शोध संख्या में कमी आई है, वहीं जैन विद्याओं में वर्जित आधुनिक विषयों से सम्बन्धित शोधों की ओर शोधार्थियों की रुचि बढ़ी है। इनमें इतिहास (३३), राजनीति (६), समाज शास्त्र (३), मनोविज्ञान (२), भूगोल (१) एवं भाषिक विषय (३४) मुख्य है। ये शोधें भारतीय विद्याओं के विकास को समझने के लिए 'मील के पत्थर' सिद्ध हो रही हैं जिससे इस ओर शोध प्रवृत्ति बढ़ रही है। इन क्षेत्रों में विभिन्न स्रोतों में उपलब्ध सामग्री को एकत्र करने के विवरणात्मक प्रयास अधिक हो रहे हैं, पर ये ही उत्तरवर्ती गहन अध्ययन के आधार-बिन्दु बनेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरातन धर्म, नीति और आचार की ओर वर्धमान उपेक्षाभाव को निरस्त करने के लिए अनेक शोधकर्ता जैन विद्याओं में समाहित इन विषयों पर उपलब्ध सामग्री का आलोचनात्मक या तुलनात्मक अध्ययन करने में प्रवृत्त हो रहे हैं। इनसे प्राचीन मान्यताओं का, अनेक प्रकरणों में, समर्थन और व्यापकीकरण ही हुआ है। इन विषयों पर अभी पर्याप्त जैन साहित्य उखनन हेतु बचा है और शोध की यह गति अविरत रहना चाहिये। इसी प्रकार तुलनात्मक अध्ययन और व्यक्तित्व-कृतित्व की दिशा में शोध-वृद्धि सराहनीय है। इसे भी गतिशील बनाये रखने की आवश्यकता है। (क्रमशः)

— गर्लस कालेज, रीवा

आयुर्वेद में अनेकान्त

□ आयुर्वेदाचार्य राजकुमार जैन, दिल्ली

एकान्त से भिन्न या विपरीत अनेकान्त है। एकान्त में एक ही पक्ष का कथन या प्रतिपादन होता है, जबकि अनेकान्त में अन्य पक्ष का भी प्रतिपादन किया जाता है। एकान्त के अनुसार जो कथन किया जाता है उसमें “यह बात ऐसी ही है” इसका प्रतिपादन किया जाता है, जबकि अनेकान्त के अनुसार “ही” के स्थान पर “भी” शब्द की विशेष महत्व दिया जाता है। अर्थात् यह बात ऐसी ही है कहने की अपेक्षा यह बात ऐसी भी है—इस प्रकार कहा जाता है। अनेकान्त में एक ओर जहाँ पक्ष भी विशेष या दृष्टिकोण का एक पहलू है वही दूसरी ओर दूसरा पक्ष या पहलू भी कहा जाता है। अतः उसमें दृष्टिकोण की व्यापकता विद्यमान रहती है। अनेकान्त में दूसरा पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण होगा, जितना पहला पक्ष। अतः यह समानता के दृष्टिकोण पर आधारित है। यही कारण है कि शास्त्र में एक स्थान पर जो बात कही गई है, अन्य स्थान पर वही बात अन्यथा रूप में या भिन्न प्रकार से कही जा सकती है। इसका कारण वही प्रसंग या विषय की भिन्नता है। इसीलिए उसमें व्यापकता का दृष्टिकोण रहता है। दृष्टिकोण की व्यापकता उदारता की सूचक होती है, जिससे दूसरे के मत को समझने में महायता मिलती है। अनेकान्त के कारण विरोधभाव और विग्रह की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती और वातावरण में सभ्यता बनी रहती है।

अनेकान्त का अर्थ सामान्यतः इस प्रकार से किया जा सकता है—“न एकान्तः इति अनेकान्तः” अर्थात् जिसमें एकान्त (एक पक्ष का प्रतिपादन) न हो या जो एकान्त से विपरीत हो वह अनेकान्त है। इसी प्रकार अन्य व्याख्या के अनुसार अनेक अन्ताः धर्माः यस्मिन् सः—अनेकान्तः अर्थात् जिसमें अनेक अन्त यानी धर्म हों वह अनेकान्त है। धर्म शब्द यहां स्वभाववाची है। कहीं-कहीं

यह गुण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि वस्तु के लिए सामान्यतः कहा जाता है कि वह अनेक या भिन्न गुण-धर्म वाली है। जैसे आयुर्वेद के अनुसार वात में पक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विषद, खर आदि अन्यान्य गुण धर्म पाए जाते हैं। पित्त में उष्णता, द्रवता, स्नेह, अम्लता, सर्, कटु आदि गुण पाए जाते हैं और श्लेष्मा में शैत्य, श्वेत्य, स्निग्धता, गुरुता, श्लक्ष्णता आदि गुण पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि वस्तु या द्रव्य अनेक गुण धर्मात्मक है।

दार्शनिक सन्दर्भ में “अन्त” शब्द का अर्थ “निर्णय” भी लिया जाता है। अतः “अनेकान्त” पर विचार करने से पूर्व “एकान्त” की विवक्षा भी आवश्यक है, ताकि विषय की विवेचना समुचित रूप से की जा सके। एकान्तवाद का अर्थ जिस वाद (कथन) में एक (केवल एक धर्म मात्र) का अन्त अर्थात् निर्णय हो वह एकान्तवाद कहा जाता है (एकः केवलम् अन्तः निर्णयः यत्र यत्र वादे सः एकान्तवादः) वस्तुमें यद्यपि अनेक धर्म एक ही साथ रहते हैं ! किन्तु वे सब धर्म एक शब्द द्वारा एक ही समय में नहीं कहे जा सकते हैं। उन सब धर्मों की विवक्षा में वक्ता भिन्न-भिन्न शब्द और समय द्वारा कहता है ! किन्तु शब्द वाचक है और वस्तु वाच्य है एक शब्द द्वारा एक धर्म एक समय में बताया जाता है तो भी वाच्य (वस्तु) सब धर्मों से युक्त ग्रहण की जाती है। अतः एकान्त पक्ष की अनेकान्त पक्ष में बाधा आती है। वास्तव में एक शब्द द्वारा एक समय में कथन करने पर एक ही धर्म का निर्णय करना सर्वथा युक्ति समत नहीं है। धर्म वस्तु से एक ही शब्द द्वारा एक ही समय में सब धर्मों को कथन करना सम्भव नहीं है। फिर भी वस्तु में अनेक धर्मों का निवास रहता ही है। जैसे “जल” शब्द से संघात/‘सलिल’ शब्द से जमना/“वारि” शब्द से वरण आदि का

ग्रहण होता है। तथापि “जल” शब्द से संघात, जमना, वरण आदि अनेक धर्मों से युक्त “जल” पदार्थ ग्रहण होता ही है।

इसी प्रकार “हरि” शब्द से “हरण” क्रिया” प्राणो, पापों, मन, आदि कर्मों से युक्त करने पर अनेक पदार्थों में प्रयुक्त होता है। प्राणों को हरने वाले “यम” “सर्प” सिंह” आदि में, पापों को हरने वाले “विष्णु” में, मन को हरने वाले “बन्दर” में “हरि” शब्द के अर्थ का प्रयोग किया जाता है।

अतः जैसे “सिद्धान्त” शब्द में सिद्ध अन्तः निर्णयः यत्र असौ “सिद्धान्तः” यह सिद्धान्त” शब्द का अर्थ है उसी प्रकार “एकान्त” शब्द का अर्थ एक ही निर्णय है जिसमें ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

अनेकान्त में आग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है। आग्रह ही दृष्टिकोण को संकुचित या एक पक्षीय बनाता है। किसी भी वस्तु के विषय में आग्रह-पूर्वक जब कहा जाता है तो उससे वस्तु स्वरूप का वास्तविक प्रतिपादन नहीं हो पाता। यही कारण है कि वस्तु को जैसा समझा जाता है वह केवल वैसी ही नहीं है, उससे भिन्न कुछ अन्य स्वरूप भी उसका है, जिसे जानना या समझना आवश्यक है जैसे “देवदत्त अमुक लड़के का पिता है” जब यह कहा जाता है तो वस्तुतः पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है, अतः यह ठीक है। किन्तु वह देवदत्त केवल पिता ही नहीं है, अपितु, वह अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है और अपनी बहिन की अपेक्षा से भाई तथा मामा की अपेक्षा से भान्जा भी है। इस प्रकार वह एक ही देवदत्त अनेक धर्मात्मक है। इसका स्वरूप अथवा यह वस्तु स्थिति अनेकान्त के द्वारा भली-भांति समझी जा सकती है।

आयुर्वेद-शास्त्र में भी अनेकान्त का आश्रय लिया गया है और उसके आधार पर वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, यह अनेक उद्धरणों से सुस्पष्ट है। आयुर्वेद में जहाँ अनेकान्त छ आधार पर विभिन्न विषयों का प्रतिपादन एवं गम्भीर विषयों का विवेचन किया गया है, वहाँ तन्त्र युक्ति प्रकरण के अन्तर्गत उसका परिगणन कर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद-

शास्त्र में कुल ३६ तन्त्रयुक्तियाँ प्रतिपादित की गई हैं, जिसमें अनेकान्त भी एक तन्त्रयुक्ति है। आयुर्वेद शास्त्र-कारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेकान्त की व्याख्या की है, जो अपने-अपने दृष्टिकोण से उपयुक्त है। सर्वप्रथम आचार्य चक्रपाणि दत्त द्वारा विहित व्याख्या का अनुशीलन करते हैं जो निम्न प्रकार है—

“अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणं यथा— “ये हातुराः केवलान् भोजादन्ते ध्रियन्ते न च ते सर्व एव भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन् ।”

—चरक संसिता, सिद्धिस्थान। २/४३ पर वक्रपाणि टीका अर्थात् दूसरे पक्षों का अनवधारण करना अनेकताम्त कहलाता है। जैसे—जो रोगी केवल भेषज के बिना मर जाते हैं, वे सभी रोगी भेषज से युक्त होने पर ठीक नहीं होते।

यहाँ पर केवल एक का ही कथन महर्षि द्वारा नहीं किया गया है, अपितु अन्य पक्ष का समर्थ भी किया गया है। जो रोगी पूर्ण चिकित्सा नहीं मिल पाने के कारण मर जाते हैं, वे सभी रोगी पूर्ण चिकित्सा मिलने पर ठीक हो ही जाते हैं, यह आवश्यक नहीं है। अर्थात् उसमें से भी कुछ रोगी पूर्ण चिकित्सा मिलने पर भी मर जाते हैं—यह आशय है। यहाँ पर महर्षि ने अपनी बात कहने के लिए अनेकान्त का आश्रय लिया है। इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि सभी व्याधियाँ उपाय साध्य नहीं होती हैं। जो रोग उपाय (चिकित्सा) से साध्य है, वे बिना उपाय (चिकित्सा) के अच्छे भी नहीं होते। असाध्य व्याधियों के लिए षोडशकल भेषज (चिकित्सा का विधान भी नहीं है, क्योंकि विद्वान् और ज्ञानसम्पन्न वैद्य भी मरणोन्मुख रोगियों को अच्छा करने में समर्थ नहीं होते।

अनेकान्त को महर्षि सुश्रुत ने कुछ दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है, किन्तु आशय नहीं है। जैसे—

“क्वचित्तथा क्वचिदन्येति यः सोअनेकान्तः यथा— केचिदाचार्याः द्रवते द्रव्य प्रधानं, केचिद्वीर्यं, केचिद्विपाक-मिति ।”

—सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र ६५/२४

अर्थात् कही ऐसा और कहीं अन्यथा (दूसरा) इस प्रकार जो कथन किया जाता है वह अनेकान्त है। जैसे—कुछ आचार्य द्रव्य को प्रधान बतलाते हैं, कुछ रस को, कोई वीर्य को प्रधान मानते हैं, तो कोई विपाक को।

यहां जो उदाहरण दिया गया है वह समन्वय एवं व्यापक दृष्टिकोण का प्रतिपादक है। आयुर्वेद-शास्त्र में सामान्यतः द्रव्य, रस, गुण वीर्य, विपाक और प्रभाव में द्रव्य को प्रधान माना गया है; किन्तु पृथक्-पृथक् रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव को प्रधान मानने वाले आचार्यों के मतों को भी समायुक्त किया है, जो अनेकान्त पर आधारित है। इसमें यद्यपि कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः वह विरोध या विरोधाभास न हो कर दृष्टिकोण को उदारता और व्यापकता है जो समन्वय मूलक है।

महर्षि चरक ने केवल तत्रयुक्ति के रूप में ही अनेकान्त को नहीं अपनाया है, अपितु सिद्धान्त रूप में भी उसका प्रतिपादन किया है। तद्विषयक अनेक उद्धरण चरक संहिता में उपलब्ध होते हैं। उन्होंने विभिन्न पक्षों के ऐकान्तिक दुराग्रह की निन्दा करते हुए एक स्थान पर कहा है—

तथर्षीणां विषदतामुदावेदं पुनर्वसुः ।
मैदं वोपत तत्त्व हि दुष्प्रापं पक्ष संश्रयात् ॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव ।
पक्षान्तं नैव गच्छान्ति तिलपीडकवद्गता ॥
मुक्तैवैदं वादसंघद् मध्यात्मनुचिन्त्यताम् ।
नाविधूते तमः स्कन्धे ज्ञेये ज्ञान प्रवर्तते ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान २५/२६-२८

अर्थात् इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए ऋषियों के वचन सुनकर पुनर्वसु ने कहा कि आप लोग ऐसा नहीं कहें। क्योंकि अपने-अपने पक्षों का आश्रय लेकर विवाद करने से तत्त्व को प्राप्त करना दुष्कर होता है। अर्थात् सिद्धान्त का निर्णय नहीं हो पाता। वाद (उत्तर) और प्रतिवाद (प्रत्युत्तर) को निश्चित सिद्धांत की तरह कहते हुए किसी एक पक्ष के अन्त तक नहीं पहुंचा जा सकता

है। जैसे तेल पेरने वाला बेल एक निश्चित घेरे में घूमता हुआ जहां से आरम्भ करता है, पुनः वहीं पहुंच जाता है। उसी प्रकार पक्ष का आग्रह पूर्वक आश्रय करने वाला वाद-विवाद करता हुआ अन्य पक्ष के खण्डन और स्वपक्ष के मण्डन पूर्वक पुनः उसी बिंदु पर आ जाता है, जहां से उसने आरम्भ किया (अतः वाद-विवाद की प्रक्रिया को छोड़कर अध्यात्म (यथार्थ तत्त्व) का चिन्तन करना चाहिये। क्योंकि जब तक अज्ञान रूपी तम का नाश नहीं होता है, तब तक ज्ञेय (जानने योग्य) विषय में ज्ञान नहीं होता है।

अनेकान्त प्रतिपादन की दृष्टि से पुनर्वसु आश्रय के उपर्युक्त कथन विशेष महत्वपूर्ण है। एकान्तवादियों के द्वारा स्वरूप प्रतिपादन हेतु किए गए प्रयास की तुलना उन्होंने तेल पेरने वाले मनुष्य से की है, जो निरन्तर एक निश्चित दायरे में घूमता हुआ एक ही बिन्दु पर पुनः आ जाता है और अन्य बातें उसके लिए महत्वहीन एवं निःसार होती हैं। पुनर्वसु आश्रय ने अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि जब किसी वस्तु या विषय विशेष के अन्वेषण एवं लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रवृत्ति की जाती है तो आग्रह पूर्वक स्वपक्ष या अपनी बात दूसरो पर नहीं लादी जानी चाहिये। यदि ऐसा किया जाता है तो इससे न तो वस्तु स्वरूप की मर्यादा की प्रतीति होना सम्भव है और न ही लक्ष्य प्राप्ति की जा सकती है। एकांत सदैव मत-भेदों को बढ़ाता है, जबकि अनेकांत उन्हें दूर सार्वमोम सत्य का प्रतिपादन करता है। एकांत एकांगी होता है, अतः इससे वस्तु का एक पक्ष ही उद्भावित होता है और सत्य की पूर्णता उसे आवृत नहीं कर पाती है। सत्य की अपूर्णता वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन में बाधक होती और कई बार उससे भ्रामक बातें ही प्रचारित की जाती हैं किन्तु अनेकान्त के द्वारा ऐसा नहीं होता है।

यह निर्विवाद और असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि महत्वपूर्ण विषयों के प्रतिपादन में आयुर्वेद-शास्त्र में स्थान-स्थान पर अनेकान्त का आश्रय लिया गया है। जैसे वस्तु स्थिति से अनभिज्ञ कतिपय दुराग्रही एवं एका-

न्तवादी लोगों का यह दृढ़मत है कि विष का प्रयोग सर्वथा जीवन का हरण करता है। तीक्ष्ण विष के प्रयोग से तो मनुष्य का प्राणान्त अवश्यम्भावी है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। उसी तथ्य को जब अनेकान्त के परिप्रेक्ष्य में देखा गया तो महर्षि अग्निवेष को कुछ और ही अनुभव हुआ उन्होंने तीक्ष्ण विष के विषय में स्वानुभूत पदार्थ का विवेचन इस प्रकार से किया है—

योगादपि विष तीक्ष्णमुत्तम भेषज भवेत् ।
भेषज चापि दुर्युक्तं तीक्ष्ण सम्पद्यते विषम् ॥
तस्मान्न भिषजा युक्त युदितअह्येनभेषजम् ।
घीमता किञ्चिदादेय जीवितारोग्यकाक्षिणा ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/१२६-२८

अर्थात् विधि पूर्वक सेवन (प्रयोग) करने से तीक्ष्ण विष भी उत्तम औषधि हो जाता है और अविधि पूर्वक प्रयोग की गई श्रेष्ठ औषधि भी तीक्ष्ण विष बन जाती है। इसलिए जीवन और आरोग्य की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान मनुष्य के द्वारा युक्ति बाह्य (युक्ति पूर्वक प्रयोग नहीं करने वाले) वैद्य से कोई भी औषधि नहीं लेनी चाहिए।

यहाँ पर अपेक्षा पूर्वक विष का विषत्व और भेषजत्व प्रतिपादित किया गया है साथ ही युक्ति पूर्वक प्रयोग की अपेक्षा से औषधि का भेषजत्व और विषत्व बतलाया गया है। इस प्रकार का प्रतिपादन अनेकान्त का आश्रय लिये बिना सम्भव नहीं है। क्योंकि युक्ति की अपेक्षा से ही भेषज श्रेष्ठ औषधि हो सकती है। यदि युक्ति की अपेक्षा न रखी जाय तो वही भेषज रोगी का प्राण हरण कर सकती है। जैसा कि आज कल प्रायः देखा जाता है कि स्टैप्टोमाइसिन पेनिसिलिन के इंजेक्शन के प्रयोग में बरती गई जरा सी असावधानी रोगी का प्राणान्त कर देती है। यही इंजेक्शन अच्छी तरह विचार कर प्रयोग किये जाने पर जीवनदायी बन जाता है। उसी प्रकार यदि किसी मनुष्य को संखिया, कुचला, घटूर आदि विषवर्गीय किसी द्रव्य का सेवन बिना संस्कार किये ही करा दिया जाय

तो निश्चय ही वह काल का ग्रास बन सकता है, किन्तु वही विष जब शुद्ध और संस्कारित करके मात्रा पूर्वक औषध रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो अनेक भीषण व्याधियों का नाश उसके द्वारा किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों ने आमवाद (गठिया वाय) की व्याधि में विधि पूर्वक उचित मात्रा में सर्प विष का प्रयोग उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध किया है। इस प्रकार विषत्व की अपेक्षा से वह विष है, किन्तु भेषजत्व की अपेक्षा से वही तीक्ष्ण विष जीवनदायी श्रेष्ठ औषधि है।

इस प्रकार आयुर्वेद-शास्त्र में ऐसे अनेक प्रकरण एवं उद्धरण विद्यमान हैं जो अनेकान्त का आश्रय लेकर प्रतिपादित किये गये हैं। इससे न केवल उस विषय की दुरूहता ही समाहित हुई है, अपितु अनेक शंकाओं का अनायास ही निरसन हो गया है। अतः यह कहने में कोई सकोच नहीं है कि ऐसा करने से आयुर्वेद-शास्त्र के दृष्टिकोण में पर्याप्त व्यापकता आई है और वह पूर्ण उदारतावादी कहलाने का अधिकारी है। जीवन विज्ञान के सदर्भ में मानव-प्रकृति एवं आरोग्य मूलक सिद्धान्तों का प्रतिपादन आयुर्वेद-शास्त्र की अपनी मौलिक विशेषता है। उसमें यदि संकुचित दृष्टिकोण एवं दुराग्रहों का आश्रय लिया जाता तो निश्चय ही आयुर्वेद-शास्त्र की शाश्वतता और लोकोपकारी भावना का लोप हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। इस दिशा में पर्याप्त अध्ययन, मनन और अनुचिन्तन के द्वारा पर्याप्त अनुसन्धान अपेक्षित है। अनेकान्त ने आयुर्वेद को कितना सहिष्णु और व्यापक दृष्टिकोण वाला बनाया है उसका सहज आभास उन स्थलों से मिलता है जहाँ अन्य ऋषियों के निम्न दृष्टिकोण मूलक शब्दों को भी समावृत्त किया गया है। अतः गम्भीर विमर्श पूर्वक हम दिशा में पर्याप्त अध्ययन, मनन और अनुचिन्तन द्वारा अनुसंधान अपेक्षित है। आगा है विद्वज्जन एवं शोधार्थी इस दिशा में प्रयत्नसरत होंगे।

—भारतीय चिकित्सा, केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली

गायकुमार चरित में प्रतिपादित धर्मोपदेश

□ डा० कस्तूरचन्द 'सुमन'

गायकुमार—चरित काव्य के कर्ता महाकवि पुष्पदन्त थे। इस चरित काव्य में उन्होंने राजपुत्र नागकुमार से सम्बन्धित घटनाओं को चित्रित किया है। पिता द्वारा निर्वासित होकर यद्यपि वे नाना प्रदेशों में भटकते हैं किन्तु पुण्योदय के कारण सर्वत्र अपने नैपुण्य से प्रभावशाली व्यक्तियों को भी प्रभावित करते हैं। अनेक राज-कन्याओं को विवाह कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं। उन्होंने ऐसे-ऐसे कार्य किये जो साधारण लोगों के लिए अशक्य थे।

घटनाओं से यह चरित्र वाल्मीकि कृत रामायण में उल्लिखित रामचरित के समान है परन्तु इस काव्य में चित्रित धर्मोपदेश काव्य की विशिष्टता का प्रतिबोधक है।

धर्म का स्वरूप—इस काव्य में आचार्य श्रुतिधर ने नागकुमार के द्वारा पूछे जाने पर धर्म का स्वरूप समझाते हुए कहा कि “जीवों पर दया करना, क्षीण, भीरु, दीन और अनाथों पर कृपा करना, कर्कश वचन, ताड़न, बन्धन व अन्य प्रकार की पीडा विधि का प्रयोग नहीं करना, साथ ही झूठ वचन नहीं कहना, सत्य व शौच में रुचि रखना, मधुर करुणापूर्ण वचन बोलने के साथ-साथ दूसरे के धन पर कभी मन नहीं चलाना, बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करना तथा अपनी प्रिय पत्नी से ही रमण करना, पर स्त्री पर दृष्टि नहीं चलाना और पराये धन को तृण के समान गिनना, गुणवानों की भक्ति सहित स्तुति करना।

इस प्रकार धर्म के विभिन्न अंगों का का अभ्य रूप से गलन करना ही धर्म का स्वरूप बताया गया है। निष्कर्ष यह है कि हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरत होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन धर्मों के अंगों का पालन करना ही धर्म है। धर्म का स्वरूप है।

धर्म के भेद—संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं। प्रथम वे जो गृहस्थ जीवन यापन करते हैं और दूसरे वे जिन्होंने गृहस्थी से मुख मोड़ गार्हस्थ्यिक बन्धनों से नाता तोड़, तप से सम्बन्ध जोड़ा है। ऐसे लोग अनगार कहे हैं। गृहस्थों का धर्म आगार-धर्म और जिस धर्म को मुनि पालते हैं उसे अनगार-धर्म की सज्ञा दी गई है।

सागारधर्म

गृहस्थ धर्म का निर्वाह तभी होता है जब गृही हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह जनित दोषों से बचे। इसके लिए उसे जीव दया करना, विनयवान् होना, सत्य और मधुर वचन बोलना, पर द्रव्य के अपहरण से अपने हाथ खींचे रहना, पर स्त्री से पराङ्मुख रहना और लोभनिग्रह हेतु परिग्रह का प्रमाण रखना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त ऐसे गृही को सूर्यास्त से पूर्व ही भोजन करना पड़ता है, मधु-मांस और मद्य का त्याग करना पड़ता है, पच उदम्बरो का स्वाद भी त्यागना पड़ता है। इसे गुरुओं के अनुसार दिशाओं में गमनागमन को मर्यादा रखनी पड़ती है; वह शिक्षाव्रत पालता है, पापी जीवों की उपेक्षा करता है, वर्षा काल में बाहर नहीं जाता, प्रोषघोषवास करता है, पात्रों को आहार देता है, विधिपूर्वक सन्यास ग्रहण करता है, वह कुगुरु, कुदेव आदि को नहीं पूजता। वह तो शुद्ध सम्यक्दृष्टि होता है। जिनेन्द्र का ध्यान और सामायिक करने में ही अपना समय व्यतीत करता है।

गृहस्थों का नित्य कर्म-दान

गृहस्थों को आचार्यों ने नित्य करने योग्य छह कर्म बताए हैं, अर्हत् पूजा, गुरु-सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इनमें आचार्य कुन्दकुन्द ने दान को सर्व प्रमुख

माना है। दान के प्रसंग में पात्र, अपात्र, और कुपात्र का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत काव्य में बताया गया कि जो झूठे शास्त्रों में, कुत्सित आचारों तथा तपस्वियों में अनुरक्त होता है वह कुपात्र है और जो सम्यक्दर्शन तथा पवित्र व्रतों में रहित है वह अपात्र है।

पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद से तीन प्रकार के है। इनमें शुद्ध रत्नत्रय रूप मुनिव्रतधारी उत्तम पात्र, श्रावक के चारित्र्य का धारी मध्यम पात्र और जो कुदृष्टियों के गुणों, का कीर्तन, तथा लौकिक और वैदिक मूढताओं का त्याग कर सका, काँक्षा व जुगुप्सा आदि से रहित सम्यक्त्व को धारण करता है किन्तु दोनों प्रकार के समय रहित होता है वह अधम पात्र बताया गया है।

दान पात्र के अनुसार फलित होता है। अपात्र को दिया हुआ दान शून्य अथवा फल रहित जाता है तथा कुपात्र को दिये गए दान का फल बुरा ही होता है। तीनों प्रकार के पात्रों को दान देने से भूतल में लोग तीन प्रकार के भोग प्राप्त करते हैं।

दान-विधि

धर्मोपदेशों में अचार्यों ने दान के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए यह भी कहा है कि दान तभी सार्थक होता है जब वह विधिपूर्वक दिया जाता है। विधि के अन्तर्गत उन्होंने कहा कि उत्तम पात्र को दान नवधा भक्ति से युक्त होकर ही देना चाहिये। उत्तम पात्रों को पङ्गाह कर उन्हें उच्चासन देवें, उनका पाद प्रक्षालन करें। प्रक्षालित जल की वन्दना कर, अर्चना करें और सिर झुका कर प्रणाम करें। तदनन्तर मन-वचन-काय की शुद्धि सहित निर्लोभ भाव से आहार देवें। विधि का महत्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि विधि के अभाव में दिया गया आहार अरण्यरोदन के समान निष्फल होता है।

आचार्यों ने यह भी लिखा है कि दया भाव से अनाथों दीनों और निर्धनों को भोजन, वस्त्र, आभूषण, गाय-मैस, भूमि और भवन रूपी धन दिया जा सकता है।

दान से सम्बन्धित पात्रों के सम्बन्ध में जहाँ एक ओर

उन्होंने मुनियों को उत्तम पात्र कहा है दूसरी ओर यह भी विचार कि यदि दीन-हीन लोगों को सहयोग नहीं दिया गया तो वे सदैव दुःखी रहेंगे। अतः उन्होंने अपने उपदेशों में ऐसे दीन-हीन, लगड़े लूले, गूगे, बहरे, अन्धे, रोगी, और दुःखी लोगों को कर्णा का पात्र कहा। उन्होंने कहा कि ये कर्णा के पात्र हैं, किन्तु गुणानगर मुनीश्वर कर्णा के पात्र नहीं है। उन्हें तो परम भक्तिपूर्वक ही दान देना चाहिये।

आगे उन्होंने यह भी कहा कि जो लोग पापियों को दान देते हैं वे पापों को बढ़ाते हैं। पापियों को दान देकर उनका पोषण करना कोश को सुखाना है। वह इस भव में तथा परभव में दोष ही उत्पन्न करता है। आखेट करना गृहस्थ धर्म नहीं है, वह घोर पाप है अतः गृहस्थ जन ऐसे पापों से बचे।

अनगार धर्म

यह धर्म का दूसरा भेद है। इस धर्म के धारी मुनीश्वर होते हैं। वे काम के राग-रंग से दूर हटकर परिग्रह से मुक्त हो पर्वत की कन्दराओं में रहते हैं। तपस्वरूपी लक्ष्मी से समृद्ध वे पथ, नगर या देश से बधते नहीं। मन का मर्दन कर शत्रु, मित्र, धन और तृण में समता भाव रखते हैं, शरीर से ममत्व नहीं रखते, पुत्र और कलत्र से भी स्नेह छोड़ देते हैं। तपस्वरूपी अग्नि में तप्त वे विकार रहित प्राप्त भोजन में ही प्रवृत्त होते हैं। उनके शरीर में चर्म और अस्थि मात्र ही शेष रहती है। वे केश लीच करते हैं, नग्न रहकर शिला या भूमि पर शयन करते हैं, शरीर मल से लिप्त हो जाने पर भी वे शरीर से निःशुद्ध रहते हैं, अधखुले नेत्र रख कर नासाग्र दृष्टि से ध्यानस्थ रहते हैं। उनका अन्तरंग शुद्ध होता है, जैसे कछुआ अंगों को संकोच कर लेता है ऐसे ही वे इन्द्रिय और मन का संकोच कर लेते हैं। उपदेशकों ने समझाया कि यही है अनगार धर्म। उन्होंने कहा कि इसी धर्म के द्वारा ही मनुष्य कुकृत्यों का नाश कर परम लक्ष्मी के धारी श्रीधर (नारायण) हलधर, (बलदेव) तथा भरत सद्गुरु चक्रवर्ति, देवेन्द्र और जिनेन्द्र होता है।

मरण और शरण

उपदेशों में सांसारिक नश्वरता का मनोहारी चित्रण है। यथार्थता को प्रकट करते हुए उन्होंने समझाया है कि हे जीव ! मरण आने पर कहीं भी शरण प्राप्त नहीं होती। यमराज के सम्मुख कवच बेकार हो जाते हैं। अन्तःपुर की स्त्रिया भी मृत्यु के आने पर छाती पीटती रह जाती है। सुख से रहने वाले राज मुकुटबद्ध लोगों का भी आयुबन्ध क्षीण हो जाता है, आती हुई मृत्यु को कोई दुर्ग भी नहीं रोक सकता। यह सच है कि ध्वजा पताका से विनाश ढका नहीं रह सकता। राज्य की आकांक्षा के वशीभूत एवं लक्ष्मी के सुखों का उपभोग करने वाले राजाओं में ऐसे कौन हैं जो नारकी गण द्वारा मारो मारो ध्वनि से गूँजते हुए रौरव नरक में जाकर नहीं पड़ते।

पाप क्षय

मन और इन्द्रियाँ पापास्रव की हेतु हैं। इन्हें ज्ञान रूपी अंकुश से रोका जा सकता है। स्वाध्याय कर मुदृढ़ शृंखला के द्वारा शुभमध्यान रूपी खम्भे से उन्हें बाधा जा सकता है। आचार्यों ने कहा कि ऐसा कौन-सा पाप है जो धर्म के द्वारा न खपाया जा सके।

लोक की स्थिति

उपदेशों में लोक के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि यह ससार न ब्रह्मा के द्वारा निर्मित है, न विष्णु द्वारा धारण किया गया है और न ही शिव के द्वारा नष्ट किया जाता है। त्रैलोक्य के बीच अनेक द्वीप-समुद्रों से शोभित यह मध्य लोक अपने आप अनन्तानन्त आकाश के मध्य स्थित है। यह तीन प्रकार है— प्रथम महलक अर्थात् शक्रे के समान, द्वितीय बज्र के समान और तृतीय मृदंग के समान।

मोह

संसार में सर्वाधिक शक्तिमान मोह ही है, जिससे ज्ञानियों का ज्ञान भी ढक जाता है। इससे मिथ्यादर्शन का प्रसार होता है। अतः उपदेशकों की दृष्टि में यह सेव्य नहीं है।

जेनेतर मान्यताओं की विवेचना

उपदेशकों ने जैनधर्म में दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए जेनेतर मान्यताओं को उपदेशों में समझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा कि बुद्ध के क्षणिकवाद में यदि जीव क्षण-क्षण में उत्पन्न होता रहता है, तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो जीव घर से बाहर चला जाता है वही घर कैसे लौटता है। इसी प्रकार शून्यवादी जो जगत् में शून्य का विधान करते हैं तो उनके सम्बन्ध में प्रश्न उत्पन्न होता है कि उनके पचेन्द्रियदण्डन जीवतरधारण, व्रत पालन सात घड़ी दिन रहते भोजन तथा सिर का मुड़न कैसे होता है ?

शैव मतवलम्बी गगन को सदाशिव कहते हैं। गगन निष्कल है। जो निष्कल है वह स्वयं कैसे पड़ेगा और किसी अन्य को कैसे पढ़ायेगा ? मोक्ष का मार्ग कैसे दिखावेगा ? निष्कल अष्ट प्रकृति रूप अंगों को कैसे धारण करता है तथा दूसरों को कैसे प्रेरित करता और रोक्ता है।

जो निष्फल है वे तो निश्चल वा ज्ञान शरीरी होते हुए स्वभावतः सिद्ध रूप से रहते हैं। न वे स्वयं मरते हैं न उत्पन्न होते हैं, वे ससार यात्रा में अपने को क्यों डालेंगे ?

अवतारवाद के सम्बन्ध में मुनियों ने कहा कि जैसे उबले जो पुनः कच्चे जौ में नहीं बदले जा सकते, वी पुनः दूध नहीं बन सकता। इसी प्रकार सिद्ध हुआ जीव पुनः देह भार का ग्रहण और विमोचन करने रूप भवसागर में भ्रमण नहीं कर सकता है।

ईश्वरवाद के सम्बन्ध में उपदेशों में तर्क संगत प्रश्न मिलते हैं—जैसे, यदि ईश्वर सर्वार्थ सिद्ध है तो उसे बँल रखने से क्या प्रयोजन ? यदि वे दयालु हैं तो उन्हें रोद्ध शूल रखने से क्या लाभ ? जो वे आत्म सन्तोष से तृप्त हैं तो उनके हाथ में भिक्षा के लिए कपाल क्यों ? इसी प्रकार यदि वे पवित्र हैं तो हड्डियों के भूषण की उन्हें चाह क्यों ?

वेद अपौरुषेय हैं इस मान्यता के सम्बन्ध में भी मुनियों ने गहराई से विचार किया है। उनका कथन है

कि बिना जीव के शब्द की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे बिना सरोवर के नया कमल और बिना गाय के दूध। अतः बिना पुष्प के वेद रचना सम्भव नहीं है।

सच्चा धर्म

धार्मिक मान्यताओं की विवेचना करने के उपरान्त जब किसी ने प्रश्न किया कि फिर वह यथार्थ धर्म कौनसा होगा जिसका हम पालन करें। इसके उत्तर में मुनियों ने कहा कि काम भोग की इच्छा और स्वर्ग प्राप्ति की कामनाएँ जैसे परस्पर विरोधी हैं, ठीक इसी प्रकार जीव घात और धर्म-पालन दोनों में सम्बन्ध है, वे दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते। सच्चा धर्म जीव घात से रहित है।

यह धर्म दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमयी है। सच्चा दर्शन उन्हीं जीवों को प्राप्त होता है जो न केवल धर्मोपदेश सुनते हैं अपितु उपदेश सुनकर कषायों का उपशमन करते हैं और सोलह भावनाओं को भाते हैं। ऐसे लोग अष्ट मूल गुण रूपी वैभव को भी प्राप्त कर लेते हैं। देव शास्त्र गुरु तीनों मूढताओं और जाति कुलादि अष्ट मदों से मुक्त होकर वे अनायतनों की भी सेवा नहीं करते। तप से कर्म-फल को जला, केवल—ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाते हैं। ऐसे तपस्वियों का जहाँ वास रहा है वे पवित्र तीर्थ हो गये हैं।

धर्मोपदेशक

उपदेशक कैसा हो? समय-समय पर मुनियों और सन्तों ने अपने उपदेशों के माध्यम से इस सम्बन्ध में

समझाते हुए कहा कि यह आवश्यक है कि मोक्ष के उपदेशक हिंसा और वृष्णा से मुक्त रहे।

उन्होंने यह भी कहा कि ज्ञान और मोक्ष की बातें तभी प्रभावशील होती हैं जब वे आचरण में उतरती हैं। जो स्वयं ही कामनियों के कटाक्ष का शिकार हो जाता है है ऐसा उपदेशक यदि ज्ञान का भी क्यों न उपदेश दे तो भी वह उपदेश प्रभावहीन ही रहना है।

इस प्रकार कवि पुष्पदन्त की कृति णायकुमार चरित केवल चरित काव्य या कथा मात्र नहीं है कवि ने कथा के माध्यम से प्रस्तुत कृति में जीवों को वे दुःखी क्यों हैं? दुःख से उन्हें कैसे छुटकारा मिले 'ऐसे कल्याणकारी तथ्यों का भी समावेश किया है।

धर्मोपदेशों में जीव कल्याणार्थी जहाँ एक ओर मोह और अन्याय मत्तो का संक्षेप से उल्लेख है, दूसरी ओर धर्म का स्वरूप भेद और गृहस्थों के प्रमुख कर्म दान का भी आगमानुसार वर्णन उपलब्ध है। सत्सारिक-स्थिति की दर्शा करके कवि ने ससार से भयभीत जनो को संसार का कारण पाप और पापों के हेतु मन तथा इन्द्रियों को वश करने का उपाय भी बताया है। धर्म से ऐसा कौनसा पाप है जो क्षय न हो। इस प्रकार धार्मिक सक्षिप्ता किन्तु सारगर्भित तथ्यों से सहित इस कृति को देखकर यदि हम यह कहें कि कवि ने "सागर में सागर भर दिया है" तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

—जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीर जी

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी डी—१०५, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त बाबूलाल जैन प्रकाशक

परिग्रह-मोह ने पंचव्रतों के नाम बदलाए

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

आचार्य श्री उमा स्वामी तत्त्वाथं सूत्र के कर्ता है और जैन के सभी सम्प्रदायों में सूत्र की प्रामाणिकता व महत्ता आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। सूत्र के पाठ करने मात्र से उपवास का फल मिल जाता है। —‘दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति। फल स्यादुपवासस्य भाषित मुनिपुंगवैः ॥’—

उक्त सूत्र ग्रन्थ जैन-दर्शन के हार्द को स्पष्ट करने वाला है। इसके सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र में आचार्य ने व्रत शब्द की जो परिभाषा दी है वह पुण्य-पाप जैसे सभी अंतरंग और धन-धान्यादि बहिरंग परिग्रहों से निवृत्त होने की दिशा का बोध देती है— उसमें किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प तक को स्थान नहीं, जो यह कहा जा सके कि— तू अमुक को ग्रहण कर। पर, आज तो ग्रहण करने का ग्रहण सब को प्रस रहा है। भौतिक सुख-सम्पदा है, तो उसे ग्रहण करो, धर्म का कोई अंग है तो उसे ग्रहण करो : आदि गोया, छोड़ने से किसी को प्रयोजन ही नहीं।

वस्तु स्थिति ऐसी है कि तू अपने में रहने का पूर्ण अधिकारी है और अपने में रहने के लिए तुझे शुभ-अशुभ जैसे सभी पर-भावों—परिग्रहों से निवृत्ति आवश्यक है। प्रवृत्ति करना तो अपने को कर्मों से आच्छादित करना है। इसीलिए कहा जाता है कि यह जीव जैसे-जैसे जितने-

जितने अंशों में परिग्रह से निवृत्त होता जायगा वैसे-वैसे उतने-उतने अंशों में शुद्ध होता जायगा। जीव की ऐसी निवृत्ति से उसकी विशेषताओं का स्वयं विकास होगा। इसे अहिंसक या सत्यवादी बनने के लिए कुछ ग्रहण करना नहीं होगा— यह निर्विवाद है। खेद है कि— वस्तु की ऐसी मर्यादा होने पर भी लोग सचय करने या पर को पकड़ने की ओर दौड़ रहे हैं। देने वाले व्रत आदि दे रहे हैं और लेने वाले ले रहे हैं। दोनों में से कोई भी विरत नहीं हो रहा। इस पकड़ में लोग यहाँ तक पहुँच गये हैं कि— उन्होंने पकड़ के नशे में व्रतों के नामों तक को विपरीत दिशा में मोड़ दिया है। जहाँ किसी व्रत का नाम ‘हिंसाव्रत’ था वहाँ वे उसे ‘अहिंसाव्रत’ कहने लगे हैं— उन्होंने पंचव्रतों के नाम ही पकड़ रूप में बदल लिए हैं।

‘हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरति* व्रतम् ।’— यह व्रत की परिभाषा है। इसका अर्थ है कि— हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरक्ति— विराम लेना अर्थात् इन्हें परिवर्जन करना ‘व्रत’ है। आचार्य ने व्रत को दो श्रेणियों में दर्शाया है— १-अणुव्रत २-महाव्रत। अणु का अर्थ अल्परूप में और महा का अर्थ महान् रूप में लिया गया है। हम पाँचों व्रतों का नामकरण इस प्रकार करते हैं—

१—श्री आचार्य उमास्वामी के मत में :— (वारण अर्थ)

- अणुव्रत : १. हिंसा से अणुरूप में विरति = हिंसा + अणु + व्रत = हिंसाणुव्रत
 २. अनृत से “ “ “ = अनृत + अणु + व्रत = अनृताणुव्रत
 ३. स्तेय से “ “ “ = स्तेय + अणु + व्रत = स्तेयाणुव्रत
 ४. अब्रह्म से “ “ “ = अब्रह्म + अणु + व्रत = अब्रह्माणुव्रत
 ५. परिग्रह से “ “ “ = परिग्रह + अणु + व्रत = परिग्रहाणुव्रत
 महाव्रत : १. हिंसा से महान् रूप में विरति = हिंसा + महा + व्रत = हिंसामहाव्रत
 २. अनृत से “ “ “ = अनृत + महा + व्रत = अनृतमहाव्रत

* ‘तेभ्यो विरमणं विरति’—सर्वा० ७/१, “अपि शमिकादिचारित्र्याविर्भावात् विरमणं विरतिः” —त० वा० ७/१

३. स्तेय से " " " =स्तेय + महा + व्रत= स्तेय महाव्रत
 ४. अब्रह्म से " " " =अब्रह्म + महा + व्रत= अब्रह्म महाव्रत
 ५. परिग्रह से " " " =परिग्रह + महा + व्रत= परिग्रहमहाव्रत

२—ग्रन्थ कई आचार्यों के मत में :— (वरण अर्थ)

- अणुव्रत : १. अहिंसा से अणुरूप में रति = अहिंसा + अणु + व्रत = अहिंसाणुव्रत
 २. अनृत " " " " =अनृत + अणु + व्रत = अनृताणुव्रत
 ३. अस्तेय " " " " =अस्तेय + अणु + व्रत = अस्तेयाणुव्रत
 ४. ब्रह्म से " " " " =ब्रह्म + अणु + व्रत = ब्रह्माणुव्रत
 ५. अपरिग्रह " " " " =अपरिग्रह + अणु + व्रत = अपरिग्रहाणुव्रत
 महाव्रत : १. अहिंसा से महत्त्व में रति = अहिंसा + महा + व्रत = अहिंसा महाव्रत
 २. अनृत " " " " =अनृत + महा + व्रत = अनृत महाव्रत
 ३. अस्तेय से " " " " =अस्तेय + महा + व्रत = अस्तेय महाव्रत
 ४. ब्रह्म " " " " =ब्रह्म + महा + व्रत = ब्रह्म महाव्रत
 ५. अपरिग्रह से " " " " =अपरिग्रह + महा + व्रत = अपरिग्रह महाव्रत ।

वर्तमान में व्रतों में प्रचलित नामों से 'विरति' पोषक आचार्य श्री उमास्वामी सहमत नहीं। प्रचलित नामों से 'रति' पोषक आचार्यों का ही सम्बन्ध है और ये रति-पोषण प्राणियों की राग-भाव प्रवृत्ति के कारण है। क्योंकि जीवों का अभ्यास प्रवृत्तिरूप में सहज है और वे विरत होने के अभ्यासी नहीं हैं।—वे विरतहोने को कठिन समझते हैं और रत होने में सुख मानते हैं। यही कारण है कि वे 'वृञ्' धातु के 'वृणोति' (वरण करना) के भाव में निष्पन्न 'व्रत' शब्द को ग्रहण करने के अभ्यासी बनते रहे हैं और उन्होंने अहिंसा आदि को अणु या महत् रूप में वरण करना श्रेष्ठ माना है, जैसा कि देखने में आ रहा है—अहिंसा + अणु + व्रत आदि। जब कि उन्हें सोचना चाहिए था कि वरण करने जैसे भाव में परिग्रह से छूट भी सके या नहीं ?

आचार्य उमास्वामी की दृष्टि बड़ी गहरी थी। वे निवारण को इष्ट मानते थे। इसलिए उन्होंने 'व्रत' की परिभाषा में 'विरति' को प्रधानता दी—'रति' को प्रधानता नहीं दी और इसीलिए उन्होंने 'वृञ्' धातु के 'वृणोति' (वरणार्थक) जैसे रूप को न अपनाकर, उसके निवारणार्थक कर्तृवाच्य, निजन्तरूप 'वारयति'* को

अपनाया। अर्थात् उनके मत में जहां हिंसा का वारण होता है वहां हिंसा-व्रत (हिंसाविरति) होता है; आदि। यदि हम 'व्रत' शब्द को निवारण अर्थ में न लेकर 'वरण' करने के अर्थ में लेंगे तो इससे आ० उमास्वामी का मन्तव्य पूरा बदल जाएगा यानी हिंसा का वरण करना 'हिंसाव्रत' होगा और तब सूत्र का 'विरति' शब्द भी व्यर्थ हो जायगा तथा पाप को बढ़ावा मिलेगा।

आ० उमास्वामी सम्मत 'विरति' को मुख्य मानकर जब हम 'विरति' अर्थात् अपरिग्रह को मूल जैन-संस्कृति मानने की बात करते हैं तब कुछ लोग उसे 'महाभारत' के 'अहिंसा परमोधर्मः यतो धर्मस्ततः ५१' जैसे नारे में विलीन करने का प्रयास करते हैं। हमें नहीं मालूम कि उक्त वाक्य किस जैनाचार्य का है (किसी जैनाचार्य का हो तो दिशा-बोध दे, हम साभार विचार करेंगे) और हमारी दृष्टि में आत्म-विषयक 'समयसार' जैसे अष्टयात्म-ग्रन्थ में भी 'अहिंसा' शब्द दृष्टिगोचर नहीं हुआ जिसे हम आत्म-गुण या जन-संस्कृति का मूल मानने के लिए विवश हो सकें। हाँ, समयसार ग्रन्थ में 'अपरिग्रह' शब्द का उल्लेख अनेक बार किया गया है। हम विषय में हम इससे अधिक (शेष पृ० ३ आवरण)

* वृणोति इति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म—'वारयति'-इति । —निवृत्ति २/४/१ पृष्ठ ८८ ।

जरा सोचिए !

१. आगम रक्षा : एक समस्या—

लोकालोक के पदार्थों का निरूपण करने वाले आगम के नाम पर आज लोगो में बड़ी गरमागरमी है। अमुक आगम है और अमुक आगम नहीं है अमुक को निकालो, अमुक को रक्खो ऐसी चर्चा चारों ओर है। जिन लोगो को आगम की परिभाषा और आगम का स्वरूप तक नहीं मालूम है वे भी समर्थन और विरोध में उछल रहे हैं और विद्वान् (?) तो काफी असें से दो खेमों में बँटे हुए हैं। पर, इन समर्थक और विरोधियों में आगम के स्वरूप को सही रूप में कितनों ने कितना समझा है? समझा भी है या नहीं? या वैसे ही अखाडेबाजी कर रहे हैं? इसे सर्वज्ञ ही जाने।

हमारी समझ में दिगम्बरो में श्रुतकेवली और परम्परित आचार्यों की देशना का मूल-संकलन आगम कहलाया जाता रहा है और इस तथ्य में किसी को मत-भेद भी नहीं है और ना ही मूल को लेकर कोई विरोध है। वर्तमान विरोध तो भावार्थ, विशेषार्थ, खुलासा अर्थ या नवीन पुस्तकों आदि को लेकर है। किसी व्यक्ति या समूह ने किसी मूल को अपनी बुद्धि या मन्तव्यानुसार अपनी भाषा और अपने भावों द्वारा प्रकट कर दिया या वैसे कुछ पुस्तकें लिख दी—उनको लेकर विरोध है।

कहा जा रहा है कि विवादस्थ प्रसंगों को, विद्वानो से निर्णय कराकर निर्णायक कदम उठाया जाय—जैसा वे मान्य करें—वैसा किया जाय, आदि। पर, उक्त कथन कोई वजन नहीं रखता। क्योंकि इस दिशा में कई बार ऐसे प्रयत्न होते रहे हैं। खानियां में कई विषयों पर जाने माने उद्भट विद्वानों की लिखित चर्चा भी हुई—वह चर्चा छपाई भी गई। बाद को भी समर्थन और विरोध में काफी ऊड़ापोह होता रहा और आज भी वही स्थिति है, विद्वानों

के दो खेमों में बँटे होने से भी कोई निर्णय नहीं। आज के समय में प्राचीन या नवीन कोई ज्ञाता और निष्पक्ष सैद्धा-न्तिक जज भी ऐसा नहीं जिसे सब मान देते हों और ना ही कोई निष्पक्ष, अग्रगण्य नेता ही है जिसका आदेश चलता हो। ऐसी स्थिति में निर्णय कैसे हो?

सब जानते हैं कि दि० जैनियों में ऐसा कोई आगम उपलब्ध नहीं है, जिसे साक्षात् रूप में गणधर की देशना कहा जा सके*। यहाँ तो परम्परित आचार्यवयों द्वारा वद्ध गाथाओं, सूत्रों, श्लोकों गद्य-पद्यात्मक व्याख्याओं को ही आगम मानने का प्रचलन रहा है—सभी मूल-ग्रन्थ आगम है और इन्हीं के पढ़ने-पढ़ाने की परिपाटी रही है। सम-सामयिक विद्वान् इनका वाचन करके श्रोताओं को अपनी भाषा में अपनी बुद्धि के अनुसार मौखिक रूप में उसकी व्याख्या सुनाते रहे हैं। वे ये भी सकेत देते रहे हैं कि जो व्याख्यान वे कर रहे हैं वह उनकी अल्पबुद्धि से ही कर रहे हैं—विशुद्ध-अर्थ और भाव तो श्रुतकेवली या परम्परित आचार्य और आगमज्ञ ही जानें।

कालान्तर में जब विद्वान् गण में लेख की परम्परा चली और वे मूल को अपनी भाषा में व्याख्या, विशेषार्थ, भावार्थ आदि के रूपों में लिपिबद्ध करने लगे तो उसे भी मूलग्रन्थ के साथ जोड़ा जाने लगा और वह भाग भी आगम कहलाया जाने लगा और आज ऐसे ही लेखन किसी रूप में विवाद के विषय बन रहे हैं। बात भी सच है कि आगम तो मूल है—श्रुतकेवली और परम्परित आचार्यों द्वारा कृत है। भावार्थ, विशेषार्थ और व्याख्या आदि तो अल्पज्ञों की अपनी समझ के परिणाम हैं और उनकी प्रामाणिकता की भी कोई गारण्टी नहीं की जा सकती। फिर भी येन-केन प्रकारेण यदि हम ऐसा मान भी लें कि यह सब भी आगम हैं तो सभी रूपान्तरकारों को उन आगमों के निर्माता

❧ 'जिणिन्दमुहाओ विणिगयतार, गणिद विगुम्फिय गंथ-पयार ।'

'तीर्थंकर की धुनि, गणधर ने सुनि, अंग रचे चुनि ज्ञानमयी ।

सो जिनवर वाणी.....॥'

होने से श्रुतकेवली और परम्परित आचार्यों में मानना होगा—जबकि हम ऐसा मानने को तैयार नहीं। फलतः—

हमारी दृष्टि में विवाद शान्त करने और आगम को स्वस्थरूप में सुरक्षित रखने का एक ही उपाय है कि मन्दिरों में मूल के सिवाय कोई भी वह कृति न रखी जाय जो किन्हीं परम्परित आचार्यवर्य की न हो। किन्तु ऐसी प्रक्रिया से अनुवादकगण सहमत हो सकेंगे और वे अपने लेखन को आगम-बाह्य होने जैसे तथ्य को स्वीकार कर सकेंगे, इसमें सन्देह है। दूसरी समस्या यह है कि विवाद-शान्त होने पर नेतागण को क्या काम रह जायगा? उन्हें तो काम चाहिए, वे कोई दूसरा मोर्चा सँभाल लेंगे। तो वहाँ भी फजीता ही खड़ा हो जायगा।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात ये है कि—यदि मन्दिरों में मूल मात्र ही सुरक्षित रहा, तो मूल भाषा से अनभिज्ञों का

क्या होगा? वे कैसे स्वाध्याय करेंगे? क्या उन्हें मन्दिरों में घूम सुनाने-पढ़ाने के लिए पंडितों का निर्माण करना पड़ेगा? सभी जानते हैं कि इस युग में पंडितों की संख्या में ह्रास हो रहा है। सभी बातें सोचने की हैं।

उक्त स्थिति के अनुसार यदि हम तीन मंत्रों को अपना ले तो समस्या हल हो सकती है। वे मंत्र हैं—

१. विसर्जन—अनुवादक और व्याख्याकार आचार्यपद-प्राप्ति के मोह का विसर्जन करें।
२. अन्वेषण—नेतृत्व के मोही नवीन उपयोगी अन्य कार्य का अन्वेषण करें।
३. उत्पादन—दि० जैन समाज विद्वानों का उत्पादन करें। आपकी समझ में अन्य और क्या उपाय हैं? जरा सोचिए!

—सम्पादक

(पृ० २१ का शेषार्थ)

क्या लिखें कि—शास्त्रों में प्रथमतः लिपिबद्ध 'कसाय-पाहुडसुत्त' जो मान्य आचार्य का है, उसमें भी अहिंसा शब्द एक बार भी देखने को नहीं मिला जब कि पूरा शास्त्र अपरिग्रह और परिग्रह (कर्मानुदय और कर्मोदय) जैसे प्रसंगों से पूर्ण है। सहस्रनामों में भी 'जिन' को अहिंसक जैसे विशेषण से विशिष्ट नहीं किया गया। अस्तु!

जिनमार्ग में चारित्र्य के आधार पर उसके पालकों को श्रावक और मुनि  जैसी दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है वह परिग्रह और अपरिग्रह की अपेक्षा में किया गया है वह परिग्रह और अपरिग्रह की अपेक्षा में किया गया है—परिग्रह की मर्यादा में श्रावक होता है और मुनि अपरिग्रही। यहाँ भी 'विरत' शब्द की मुख्यता है—'देश सर्वतोऽणू महती।' देश-विरत को अणुव्रती और सर्वतः विरत को महाव्रती कहा गया है। उक्त प्रसंग में अहिंसा

आदि से तर-तम रूप में रति करने वाला अणु या महाव्रती है, —ऐसा कहीं नहीं कहा गया। उक्त स्थिति होने पर भी हम व्रत की शत्रु की भूत 'रति' की प्रमुखता देने के अभ्यासी बन अपने को अहिंसा आदि से रति करने की ओर मोड़ने में लगे हैं और अपरिग्रह से नाता तोड़ रहे हैं; यह आश्चर्य ही है।

इसी प्रकार जिन शासन में राग (रति) की गणना परिग्रहों में की गई है और राग को सभी पापों में कारणभूत माना गया है और अहिंसक या निष्पाप बनने के लिए राग-रूप परिग्रह के त्याग पर ही बल दिया गया है। एक तथ्य यह भी है कि 'राग' चारित्र्य मोहनीय की प्रकृति है और चारित्र्य मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम आदि के बिना, वीतरागता रूप संयम में श्रद्धा-रूप आचरण का प्रादुर्भाव भी नहीं हो सकता। ऐमें में तथ्य क्या है? इसे पाठक विचारें।—

॥ कालक्रम से जब लोगों की ग्रहण और धारणा शक्ति का ह्रास होने लगा, तब श्रुतरक्षा की भावना से प्रेरित होकर कुछ विशिष्ट ज्ञानी आचार्यों ने उस विस्तृत श्रुत, के विभिन्न अंगों का उपसंहार करके उसे गाथा सूत्रों में निबद्ध कर सर्वसाधारण में उनका प्रचार जारी रखा। इस प्रकार के उपसंहृत एव गाथा-सूत्र

निबद्ध द्वादशांग जैन वाङ्मय के भीतर अनुसन्धान करने पर ज्ञात हुआ है कि कसाय पाहुड ही सर्वप्रथम निबद्ध हुआ है। इससे प्राचीन अन्य कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं है।' —कसाय पाहुड सुत्त, प्रकाशकीय

 बुद्धि संजय चरण सायार सह णिरायारं।

सायारं समंथे पणिहृ रहिए णिरायारं ॥ च० प्रा० २१

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द ।	...	४-५०
जैनपञ्च-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	...	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । स. पं० परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	१५-००	
समाधिस्तम्भ और इष्टोपदेश : ग्रन्थात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०	
अवधालेखगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	...	३-००
न्याय-दीपिका : द्वा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ।	१०-००	
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द ।	७-००	
कसायपाहुडमुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	...	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	७-००	
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००	
भाषक धर्म संहिता : श्री दरयाबसिंह सोधिया	५-००	
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००	
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	२-००	
मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	...	२-००
Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942)	Per set	600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक— बाबूलाल जैन बक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेंसी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३
के मुद्रित ।

बीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० २

अप्रैल-जून १९८६

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	जिनवाणी-महिमा	१
२.	अपभ्रंश कविश्री जोद्धु का साहित्यिक अवदान — डा० आदित्य प्रचडिया	२
३.	वर्णी वाणी से	४
४.	आचार्य सोमदेव की आर्थिक विचारधारा — श्री चन्द्रशेखर एम० ए०	५
५.	प्राच्य भारतीय भाषाओं में पाश्वर्नाथ चरित की परम्परा — डा० राजाराम जैन, आरा	६
६.	जैन विद्याओं में शोध एक सर्वेक्षण — डा० नन्दलाल जैन, रीवाँ	१५
७.	धर्मसार सतसई : श्री कुन्दनलाल जैन दिल्ली	१६
८.	उड़ीसा में प्राचीन गुफाओं में दर्शित जैनधर्म एव भारत— श्री हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा	२४
९.	मुकेतु श्रेष्ठी की कथा	२५
१०.	संस्थाओं की सुरक्षा : टेढ़ा प्रश्न — श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	२७
११.	जरा सोचिए : आगम रक्षा एक समस्या — सम्पादकीय	२६
१२.	महापाप : परिग्रह—प० जुगलकिशोर	आ०पृ० २

प्रकाशक

बीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

महापाप : परिग्रह

परिग्रह को लोक में हिंसादिक पापों की दृष्टि से नहीं देखा जाता, सभी उसकी चकाचौंध में फँसे हैं, सभी उसके इच्छुक हैं और सभी अधिकाधिक रूप से परिग्रहधारी बनना चाहते हैं। ऐसे अपरिग्रही सच्चे साधु भी प्रायः नहीं हैं जो अपने आचरण-बल और सातिशय वाणी से अपरिग्रह के महत्त्व को लोक-हृदयों पर भले प्रकार अंकित कर सकते—उन्हें उनकी भूल सुझा सकते, परिग्रह से उनकी लालसा, गृह्यता एवं आसक्तता को हटा सकते, अनासक्त रहकर उसके उपभोग करने तथा लोकहितार्थ वितरण करते रहने का सच्चा सजीव पाठ पढ़ा सकते। कितने ही साधु तो स्वयं महापरिग्रह के धारी हैं—मठाधीश, महन्त-भट्टारक बने हुए हैं, और बहुत से परिग्रह भक्त मेंठ साहूकारों की केवल हाँ में हाँ मिलाते वाले हैं, उनकी कृपा के भिखारी हैं, उनकी असत् प्रवृत्तियों को देखते हुए भी सदैव उनकी प्रशंसा के गीत गाया करते हैं—उनकी लक्ष्मी, विभूति एवं परिग्रह की कोरी सराहना किया करते हैं। उनमें इतना आत्मबल नहीं आत्मतेज नहीं, हिम्मत नहीं, जो ऐसे महापरिग्रही धनिकों की आलोचना कर सकें—उनकी त्याग-शून्य निर्गल धन-दीलन के संग्रह की प्रवृत्ति को पाप या अपराध बतला सकें। इस प्रकार जब सभी परिग्रह की कीमत में थोड़े बहुत धर्म हुए हैं—सने हुए हैं, तब फिर कौन किसी की तरफ अँगुली उठावे और उसे अपराधी अथवा पापी ठहरावे ? ऐसी हालत में परिग्रह को आमतौर पर यदि पाप नहीं समझा जाता और न अपराध ही माना जाता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

× × × ×

परिग्रह के हाने पर उसके संरक्षण-अभिवर्धनादि की ओर प्रवृत्ति होती है; संरक्षणादि करने के लिए अथवा उसमें योग देते हुए हिंसा करनी पड़ती है, झूठ बोलना पड़ता है, चोरी करनी होती है, मैथुनकर्म में वित्त देना पड़ता है, वित्त प्रक्षिप्त रहना है, क्रोधादिक कषायें जाग उठती हैं, राग-द्वेषादिक सताते हैं, भय सदा घेर रहता है, गौडध्यान बना रहता है, तृष्णा बढ़ जाती है, आरम्भ बढ़ जाते हैं, नष्ट होने अथवा क्षति पहुँचने पर शोक-गन्ताप आ दबाते हैं, चिन्ताओं का ताँता लगा रहता है और निराकुलता कभी पास नहीं फटती।

× × × ×

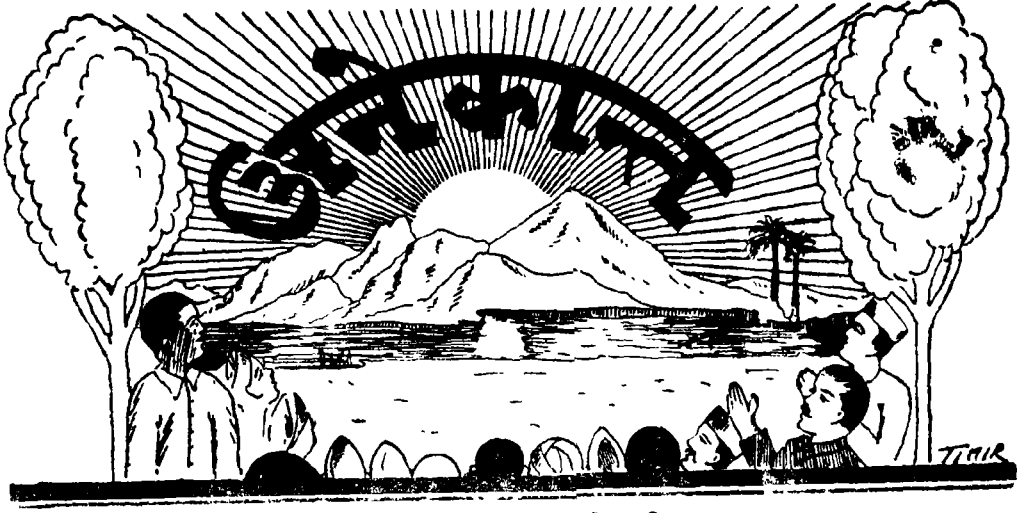
मैंने अपनी जरूरत से अधिक परिग्रह का संचय करके दूसरों को उसके भोग-उपभोग से वंचित रखने का अपराध किया है, उसके अर्जन-वर्धन रक्षणादि में मुझ कितने ही पाप करने पड़े हैं, उसका निर्गल बढ़ते रहना पापका—आत्मा के पतन का कारण है।

× × × ×

“परिग्रह को ग्रह-पिशाच के सदृश समझ कर, जो उसका अतिसंग—अत्यासक्ति को लिए हुए सेवन या अतिसंचय—नहीं करना और आवश्यकता से अधिक परिग्रह का दान करके अपने आत्मा में शुद्धि बनाये रखना है वही ससार में सुखी तथा वृद्धि को प्राप्न होता है।”

—पं० जुगलकिशोर ‘मूलतार’ के विचार

ओम् अहम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितांतां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६
किरण २

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवन् २५११, वि० स० २०४३

अप्रैल-जून
१९८६

जिनवाणी-महिमा

नित पीजो धी-धारी ।

जिनवानि सुधासम जानके नित पीजो धी-धारी ॥
वीर-मुखारविन्द तें प्रगटी, जन्म जरा गद-टारी ॥
गौतमादिगुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ॥
सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी ॥
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ॥
कल्याणकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी ॥
बन्धविदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ॥
स्वपरस्वरूप प्रकाशन को यह, भानु-कला अविकारी ॥
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन सुवारी ॥
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ॥
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥
कोटि जीभ सौ महिमा जाकी, कहि न सके पविधारी ॥
बौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ॥

□□

अपभ्रंश कविश्री जोइन्दु का साहित्यिक अवदान

□ डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति', अलीगढ़

छठी शती के अपभ्रंश कवयिता जोइन्दु शात, उदार एवं विशुद्ध अध्यात्मवेत्ता थे। जैन परम्परा में दिगम्बर आम्नाय के आप मान्य आचार्य थे और ये उच्च कोटि के आत्मिक रहस्यवादी साधक। रूढ़ि विरोधी नवोन्मेष शालिनी शक्तियों की सघर्षात्मक धार्मिक अभिव्यक्ति के कविश्री प्रकृष्ट निदर्शन थे। आपके काव्य में आत्मानुभूति का रस लहराता है। पारिभाषिक शब्दों की अध्यात्म-परक अर्थव्यञ्जना कवि काव्य की प्रमुख उपादेय विशेषता है।

अपभ्रंश का 'दोहा' लाडला छंद है। अपनी अध्यात्मवादी विचारणा की अभिव्यञ्जना में कविश्री जोइन्दु ने ही सर्वप्रथम 'दोहाशैली' को अपनाया है। ममन्वय की उदात्तभावना से अनुप्राणित आपकी दो रचनाएँ हैं— 'परमप्य-पयामु' अर्थात् परमात्मप्रकाश और जोगसार अर्थात् योगसार। दोनों ही अपभ्रंश कृतियाँ अधिकांशतः दाहा छंद में ही हैं। 'परमात्मप्रकाश' प्रश्नोत्तर शैली में आत्मा का प्रकाशन करता है। भट्ट प्रभाकर नाम के त्रिज्ञासु शिष्य ने कविश्री के सम्मुख मनार के मुख की समस्या रखी। यथा—

गउ ससारि वसंताहँ सामिय कालु अणतु ।
पर मइँ कि पि ण पत्तु मुहु दुक्खु जि पत्तु महतु ॥
घउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमपउ कोइ ।
चउ-गइ-दुक्ख-विणासयक कहहु पसाँ सो वि ॥

(परमात्मप्रकाश १।६-१०)

'परमात्मप्रकाश' इस समस्या का सुन्दर समाधान है। इस ग्रंथ में मधुर, सरल आत्मा की अनुभूतियाँ ही तरंगित हैं। यह दो अधिकारों (मार्ग) में विभक्त है। प्रथम अधिकार में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप, निकल और सकल परमात्मा का स्वस्वा, जीव के स्वशरीर प्रभाग की चर्चा और द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म निश्चय,

सम्यक्दृष्टि, मिथ्यात्वादि का वर्णन है तो द्वितीय अधिकार में मोक्ष स्वरूप, मोक्षमार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव, पाप-पुण्य की समानता, मोक्षफल और परमसमाधि का उल्लेख है।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से कवि काव्य में अद्वैत के अभिदर्शन होते हैं। कविश्री का 'जिन' शिव और बुद्ध भी है। आपके द्वारा निरूपित परमात्मा की परिभाषा में केवल जैन ही नहीं अपितु वेदांत, मीमांसक और बौद्ध भी समा सके हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों से आत्मा का वास्तविक रहस्य समझना ही कविश्री का अभीष्ट रहा है। आपने जैनैतर शब्दावलि का व्यवहार भी किया है। आप जहाँ पारिभाषिक तथ्यों का जिक्र करते हैं वहाँ कविश्री रूढ़ हो जाते हैं। विषयों की निस्सारता और क्षणभंगुरता का उपदेश देने हुए भी कविश्री ने कही पर भी कामिनी, कचन और गृहस्थ जीवन के प्रति कटुता प्रदर्शित नहीं की है। कविश्री ने अनेक उपासों और दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी भावाभिव्यक्ति को सरल, सुबोध और सुस्पष्ट बनाया है। उपमा और दृष्टान्तों में आपके उपमान सामान्य जीवन की घटनाओं और दृश्यों से चयनित हैं। यथा—

रागँ रगिण हिय वडए देउ ण दीसइ संतु ।

दप्पणि मइलए बिबु जिम एहुउ जाणि णिभतु ॥

(परमात्म प्रकाश १।१२०)

अर्थात् राग रति हृदय में शांत देव इसी प्रकार नहीं देखता जिम प्रकार मलिन दर्पण में प्रतिबिम्ब। यह निश्चय जानिए। 'परमात्मप्रकाश' में श्लेषालंकार के भी अभिदर्शन होते हैं। यथा—

तलि अहि रणि वरि घण-वडणु संडस्सय-लुंचोडु ।

लोहह लग्गिबि हुयवहँ पिकखु पडतउ तोडु ॥

(परमात्मप्रकाश २।११४)

अर्थात् लोहे का सम्बन्ध पाकर अग्नि नीचे रखे हुए

अहरन (निहाई) के ऊपर घन की चोट, सडासी से खीचना, चोट लगने से टूटना आदि दुखों को सहती है। अर्थात् लोहे की सगति से लोक प्रसिद्ध देवतुल्य अग्नि दुख भोगती है इसी तरह लोह अर्थात् लोभ के कारण परमात्म तत्त्व की भावना से रहित मिथ्या दृष्टि वाला जीव घनात सदृश नरकादि दुखों को भोगता है।

अलंकार प्रयोग की यह परस्पर उपनिषद्, गीता आदि सभी भारतीय आध्यात्मिक ग्रंथों में मिलती है। 'परमात्मप्रकाश' की भाषा अधिक समास-बहुल, जटिल तथा 'णत्व' बिधान बहुल दिखाई पड़ती है। वाग्धाराओं और लोकोक्तिओं के व्यवहार से भाषा सीढ़ी-ढाल म बढ़ान हुआ है।^{१०} वस्तुतः 'परमात्मप्रकाश' ज्ञान गरिष्ठ और विचारप्रधान है। इसमें कुल ३४५ पद्य हैं— प्रथम अधिकार में १२६ और द्वितीय अधिकार में २१९ हैं जिनमें ५ गाथाएँ, एक स्रग्धरा, १ मालिनी, १ चतुष्पदिका और शेष सभी दोहे हैं। पुनरुक्ति होते हुए भी इस ग्रन्थ का विषय विशुद्ध नहीं है। 'परमात्मप्रकाश' के टीकाकार ब्रह्मदेव कहते हैं—'अत्र भावना ग्रंथे समाधिशनकवत् पुनरुक्त दूषण नास्ति।' 'परमात्मप्रकाश' पर ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका और पं. दीनलाल राम की हिन्दी टीका महत्वपूर्ण हैं।^{११}

कविश्री जोइन्दु की दूसरी रचना 'योगसार' है जो कि 'परमात्मप्रकाश' की अपेक्षा अधिक सरल और मुक्त रचना है। विषय विवेचन में क्रमबद्धता का अभाव है। अपभ्रंश का यह ग्रन्थ वस्तुतः 'परमात्मप्रकाश' के विचारों का अनुवर्तन है जो सुबोध और काव्योन्नत ढंग से वर्णित है। १०८ छंदों की इस लघु रचना में दोहों के अतिरिक्त पैरवाई और दो सोंरठों का भी निर्वाह हुआ है।

'योगसार' में 'कविश्री जोइन्दु ने आध्यात्मचर्चा की गूढ़ता को बड़ी ही सरलता से व्यञ्जित किया है जिनमें उनके सूक्ष्मज्ञान एवं अद्भुत अनुभूति का परिचय मिलता है। यथा—

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सब्बु इ को विमुण्डे ।

जो पुणु वि पाउ वि भणइ सो घुह को विहवेइ ॥

अर्थात् जो पाप है उसको जो पाप जानता है, यह तो सब कोई जानते हैं किन्तु जो पुण्य को ही पाप कहता है, ऐसा पंडित कोई विरला होता है। ग्रंथ के प्रणयन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कविश्री जोइन्दु कहते हैं कि ससार से भयभीत और मोक्ष के समुत्सुक प्राणियों की आत्मा को जगाने के लिए मैंने इन दोहों का सृजन किया है। यथा—

समारह भय भोयएण जोगिचन्द मुणिएण ।

अप्पा सबोहण कया दोहा इक्क मणेण ॥

(योगसार ३. १०८)

'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' ग्रन्थों का प्रकाशन श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला से डा० ए० एन० उपाध्ये के सम्पादन में सम्पन्न हो चुका है।^{१२} 'योगसार' पर ब्र० शीतलप्रसाद ने सविस्तार टीका लिखी है जो सन् १९५२ में गुना से प्रकाशित हुई है।^{१३}

कविश्री जोइन्दु ने ब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि का माहक विवरण जनसामान्य की भाषा में प्रस्तुत कर अपनी उदार मनोवृत्ति का परिचय दिया है। वस्तुतः मुनिश्री जोइन्दु अपभ्रंश साहित्य के महान् आध्यात्मवादी कवि कोविद हैं जिन्होंने क्रांतिकारी विचारों के साथ-साथ आत्मिक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा कर मोक्षमार्ग की उपादेयता सिद्ध की है। कविश्री जोइन्दु की वाणी में अनुभूति का वेग एवं तत्त्वज्ञान की गम्भीरता समाविष्ट है। कविश्री का प्रभाव अपभ्रंश कवियों तथा साथ-साथ हिन्दी के सन कवियों पर भी पड़ा है। कबीर के क्रांतिकारी विचारधारा का मूलस्रोत कविश्री जोइन्दु का काव्य है। अपभ्रंश वाङ्मय का रहस्यवाद निरूपण में मुनिश्री जोइन्दु का स्थान सर्वोपरि है तथा भावधारा, विषय, छंद, शैली की दृष्टि से कविश्री जोइन्दु का साहित्यिक अवदान महनीय है।

मंगलकलश

३६४, सर्वोदयनगर आगरा रोड,

अलीगढ़-२०२००१ (उ० प्र०)

संदर्भ-संकेत

१. (क) 'परमात्मप्रकाश' की भूमिका, श्री ए. एन. उपाध्ये पृ० ६७।

(ख) 'अपभ्रंश काव्यमयी' की भूमिका, श्री गांधी, पृ० १०२-१०३।

(ग) अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डा० देवेन्द्रकुमार जैन, पृ० ८०।

२. जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, श्री रामसिंह सोमर प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ४६८।

वर्णो-वाणो से

“अनेक पाप हैं लेकिन सबसे बड़ा पाप परिग्रह ही है। यह सबके मन चंचल बना देता है। इसकी दशा गुड़ के समान है। एक बार गुड़ ने सोचा कि जो देखो वही मुझे खा जाता है यदि सूखा होता हूं तो डली की डली लोग खा जाते हैं, यदि कुछ गीला हो जाता हूं तो पकवान बनाकर लोग खा लेते हैं और कहीं अधिक पतला हो गया—राव बनकर बहने लगा तो तमाखू पीने वाले गुड़ाखू बना-कब पी जाते हैं, इस प्रकार तो संसार में जीना बड़ा कष्ट का है। ऐसा विचार कर वह परमेश्वर के सामने गया और बोला—भगवन्, आप तो सबकी रक्षा करने वाले हैं। मैं भी सबमे से एक हूं अतः मेरी भी रक्षा करो; जो देखो वही मुझे चट कर जाता है। गुड़ की प्रार्थना सुनकर परमेश्वर चुप हो रहे। पांच मिनट बाद गुड़ ने फिर पूछा—महाराज, क्या आज्ञा होती है? तब परमेश्वर ने कहा—जा, भाग जा, तुझे देख मेरे मुंह में भी पानी आ गया। सो मैया, परिग्रह ऐसी ही चीज है। सबके मन को लुभा लेता है। अतः ऐसा अभ्यास करो जिसमें उससे तुम्हारा सम्बन्ध छूटे।”

× × × ×

‘मेरा यह दृढ़तम विश्वास हो गया है कि धनिक वर्ग ने पण्डितवर्ग को बिल्कुल ही पराजित कर दिया है। यदि उनको कोई बात अपनी प्रकृति के अनुकूल न रुचे तब वे शीघ्र ही शास्त्र-विहित पदार्थ को भी अन्यथा कहलाने की चेष्टा करते हैं।’ २०-६-५१

(पृ० ३ का शेषांश)

३. दोहाकोष, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५।
४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० २४८।
५. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डा० नामवर-सिंह, पृ० २१७।
६. जैन शोध और समीक्षा, डा० प्रेमसागर जैन, पृ० ५६।
७. गुड़ आध्यात्म को व्यक्त करने की दो शैलियां हैं, उपनिषद् में इन्हें अरा और परा विद्या कहते हैं, बौद्धों में परमार्थ और व्यवहार सत्य कहते हैं और जैनो में निश्चय और व्यवहार नय की कल्पना है।
८. (i) मध्यकालीन धर्मसाधना, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४४।
(ii) अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, डा० वासुदेवसिंह, पृ० ४४-४५।
९. अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोष्ठट, पृ० २७०।
१०. परमात्मप्रकाश, २.१३८; २.१४०; २.७४; २.७८।
११. श्री ब्रह्मदेव ईसा की तेरहवीं शती और प० दीलत-राम अठारहवीं शती में हुए।
१२. (अ) अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति, डा० अम्बादत्त पत, पृ० २३६।
(ब) जैन शोध और समीक्षा, डा० प्रेमसागर जैन, पृ० २३६।
१३. ‘योगसार’ की टीका ब्र० शीतल प्रसाद ने १३ जून १९३६ को बम्बई श्राविकाश्रम से लिखी तथा पूज्य-श्री १०८ मुनि विजय सागर जी तथा श्री १०८ मुनि बिमल सागर जी के दिशा निर्देश में संवत् २००६ में गुना (म० प्र०) से प्रकाशित हुई। यह टीका सविस्तार है इसमें एक-एक दोहे की व्यास शैली में व्याख्यायित किया गया है।

आचार्य सोमदेव की आर्थिक विचारधारा

□ चन्द्रशेखर एम० ए०

आचार्य सोमदेव सूरि दिगम्बर सम्प्रदाय के उद्भूत आचार्य थे। उनकी विद्वता में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। उनका ज्ञान बहुमुखी था और वे विविध विषयों के ज्ञाता थे। आचार्य सोमदेव बहुज धर्मशास्त्री महाकवि, दार्शनिक, तर्कशास्त्री एवं अपूर्व राजनीतिज्ञ थे। यशस्विलक चम्पू एवं नीतिवाक्यामृत के अवलोकन से उनके विशाल अध्ययन एवं विविध शास्त्रों के ज्ञाता होने के प्रमाण मिलते हैं। उनकी अलौकिक प्रतिभा पाठकों को चमत्कृत कर देती है सोमदेव सूरि कृत साहित्य के अध्ययन से उनका धर्माचार्य होना निश्चित होता है। धर्माचार्य होने के कारण उनमें उदारता का महान गुण भी दृष्टिगोचर होता है। वे धार्मिक, लौकिक, दार्शनिक सभी प्रकार के साहित्य के अध्ययन के लिए सबको समान अधिकारी मानते हैं।

आचार्य सोमदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का वर्णन किया है। अर्थ को धर्म के समकक्ष स्थान प्रदान करके आचार्य ने प्राचीन परम्परा में एक महान् सुधार किया है। जैन संन्यासी होने हुए भी उन्होंने अर्थ के महत्त्व का भली-भाँति अनुभव किया है। धर्म के उपरान्त अर्थ पुरुषार्थ की व्याख्या करते हुए आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि “जिससे सब प्रयोजनों की सिद्धि हो वह अर्थ है।”

जो मनुष्य सदैव अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार अर्थानुबन्ध (व्यापारिक साधनों से अविद्यमान धन का संचय, संचित की रक्षा और रक्षित को वृद्धि) से धन का उपभोग करता है वह उसका धनाढ्य हो जाता है।¹

नैतिक व्यक्ति को अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने वाला व्यक्ति ही भविष्य में सुखी रहता है। धन के सदुपयोग पर भी नीतिकार ने बहुत बल दिया है। वे लिखते हैं कि जो लोभी पुरुष अपने धन से तीर्थी (सत्पात्रों) का आदर नहीं करता उनको दान नहीं देता उसका धन शहद की मक्खियों के समान अन्य व्यक्ति ही नष्ट कर देते हैं।² मनुष्य को अपने सुखों का बलिदान करके धन सग्रह नहीं करना चाहिए। यह बात नीति के विरुद्ध है। अनेक कष्ट सहन कर धनोपाजन

करना दूसरों का बोझ ढोने के समान है।³ धन की वास्तविक सार्थकता तभी है, जब उससे मन और इन्द्रियों की पूर्ण तृप्ति हो।⁴

कोष का महत्त्व—

राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्यागो में कोष को बड़ा महत्त्व प्रदान किया है। आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि कोष ही राजाओं का प्राण है।⁵ संचित कोष संकटकाल में राष्ट्र की रक्षा करता है। वही राजा राष्ट्र को सुरक्षित रख सकता है जिसके पास विशाल कोष है। संचित कोष वाला राजा ही युद्ध को दीर्घकाल तक चलाने में समर्थ हो सकता है। दुर्ग में स्थित होकर प्रतिरोधात्मक युद्ध को चलाने के लिए भी सुदृढ़ कोष की आवश्यकता होती है। इसलिए कोष को क्षीण होने से बचाने तथा संचित कोष की वृद्धि करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने अनेक उपाय बतलाये हैं। राजनीति के ग्रन्थों में अपने महत्त्व के कारण ही कोष एक स्वतन्त्र विषय रहा है। आचार्य सोमदेव ने भी अन्य आचार्यों की भाँति इस विषय पर भी प्रकाश डाला है। नीतिवाक्यामृत में कोष समुद्देश सम्बन्धी बातों का दिग्दर्शन कराता है।

आचार्य सोमदेव ने कोष समुद्देश के प्रारम्भ में ही कोष की परिभाषा दी है। उनके अनुसार जो विपत्ति और सम्पत्ति के समय राजा के तन्त्र की वृद्धि करता है वह कोष है।⁶ धनाढ्य पुरुष अथवा राजा को धर्म और धन की रक्षा के लिए तथा सेवकों के पालन के लिए कोष की रक्षा करनी चाहिए। कोष की उत्पत्ति राजा के साथ ही हुई है। जैसा कि महाभारत के दम वर्णन से प्रकट होता है—“प्रजा ने मनु के कोष के लिए पशु और हिरण्य का पचासवाँ भाग तथा धान्य का दसवाँ भाग देना स्वीकार किया।”

समस्त आचार्यों ने कोष के महत्त्व को स्वीकार किया है। आचार्य सोमदेव का उपरोक्त कथन—“कोष ही राजाओं का प्राण है”—इसके महान् महत्त्व का द्योतक है। आचार्य सोमदेव आगे लिखते हैं कि जो राजा कोड़ी-कोड़ी करके अपने कोष की वृद्धि नहीं करता उसका भविष्य में कल्याण नहीं होता।⁷ आचार्य सोमदेव लिखते हैं राज्य की उन्नति कोष से होती है न कि राजा के शरीर से।⁸ आगे वे लिखते हैं कि जिसके पास कोष है वही युद्ध

में विजयी होता है।^{११} इस प्रकार आचार्य कोष को राज्य की सवागीण उन्नति एवं उसकी सुरक्षा का अमोघ साधन मानते हैं। कोष वाले राजा को सेवक और सेना सब कुछ सुलभ होसकते हैं। परन्तु कोष विहीन राजा को कोई भी वस्तु नहीं हो सकती।

प्राय-व्यय—सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले न्यायोचित साधन अथवा उपाय, कृषि, व्यापार आदि एवं राज्य द्वारा उचित कर लगाना आदि को कर कहा गया है। स्वामी की आज्ञानुसार धन खर्च करना व्यय है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि राजा अपनी आय के अनुसार ही व्यय करे, क्योंकि जो राजा आय का विचार न करके अधिक व्यय करता है वह कुबेर के समान असख्य धन का स्वामी होकर भी भिक्षुक के समान आचरण करने वाला हो जाता है।^{१२} एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं कि नित्य धन के भय से सुमेरु भी क्षीण हो जाता है।^{१३}

राजकर के सिद्धान्त—प्राचीन काल में कर के कुछ निश्चित गिद्धान्त थे जिनका उल्लेख धर्मशास्त्रों में किया गया है। राजा प्रजा पर कर लगाने में स्वतन्त्र नहीं था, अपितु वह उन्हीं करों को प्रजा पर लगा सकता था जिनका प्रतिपादन स्मृति ग्रन्थों द्वारा किया गया है। आचार्य सोमदेव का मत है कि अधिक कर लगाकर जनता का मूलोच्छेदन करना सर्वथा अनुचित है। जिस प्रकार वृक्ष के काटने से केवल एक बार ही फल प्राप्त हो सकते हैं, भविष्य में नहीं।^{१४} इसी प्रकार यदि जनता पर प्रारम्भ में ही भारी कर लगा दिए जायेंगे तो राज्य को केवल एक बार ही धन प्राप्त हो सकेगा भविष्य में उसे धन की प्राप्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि भारी करों को एक बार अदा करके जनता गरीब हो जायेगी और फिर वह कर देने योग्य नहीं रहेगी। अतः राज्य को कभी लोभ अथवा तृष्णा के वशी-भूत होकर प्रजा पर भारी कर नहीं लगाना चाहिए।

राजकर साधन था न कि साध्य—आचार्य सोमदेव ने कोष वृद्धि में केवल धार्मिक और न्यायिक साधनों का प्रयोग करने की अनुमति प्रदान की है। अधार्मिक साधनों द्वारा कोष वृद्धि का उन्होंने विरोध किया है। वे लिखते हैं कि जब कोषहीन राजा अन्याय-पूर्वक प्रजा से धन ग्रहण करता है तो प्रजा उसका देश

छोड़कर अन्यत्र चली जाती है और इस प्रकार राष्ट्र जन-शून्य हो जाता है।^{१५} बिना प्रजा के राज्य का अस्तित्व भी नहीं रहता। अन्यत्र आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि यदि राजा प्रयोजनाधिकार के दृष्ट प्रयोजन न कर सके तो उसे उनकी भेंट स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से लोक में उसकी हँसी और निन्दा होती है। राजा को अपराधियों के जुमाने से आये हुए, जुआ में जीते हुए, युद्ध में मारे गए, नदी, तालाब और मार्ग आदि में मनुष्यों के द्वारा भूले हुए धन का तथा चोरी के धन का, पति पुत्रादि कुटुम्बियों से विहीन अनाथ स्त्री का अथवा रक्षकहीन कन्या का धन एवं विप्लव आदि के कारण जनता द्वारा छोड़े हुए धन का स्वयं उपभोग कदापि नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के धन का उपयोग प्रजा की भलाई के कार्यों में तो किया जा सकता था किन्तु उसका उपयोग राजा के लिए निषिद्ध था।

प्राय के स्रोत—प्राचीन काल में राज्य की आय के दो प्रमुख स्रोत थे—(१) भूमि कर तथा (२) अन्य वस्तुओं पर लगने वाला कर। राजा की आय का प्रमुख साधन भूमि कर ही था, जो उपज का छठा अंश ही था। आचार्य सोमदेव ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है कि भूमि कर की दर क्या हो। किन्तु नीतिवाक्यामृत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सोमदेव भी भूमि कर के सम्बन्ध में उसी प्राचीन परम्परा को मानते थे। तृतीय समुद्देश के चौबीसवें सूत्र से ज्ञात होता है कि नीतिवाक्यामृत में भी छठे भाग का ही अनुमोदन किया गया है।

आचार्य सोमदेव के अनुसार कृषकों के साथ राजा का व्यवहार उदारतापूर्वक ही होना चाहिए। अनावृष्टि के कारण यदि फसल अच्छी न हो तो उनको लगान में छूट देनी चाहिए या कृषकों को लगान से पूर्णरूपेण मुक्त कर देना चाहिए। कर ग्रहण करने में भी उनके साथ कठोरता का व्यवहार नहीं करना चाहिए। जो राजा लगान न देने के कारण कृषकों की गेहूँ, चावल आदि की अन्नपकी फसल कटवा कर हस्तगत कर लेता है वह उन्हें देश त्याग के लिए बाध्य करता है। जिसके कारण राजा और प्रजा दोनों को ही अधिक सकट का सामना करना

पड़ता है। अतः राजा को कुषकों के साथ इस प्रकार का अग्रयन करना सर्वथा अनुचित है।

आयात और निर्यात कर—नीतिवाक्यामृत में आयात और निर्यात कर का भी उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में भी आचार्य ने कुछ निर्देश दिए हैं। उनका कथन है कि जिस राज्य में अन्य देश की वस्तुओं पर अधिक कर लगाया जाता है तथा वहाँ के राजकर्मचारी बलपूर्वक अल्प मूल्य देकर व्यापारियों से बहुमूल्य वस्तुएँ छीन लेते हैं उस राज्य में अन्य देशों से माल आना बन्द हो जाता है। इससे राज्य की आय का प्रमुख स्रोत समाप्त हो जाता है। अतः बाहर के माल पर अधिक कर नहीं लगाना चाहिए। अल्प कर लगाने से विदेशी व्यापारियों को देश में माल लाने की प्रेरणा मिलती है और वे बहुत सा माल लाते हैं। अधिक आयात होने से उस पर लगने वाले शुल्क से राजा की आय में पर्याप्त वृद्धि होती है।

शुल्क स्थानों की सुरक्षा—किसी देश में बाहर के व्यापारी तभी आ सकते हैं जबकि उनकी सुरक्षा की उचित व्यवस्था हो। यदि शुल्क स्थानों पर अथवा मार्ग में उनको चोर आदि लूट ले या वहाँ के अधिकारी अल्प मूल्य देकर उनकी बहुमूल्य वस्तुएँ हस्तगत कर लें अथवा उनसे उत्कोच आदि लेने का प्रयत्न करें तो वहाँ पर विदेशी व्यापारियों का आना बन्द हो जाता है। इसी कारण आचार्य सोमदेव शुल्क स्थानों की पूर्ण सुरक्षा को अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। उनका कथन है कि राष्ट्र के शुल्क स्थान जो कि न्याय से सुरक्षित होने हैं अर्थात् जहाँ अधिक कर ग्रहण न करके न्यायोचित कर लिया जाता है तथा चोरो आदि द्वारा चुराई गई प्रजा की धनादि वस्तु पुनः लौटा दी जाती है वहाँ पर व्यापारियों को क्रय और विक्रय योग्य वस्तुओं को अधिक दुकानें होने के कारण वे स्थान राजा को कामधेनु के समान अभिलषित वस्तुएँ प्रदान करने वाले होते हैं^{११}।

व्यापारी वर्ग पर राजकीय नियंत्रण—राज्य का अन्तिम लक्ष्य जनता का कल्याण एवं उसकी सर्वतोमुखी उन्नति करना है। व्यापारी वर्ग जन कल्याण के मार्ग में बाधक बन सकता है। अतः उस पर कठोर नियंत्रण रखने का आचार्य सोमदेव ने राज्य को निर्देश दिया है। व्यापार

एवं वाणिज्य पर राजकीय नियंत्रण न होने से व्यापारी वर्ग मनमानी करने लगता है। पदार्थों में मिश्रण, तेल में न्यूनता तथा पदार्थों के मूल्य में वृद्धि करना व्यापारी वर्ग की स्वाभाविक मनोवृत्ति होती है। वणिक्जनों के नाप-तोल में अनियमितता करने तथा मिथ्या व्यवहार के कारण सोमदेव ने उन्हें पश्यतोहर बतलाया है^{१२}। पश्यतोहर शब्द स्वर्णकार के लिए रूढ़ है, किन्तु उनका दूषित प्रवृत्तियों के कारण ही आचार्य सोमदेव ने वणिक्जन को भी पश्यतोहर कहा है। व्यापारी वर्ग को अधिक लाभ लेने से रोकने तथा वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने की ओर भी उन्होंने सकेत किया है^{१३}। व्यापारी वर्ग मूल्य में वृद्धि करने के उद्देश्य से सचित धान्य भण्डारों का विश्रय रोक देते हैं। इससे राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत गम्भीर हो जाती है और जनता को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। अतः आर्थिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिए राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यापार में नाप-तोल की सच्चाई की रक्षा करे। इसके माध्यम ही राज्य में आर्थिक सुव्यवस्था एवं उसके सम्मान की रक्षा के लिए व्यापारी वर्ग में सत्य निष्ठा उत्पन्न करे^{१४}।

जहाँ व्यापारी लेन-देन में झूठ का व्यवहार करते हैं, जहाँ की तुला अविश्वसनीय है, उस देश का व्यापारिक स्तर अन्य देशों की दृष्टि में हीन और अविश्वसनीय हो जाता है^{१५}। इसके परिणाम स्वरूप राज्य के व्यापार को महान् क्षति पहुँचती है। इस कारण व्यापार में सत्यता का पालन परम आवश्यक है। जहाँ पर व्यापारी लोग मनमाना मूल्य बढ़ाकर वस्तुओं को बेचते हैं और कम से कम मूल्य में खरीदते हैं वहाँ की जनता दरिद्र हो जाती है^{१६}। अतः राजा को वहाँ की ठीक व्यवस्था करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र और स्वर्ण आदि पदार्थों का मूल्य देश, काल और पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा से होना चाहिए^{१७}। जो राजा यह जानता है कि मेरे राज्य में या अमुक देश में अमुक वस्तु उत्पन्न हुई है अथवा नहीं उसे देशापेक्षा कहते हैं। इस समय अन्य देश से हमारे देश में अमुक वस्तु का प्रवेश हो सकता है अथवा नहीं इसे कालापेक्षा कहते हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि वह उक्त देश-

कालादि की उपेक्षा का ज्ञान करके समस्त वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करे जिससे व्यापारी लोग मूल्य बढ़ाकर प्रजा को निर्धन न बना सकें।

इसके साथ ही राजा को उन व्यापारियों की परीक्षा भी करते रहना चाहिए जो बहुमूल्य वस्तुओं में मिलावट करने हैं। दो प्रकार की तुना रखते हो तथा नापने तौलने के बाटो आदि में कमी-वैषी करते हो^{८८}। यदि व्यापारी लोग परस्पर की ईर्ष्या के कारण वस्तुओं का मूल्य बढ़ा दें तो ऐसी स्थिति में राजा का यह कर्त्तव्य हो जाता है तो वह बढ़ाये हुए मूल्य को व्यापारी वर्ग से छीन ले और उन्हें केवल उचित मूल्य ही दे^{८९}। यदि किसी व्यापारी ने किसी की बहुमूल्य वस्तु को धोखा देकर अल्प मूल्य में क्रय कर लिया है तो राजा विक्रेता की बहुमूल्य वस्तु पर अपना अधिकार कर ले एवं विक्रेता को उतना मूल्य दे, जितना कि उसने क्रेता को दिया था^{९०}। अन्न संग्रह करने वालों को आचार्य सोमदेव ने राष्ट्र कण्टकों की सूची में रखा है और उन पर पूर्ण नियंत्रण रखने का राजा को आदेश दिया है^{९१}। राजा को उनकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए और उनको कठोर दण्ड देना चाहिए, क्योंकि वे लोग अन्न संग्रह करके मूल्यों में वृद्धि कर देते हैं जिससे जनता को अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। ये लोग अन्न-संकट के उत्पन्न करने वाले हैं। अतः राजा को सदैव इनसे मावधान रहना चाहिए। आचार्य सोमदेव का कथन है कि जो राजा अन्यायो की उपेक्षा करता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है^{९२}। इसके अतिरिक्त आचार्य सोमदेव ने दुर्भिक्ष तथा संकट काल का सामना करने के सम्बन्ध में भी राजा को बहुत सुन्दर

परामर्श दिया है। आचार्य का कथन है कि राजा को धान्य एवं लवण का संग्रह करना चाहिए क्योंकि यही दो वस्तुएँ संकट काल में प्रजा और सेना को जीवित रखती हैं^{९३}। उनका कथन है कि अन्न संग्रह सब संग्रहों से उत्तम है^{९४}। इसका कारण यही है कि अन्न के कारण प्रजा और सेना की जीवन यात्रा चलती है। धान्य संग्रह न करने से होने वाली हानि की ओर भी आचार्य ने संकेत किया है। इस संबंध में सोमदेव ने लिखा है कि जो राजा अपने देश में धान्य-संग्रह नहीं करता और अधिक व्यय करता है तो उसके राज्य में सदैव दुर्भिक्ष रहा करता है^{९५}। अतः राजा को शरद् और ग्रीष्म ऋतु में दोनों फसलों के समय धान्य संग्रह कर लेना चाहिए। यह धान्य दुर्भिक्ष के समय प्रजा को भी उचित मूल्य पर दिया जा सकता है। इस प्रकार जनता संकट काल का सामना आसानी से कर लेती है।

इस प्रकार नीतिवाक्यामृत में राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने, कोष वृद्धि करने, व्यापार एवं वाणिज्य पर नियंत्रण रखने एवं वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी विचार व्यक्त किए गये हैं। सोमदेव ने कृषि, व्यापार एवं पशुधन को राज्य की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला बतलाया है। इससे स्पष्ट होता है कि एक धर्माचार्य होने के साथ-साथ आचार्य सोमदेव एक बहुत बड़े अर्थशास्त्री भी थे। उनके उपर्युक्त आर्थिक सिद्धान्त आधुनिक युग के लिए भी महान् उपयोगी हैं। राज्य की सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था के लिए इनका अनुकरण अत्यन्त आवश्यक है।

—जैन कालिज, बड़ौत

संदर्भ-सूची (नीतिवाक्यामृत)

१. २।१, २. २।२, ३. २।४, ४. ३।५, ५. ३।६, ६. २।१५,
७. २।११,
८. २।१४, १०. २।१७, ११. २।१८, १२. १।६, १८।
१३. ८, ५, १४. १४, २६, १५. २१, ६, १६. १७, ५०,
१७. ६, ५, १८. घ, २४, १६. १६, १५, २०. ८, ११-१२,
२१. १६, २१, २२. ८, १७, २३. ८, १५, २४. १८, १६,

२५. १८, १३, २६. ८, १४, २७. ८, १५, २८. ८, १६;
२६. १८, १८, ३०. ८, १६, ३१. ८, २१, ३२. १८, २७
३३. १८, ७१, ३४. १८, ६६, ३५. ८, ६।
८. यो विपदि सपदि च स्वामिनस्तत्राभ्युदयं कोशयतीति
कोशः।

—महाभारत शान्तिपर्व ६७, २३-२४

प्राच्य भारतीय भाषाओं में पार्श्वनाथ-चरित की परम्परा

□ डा० राजाराम जैन, आरा

संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों में भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन-चरित बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। आगम-साहित्य एवं विविध महापुराणों में उनके अनेक प्रासंगिक कथानक तो उपलब्ध होते ही हैं, उनके अतिरिक्त स्वतन्त्र, सर्वप्रथम एवं महाकाव्य-शैली में लिखित जिनसेन (प्रथम, कृत पार्श्वभृदय-काव्य' (वि० सं० ६वी सदी) एवं वादिराजकृत पार्श्वनाथ-चरितम्' (वि० सं० १०६२) संस्कृत-भाषा में; देवभद्र कृत पासणाहचरिय' (वि० सं० ११६८) प्राकृत भाषा में तथा कवि पद्मकीर्ति कृत पासणाहचरित' (वि० सं० ११८१) अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध है। इन काव्य-रचनाओं से परवर्ती कवियों को बड़ी प्रेरणा मिली और उन्होंने भी विविध कालों एवं विविध भाषाओं में ऐतद्विषयक अनेक रचनाएँ लिखी, जिनमें से विबुध श्रीधर' (वि० सं० ११८६) माणिक्यचन्द्र' (१३वी सदी), भावदेवमूरि' (वि० सं० १३५५), असवाल' (१५वी सदी), भट्टारक सकलकीर्ति' (वि० सं० १५वी सदी), कवि रङ्ग' (वि० सं० १५-१६वी सदी), कवि पद्मसुन्दर' एवं हेमविजय' (१६वी सदी) तथा पण्डित भूधरदास' (१८वी सदी) आदि प्रमुख हैं।

विबुध श्रीधर कृत पासणाह चरित—

'पार्श्वनाथ चरित' सम्बन्धी उक्त रचनाओं में से विबुध श्रीधर कृत 'पासणाहचरित', जो कि अद्यावधि अप्रकाशित है, उस पर प्रस्तुत-निबन्ध में कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है। इसका कथानक यद्यपि परम्परा प्राप्त ही है, किन्तु कथावस्तु-गठन, भाषा, शैली, वर्णन-प्रसंग, समकालीन संस्कृति एवं इतिहास-सम्बन्धी सामग्री की दृष्टि में यह रचना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

मूल प्रति परिचय—

उक्त 'पासणाहचरित' की एक प्रति आमेर शास्त्र

भण्डार जयपुर में सुरक्षित है, जिसमें कुल ६६ पत्र हैं। इन पत्रों की लम्बाई एवं चौड़ाई १०" × ५११" है। उसके प्रत्येक पत्र में १२ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पं० में १५—४० वर्ण हैं। इसका प्रतिलिपि काल वि० सं० १५७७ है। यह प्रति शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखित है।"

प्रत्येक विबुध श्रीधरों की भिन्नाभिन्नता —

जैन-साहित्य में लगभग आठ विबुध श्रीधरों के नाम एवं उनकी लगभग उतनी ही कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। यथा—(१) पासणाहचरित^१, (२) बहुदमाणचरित^२, (३) सूकुमालचरित^३, (४) भविसयत्तकहा^४, (५) भविसयत्तपंचमीचरित^५, (६) भविष्यदत्तपंचमीकथा^६, (७) विश्वलोचनकोश^७, (८) श्रुतावतारकथा^८। इनमें से अन्तिम तीन रचनायें संस्कृत-भाषा में तथा पांचवीं रचना अपभ्रंश भाषा में निबद्ध है। अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर तथा उनके रचनाकालों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि उन चारों कृतियों के लेखक भिन्न-भिन्न विबुध श्रीधर हैं। क्योंकि उनका रचनाकाल वि० सं०..... से..... तक है, जो कि प्रस्तुत पासणाहचरित के रचनाकाल (वि० सं० ११८६) से..... वर्षों के बाद की है। इनका परस्पर में किसी भी प्रकार का मेल नहीं बैठता।

अवशिष्ट प्रथम चार रचनायें अपभ्रंश की हैं। उनकी प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि वे चारों रचनायें एक ही कवि विबुध श्रीधर की हैं, जो विविध आश्रयदाताओं के आश्रय में लिखी गयीं।

कवि परिचय —

सन्दर्भित 'पासणाहचरित' की प्रशस्ति में विबुध श्रीधर ने अपने पिता का नाम गोल्ह एवं माता का नाम वील्हा बतलाया है। इसके अतिरिक्त उसने अपना अन्य किसी भी प्रकार का पारिवारिक परिचय नहीं दिया।

‘पासणाहचरिउ’ की समाप्ति के एक वर्ष बाद प्रणीत अपने ‘वड्डमाणचरिउ’ में भी उसने अपना भाव उक्त परिचय ही प्रस्तुत किया है। वह गृहस्थ था अथवा गृह विरत त्यागी, इसकी उसने कोई भी चर्चा नहीं की। कवि की ‘विबुध’ नामक उपाधि से यह तो अवश्य ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अपनी काव्य प्रतिभा के कारण उसे सर्वत्र सम्मान प्राप्त रहा होगा, किन्तु इससे उसके पारिवारिक जीवन पर कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता। ‘पासणाहचरिउ’ एवं ‘वड्डमाणचरिउ’ की प्रशस्तियों के उल्लेखानुसार कवि ने ‘चंदप्पहचरिउ’^{११} एवं संत ‘जिणसरचरिउ’^{१२} नामक दो रचनाएं और भी लिखी थीं। किन्तु ये दोनों अभी तक अनुपलब्ध ही हैं। हो सकता है कि कवि ने अपनी इन प्रारम्भिक रचनाओं की प्रशस्तियों में स्व-विषयक कुछ विशेष परिचय दिया हो, किन्तु यह सब तो उन रचनाओं की प्राप्ति के बाद ही कुछ कहा जा सकेगा।

काल निर्णय —

विबुध श्रीधर की जन्म अथवा अवसान सम्बन्धी तिथियां भी अज्ञान है। उनकी जानकारी के लिए सन्दर्भ-सामग्री का सर्वथा अभाव है। इतना अवश्य है कि कवि की उपलब्ध निम्न चार रचनाओं की प्रशस्तियों में उनका रचना-समाप्तिकाल अंकित है। इनके अनुसार ‘पासणाहचरिउ’ तथा ‘वड्डमाणचरिउ’ का रचना-समाप्तिकाल क्रमशः वि० सं० ११८६ एवं ११९० तथा सृष्टमालचरिउ एवं भविसयत्तकहा का रचना समाप्तिकाल क्रमशः वि० सं० १२०८ और १२३० है^{१३}। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, ‘पासणाहचरिउ’ एवं ‘वड्डमाणचरिउ’ में जिन पूर्वोक्त ‘चंद’पहचरिउ’ एवं ‘स-जिणसरचरिउ’ नामक अपनी पूर्ववर्चित रचनाओं के उल्लेख कवि ने किए हैं^{१४} वे आद्यावधि अनुपलब्ध ही हैं। उन्हें छोड़कर बाकी उपलब्ध चारों रचनाओं का रचनाकाल वि० सं० ११८६ से १३० तक का सुनिश्चित है। अब यदि यह मान लिया जाय कि कवि को उक्त प्रारम्भिक रचनाओं के प्रणयन में ५ वर्ष लगे हो तथा उसने २० वर्ष की आयु से साहित्य-लेखन का कार्यारम्भ किया हो तब अनुमानतः कवि की कुल आयु लगभग ६३ वर्ष की सिद्ध होती है और जब तक अन्य ठोस सन्दर्भ-सामग्री प्राप्त नहीं होनी, तब तक मेरी दृष्टि

से कवि का कुल जीवन-काल वि० सं० ११६४ से १२३० तक माना जा सकता है।

निवास एवं साधना स्थान तथा समकालीन राजा—

‘पासणाहचरिउ’ की प्रशस्ति में उसने अपने को हरयाणा देश का निवासी बताया है और कहा है कि वह वहां से ‘चंदप्पहचरिउ’ की रचना-समाप्ति के बाद यमुना नदी पार करके ‘ढल्ली आया था’^{१५}। उस समय वहां राजा अनंगपाल तोमर का राज्य था, जिसने कि हम्मीर जैसे वीर राजा को भी पराजित किया था। यथा—णिरुदल वट्टिय हम्मीर वीर.....पास० ११४।२।

१८वीं शदी के अज्ञात कर्तृक ‘इन्द्रप्रस्थ प्रबन्ध’^{१६} नामक ग्रन्थ में उपलब्ध तोमरवंशी १६ राजाओं में से उक्त अनंगपाल १६वां राजा था। इनमें अनंगपाल नाम के ३ राजा हैं जिनमें से प्रस्तुत अनंगपाल तीसरा था। इसने जिस सम्मीर वीर को पराजित किया था प्रतीत होता है कि वह बागडा नरेश हाहुलिराव हम्मीर रहा होगा, जो एक बार हूंका भरकर अग्निदल में जा घुसता था और उसे गैद डालता था। इसी कारण हम्मीर को ‘हाहुलिराव’ की सजा प्रदान की गई थी, जैसा कि ‘पृथिवीराजरासो’ में एक उल्लेख मिलता है :—

“हों वहते हीलन करिय मलकारिय अरि मथ्य।

ताथे विरद हम्मीर को “हाहुलिराव” सुकथ्य ॥

सम्भवतः इसी हम्मीर को राजा अनंगपाल ने हराया होगा। युद्ध में उसके पराजित होते ही उसके साथी अन्य राजा भी भाग खड़े हुए थे। यथा —

सैंधव सोण कीर हम्मीर वि सगरु मेल्लि चल्लिया ॥छ॥

—पास० ४।१३।२

अर्थात् मिन्धु, सोन एवं कीर नरेशों के साथ राजा हम्मीर भी सगरु छोड़कर भाग गया^{१७}।

विबुध श्रीधर ने जिम दिल्ली नगर की चर्चा की है, आधुनिक दिल्ली का ही वह तत्कालीन नाम है। कवि के समय में वह हरयाणा-प्रदेश का ही एक प्रमुख नगर था। ‘पृथिवीराजरासो’ में पृथिवीराज चौहान के प्रसंगों में दिल्ली के लिए ‘दिल्ली’ शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उसमें इम नामहरण की एक मनोरंजक कथा भी कही गई है, जिसे तोमरवंशी राजा अनंगपाल की पुत्री अथवा

पृथिवीराज चौहान की माता ने स्वयं पृथिवीराज को चुनाई थी। उसके अनुसार राज्य की स्थिरता के लिए एक ज्योतिषी के आदेशानुसार जिस स्थान पर कीली गाड़ी गई थी, वह स्थान प्रारम्भ में 'किल्ली' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, किन्तु उस कील को ढीला कर देने से उस स्थान का नाम 'दिल्ली' पड़ गया, जो कालान्तर में दिल्ली के नाम से जाना जाने लगा। १२वीं सदी तक दिल्ली के ११ नामों में से दिल्ली भी एक नाम माना जाता रहा जैसा कि "इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध"³¹ (श्लोक सख्या १४-१५) में एक उल्लेख मिलता है :—

शक्रपन्था इन्द्रप्रस्था शुभकृन् योगिनीपुर ।
दिल्ली दिल्ली महापुर्या जितानाथाद इष्यते ॥
सुषेण महिमायुक्ता शुभाशुभकरा इति ।
एकादश मित नामा दिल्ली पुरी च वर्तते ॥

इस प्रकार पासणाहचरित में राजा अनंगपाल, राजा हम्मीर-वीर एवं दिल्ली के उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन सन्दर्भों तथा समकालीन साहित्य एवं इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन से मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कई प्रच्छन्न अथवा जटिल रस्यों का उद्घाटन सम्भव है।

आश्रयदाता नट्टल साहू—

जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि प्रस्तुत रचना की आद्य-प्रशस्ति के अनुसार कवि अपनी 'चदपहचरित' की रचना-समाप्ति के बाद असह्य कार्य-व्यस्त ग्रामों वाले हरयाणा-प्रदेश को छोड़कर यमुना नदी पारकर दिल्ली आया था, तथा वहाँ राजा अनंगपाल के एक मन्त्री साहू अल्हण से उसकी सर्वप्रथम भेंट हुई। साहू अल्हण उसका 'चदपहचरित' का पाठ सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि उसने कवि को नगर के महान् साहित्य रसिक एवं प्रमुख सार्यवाह साहू नट्टल से भेंट करने का आग्रह किया, किन्तु कवि बड़ा सकौची था। अतः उसने उनसे भेंट करने की अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा कि—“हे साहू, ससार में दुर्जनों की कमी नहीं, वे कूट-कपट को ही विद्वत्ता मानते हैं, सज्जनों से ईर्ष्या एवं विद्वेष रखते हैं तथा उनके सद्-गुणों को असह्य मानकर उनसे दुर्व्यवहार करते हैं। वे

उन्हे कभी तो मारते हैं और कभी टेढ़ी-मेढ़ी आंखें दिखाते हैं अथवा कभी वे उनका हाथ, पैर अथवा सिर ही तोड़ देते हैं। किन्तु मैं तो ठहरा सीधा, सादा, सरल स्वभावी, अतः मैं किसी के घर जाकर उससे नहीं मिलना चाहता”।

किन्तु अल्हण साहू के पूर्ण विश्वास दिलाने एवं बार-बार आग्रह करने पर कवि साहू नट्टल के घर पहुँचा तो वह उसके मधुर-व्यवहार से बड़ा सन्तुष्ट हुआ। नट्टल ने कवि को प्रमुदित होकर स्वयं ही आसन पर बैठाया और सम्मान-सूचक ताम्बूल प्रदान किया। उस समय नट्टल एवं श्रीधर दोनों के मन में एक साथ एक ही जैसी भावना उदित हुई। वे परस्पर में सोचने लगे कि :—

ज पुंनव जम्मि पविरइउ किपि इह विहिवसेण परिणवइ तंपि
[१८।६]

अर्थात् “हमने पूर्वभ्रम में ऐसा कोई सुकृत अवश्य किया था, जिसका आज यह मधुर फल हमें मिल रहा है।”

साहू नट्टल के द्वारा आगमन-प्रयोजन पूछ जाने पर कवि ने उत्तर में कहा—“मैं अल्हण साहू के अनुरोध से आपके पास आया हूँ। उन्होंने मुझसे आने की गुणों की चर्चा की है और बताया है कि आपने एक ‘आदिनाथ-मन्दिर’ का निर्माण कराकर उस पर “पचरगे झण्डे” को फहराया है। आपने जिस प्रकार उस भव्य मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई है, उसी प्रकार आप एक “पार्श्वनाथ-चरित” की रचना कराकर उसे भी प्रतिष्ठित कराइए जिससे आपको पूर्ण सुख-समृद्धि प्राप्त हो सक तथा कालान्तर में जो मोक्ष-प्राप्ति का कारण बन सके। इसके साथ-साथ आप चन्द्रप्रभ स्वामी की एक मूर्ति अपने पिता के नाम से उस मन्दिर में प्रतिष्ठित कराइए”। कवि के कथन को सुनकर साहू नट्टल ने तत्काल अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

कुछ भ्रान्तियाँ—

कुछ विद्वानों ने ‘पासणाहचरित’ के प्रमाण देते हुए नट्टल साहू द्वारा दिल्ली में पार्श्वनाथ मन्दिर के निर्माण कराए जाने का उल्लेख किया है³² और विद्वज्जगत में अब लगभग वही धारणा बनती जा रही है, जबकि वस्तुस्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। यथार्थतः नट्टल से दिल्ली में पार्श्व,

नथ मन्दिर नहीं आदिनाथ जिन मन्दिर का निर्माण कराया था जैसा कि आद्य-प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख मिलता है :—
तित्ययव पट्टावियउ जेण पढमव को भणियई सरिसु तेण ।

[१।६।६]

कारादेवि णाहेयो णिकेउ पविइणु पंचवण सुकेउ ।
पव्वं पुणु पव्वट्टु पविरइय जेम पासहो चरित्तु जइ पुणु वितेम ॥
पास० १।६।१-२

अर्थात् आपने नाभेय-निकेत [आदिनाथ जिनमन्दिर] का निर्माण कराकर उस पर पांच वर्ण वाले ध्वज को फहराया है। जिस प्रकार आपने उक्त मन्दिर का निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा कराई है, उसी प्रकार यदि मैं 'पार्श्वचरित' की रचना करूँ तो आप उसकी भी उसी प्रकार प्रतिष्ठा कराइये।

उक्त वार्त्तालाप कवि श्रीधर एव नट्टल साहू के बीच का है। उस कथन में पार्श्वनाथचरित नामक ग्रन्थ के निर्माण एवं उसके प्रतिष्ठित किए जाने की चर्चा तो अवश्य आई है, किन्तु पार्श्वनाथ के मन्दिर के निर्माण को कोई चर्चा नहीं और कुतुबुद्दीन ऐबक ने नट्टल साहू द्वारा निमित्त जिस विशाल जैन मन्दिर को ध्वस्त करके उस पर "कुव्वत-उल्ल-इस्लाम" नाम की मस्जिद का निर्माण कराया था, वह पार्श्वनाथ का नहीं आदिनाथ का मन्दिर था^{११}। पार्श्वनाथ-मन्दिर के निर्माण कराए जाने के समर्थन में विद्वानों ने जो भी सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं उनमें से किसी एक से भी उक्त तथ्य का समर्थन नहीं होता^{१२}। प्रतीत होता है कि पार्श्वचरित को ही भूल से पार्श्व-मन्दिर मान लिया गया जो सर्वथा भ्रमात्मक है। इसमें सुधार होना अत्यावश्यक है।

इसी प्रकार साहू नट्टल को अल्हण साहू का पुत्र^{१३} मान लिया गया, जो कि सर्वथा मिथ्या है। मूलग्रन्थ का विधिवत् अध्ययन न करने अथवा उनकी भाषा को न समझने या आनुमानित आधारों पर प्रायः ऐसी ही भ्रमपूर्ण बातें कह दी जाती हैं जिनसे यथार्थ तथ्यों का क्रम ही लड़खड़ा जाता है। पासणाहचरित की प्रशस्ति के अनुसार अल्हण एवं नट्टल दोनों वस्तुतः घनिष्ठ मित्र थे, पिता-पुत्र नहीं। अल्हण राज्यमन्त्री था, जब कि नट्टल साहू दिल्ली नगर का एक सर्वश्रेष्ठ सारथवाह, साहित्य-रसिक, उदार,

दानी एवं कुशल राजनीतिज्ञ। वह अपने व्यापार के कारण अग, बग, कलिंग, गौड़, केरल, कर्नाटक, चोल, द्रविड, पांचाल, सिंध, खण, मालवा, लाट, जट्ट, नेपाल, टक्क, कोंकण, महाराष्ट्र, भादानक, हरयाणा, मगध, गुर्जर एवं सौराष्ट्र जैसे देशों में प्रसिद्ध तथा वहाँ के राज-दरबारों में उसे सम्मान प्राप्त था^{१४}। कवि ने इसी नट्टल साहू के आश्रय में रहकर 'पासणाहचरित' की रचना की थी। इस रचना की आदि एवं अन्त की प्रशस्तियों एवं पुष्पिकाओं में साहू नट्टल के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का अच्छा परिचय प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत "पासणाहचरित" में कुल मिलाकर १२ संधियाँ एवं २४० कडवक हैं। कवि ने इसे २५०० ग्रन्थ-प्रमाण कहा है। कवि ने वर्ण्य-विषय का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है :—

संधि १—आद्य-प्रशस्ति के बाद वैजयन्त विमान से कनक-

प्रभदेव का चयनकर वामादेवी के गर्भ में आना।

संधि २—राजा हयसेन के यहाँ पार्श्वनाथ का जन्म एवं बाल-लीलाएँ।

संधि ३—हयसेन के दरबार में यवन नरेन्द्र के राजदूत का आगमन एवं उसके द्वारा हयसेन के सम्मुख यवन नरेन्द्र की प्रशंसा।

संधि ४—राजकुमार पार्श्व का यवन-नरेन्द्र से युद्ध तथा मामा रविकीर्ति द्वारा उसके पराक्रम की प्रशंसा।

संधि ५—रविकीर्ति द्वारा पार्श्व में अपनी पुत्री के साथ विवाह कर ले। का प्रस्ताव। इसी बीच में वन में जाकर जलते हुए नाग-नागिनी को अन्तिम बेला में मन्त्र-प्रदान एवं वैयास्य।

संधि ६—हयसेन का शोक-सन्तप्त होना। पार्श्व की घोर-तपस्या का वर्णन।

संधि ७—पार्श्व-तपस्या एवं उन पर कमठ द्वारा किया गया घोर उपसर्ग।

संधि ८-९—कैवल्य-प्राप्ति एवं समवशरण-रचना एवं धर्मोपदेश।

संधि १०—रविकीर्ति द्वारा दीक्षा-ग्रहण।

संधि ११—धर्मोपदेश।

सन्धि १२—पार्श्व के भवान्तर तथा हयसेन द्वारा दीक्षा-ग्रहण । अन्त्य-प्रशस्ति ।

पासणाहचरित में उपलब्ध समकालीन कुछ ऐतिहासिक तथ्य—

पासणाहचरित यद्यपि एक पौराणिक महाकाव्य है, उसमें पौराणिक इतिवृत्त तथा दैवी-चमत्कार आदि प्रसंगों की कमी नहीं । इसका मूल कारण यह है कि कवि विबुध श्रीधर का काल संक्रमणकालीन युग था । कामिनी एवं काञ्चन के लालची मुहम्मद गोरी के आक्रमण प्रारम्भ हो चुके थे, उसकी विनाशकारी लूट-पाट ने उत्तर भारत को धररा दिया था । हिन्दू राजाओं में भी फूट के कारण परस्पर में बड़ी कलह मची हुई थी । दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल को अपनी सुरक्षा हेतु कई युद्ध करने पड़े थे । कवि ने जिस हम्मीर-वीर के अनंगपाल द्वारा पराजित किए जाने की चर्चा की है, सम्भवतः वह घटना कवि की आँखों देखी रही होगी । कवि ने कुमार पार्श्व का यवन-राज के साथ तथा त्रिपृष्ठ का हयग्रीव के साथ जैसे क्रम-बद्ध एवं व्यवस्थित युद्ध वर्णन किए हैं, वे वस्तुतः कल्पना प्रसूत नहीं किन्तु हिन्दू-मुसलमानों अथवा हिन्दू राजाओं के पारस्परिक युद्धों के आँखों देखे अथवा विश्वस्त गुप्त-चरों द्वारा सुने गए यथार्थ वर्णन जैसे प्रतीत होते हैं । उसने उन युद्धों में प्रयुक्त जिन शस्त्रास्त्रों की चर्चा की है, वे पौराणिक ऐन्द्रजालिक अथवा दैवी नहीं अपितु खुरपा, कृपाण, तलवार, धनुष-बाण जैसे वे ही अस्त्र हैं जो कवि के समय में लोक प्रचलित थे । आज भी वे हरयाण एवं दिल्ली प्रदेशों में उपलब्ध हैं और उन्हीं नामों से जाने जाते हैं । ये युद्ध इतने भयंकर थे कि लाखों-लाखों विधवा नारियों एवं अनाथ बच्चों के करुण-श्रन्दन को सुनकर स्वर्ग-धीन कवि को लिखना पड़ा था :—

.....दुःखकर होइ रणगण रिउ वाणावलि पिहियणहणू ।
संगरणामु जि होइ भयकर तुरय-दुरय-रह-सुहृद-रवयकर ॥

रा१४।३, ५

कवि श्रीधर भावों के अद्भुत चितरे हैं । यावा-मागों में चलने वाले चाहे सैनिक हो अथवा अटवियों में उछल-कूद करने वाले बन्दर, वन-विहारों में शीड़ायें करने वाले प्रेमी-प्रेमिकायें हों अथवा आश्रमों में तपस्या करने वाले

तापस, राज-दरबारों के सूर-सामन्त हों अथवा साधारण प्रजाजन, उन सभी के मनोवैज्ञानिक वर्णनों में कवि की लेखनी ने अद्भुत चमत्कार दिखाया है । इस प्रकार के वर्णनों में कवि की भाषा भावानुगामिनी एवं विविध रस एवं अलंकार उनका अनुकरण करते हुए दिखाई देते हैं ।

पार्श्व प्रभु विहार करते हुए तथा कर्वट, खेड, मडव आदि पार करते हुए जब एक भयानक अटवी में पहुँचते हैं तब वहाँ उन्हें मदोन्मत्त गजाधिर द्रुतगामी हरिण, भयानक सिंह, घुरघुराते हुए साज्जिर एवं उछल-कूद करते हुए लंगूरों के झुण्ड दिखाई पड़ते हैं । इस प्रसंग में कवि द्वारा प्रस्तुत लंगूरों का वर्णन देखिए, कितना स्वाभाविक बन पड़ा है :—

.....सिर लोलिर लंगूर ॥

केवि कूर घुरघुरहिँ दूरतथ फुरहरहि ॥

केवि करहि ओरालि णमुवती पउरालि ॥

केवि दाढ दरिसति अइविरसु विरसति ॥

केवि भूरि किलकिलहि उत्तलेवि वलि मिलहि ॥

केवि णिहय पडिक्कल महि हणिय लंगूर ॥

केवि कर पसारति हिंसण ण परति ॥

केवि गयणयलै कमहि अणवरउ परिभभहि ॥

केवि अरुण णयणोहि भगुरिय बयणेहि ॥

... तासाँ अकयत्थ तसति ॥

केवि धुण्णि सविसाण, कपविय पर पाण ॥

केवि दुट्ठ कुप्पति परिकहि झडप्पति ॥

केवि पहुण पावति उसणत्थ घावति ॥

७।१४।४-१६

अन्य वर्णन-प्रसंगों में भी कवि का कवित्व चमत्कार पूर्ण बन पड़ा है । इनमें कल्पनाओं की उर्वरता, अलंकारों की छटा एवं रसों के अमृत-मय प्रवाह दर्शनीय है । इस प्रकार के वर्णनों में ऋतु-वर्णन, अटवी-वर्णन, सन्ध्या, रात्रि एवं प्रभात-वर्णन तथा आश्रम-वर्णन आदि प्रमुख हैं । कवि की दृष्टि में सन्ध्या किसी के जीवन में हर्ष उत्पन्न करती है तो किसी के जीवन में विषाद । वस्तुतः वह हर्ष एवं विषाद का विचित्र संगम काल है । जहाँ कामीजनों, चोरों एवं उल्लूकों एवं राक्षसों के लिए वह श्रेष्ठ वरदान है, वही पर नलिनी-दल के लिए घोर-विषाद का काल ।

वह उसी प्रकार मुरझा जाता है, जिस प्रकार इष्ट जन के वियोग में बधु-बान्धव गण । सूर्य के डूबते ही उसकी समस्त किरणें अस्तावल में तिरोहित हो गई हैं । इस प्रसंग में कवि उत्प्रेक्षा करते हुए कहता है कि ठीक ही है विपत्ति काल में अपने कर्मों को छोड़कर और कौन किसका साथ दे सकता है ? सूर्य के अस्त होते ही अस्तावल पर लालिमा छा गई है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानों अन्धकार के गुफा-ललाट पर किसी ने सिन्दूर का तिलक ही जड़ दिया हो । यथा :—

अथइरि-सिहरिवि रत्तु पवटु तम-विलउ ,
सझए अवर-दिसि वयांसियहा सिदूरे कउ-लिलउ ॥
३।१७।१३-१४

अन्धकार में गुफा ललाट पर सिन्दूर के तिलक की कवि-कल्पना सचमुच ही अद्भुत एवं नवीन है ।

कवि का रात्रि-वर्णन प्रसंग भी कम चमत्कार-पूर्ण नहीं । वह कहता है कि समस्त ससार घोर अन्धकार की गहराई में डूबने लगा है इस कारण विलासिनियों के कपोल रक्ताभ हो उठे हैं तथा उनका नीवी-बन्ध शिथिल होने लग है । कवि कहता है :—

छुडु नीवी गय सझ विलासिणी अरुगतण गुण-धुसिण-
विलासिणी ।। ३।१८।३

बाल-लीला वर्णन—

कवि श्रीधर ने शिशु पार्श्व की मीलाओं का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है । उनकी बाल एवं किशोर लीलाएँ, उनके असाधारण सौन्दर्य एवं अंग-प्रत्यंग की भाव-भंगिमाओं के चित्रणों में कवि की कविता मानो सरसता का स्रोत बनकर उमड़ पड़ी है । कवि कहता है कि शिशु पार्श्व कभी तो माता के अमृतमय दुग्ध का पान करते, कभी अंगूठा चूसते, कभी मणि-त्रटित चनचमाती गेंद खेलते तो कभी तुतली बोली में कुछ बोलने का प्रयास करते । कभी तो वे स्वयं रंग-रंगकर चलते और कभी परिवार के लोगों की अंगुली पकड़कर चलते । जब वे माता-पिता को देखते तो अपने को छिपाने के लिए वे हथेलियों से अपनी ही आँखें ढँक लेते । चन्द्रमा को देखकर वे हँस देते थे । उनका जटाजूट धारी शरीर निरन्तर

धूलि-धूसरित रहता था । खेती साथ उनकी करधनी की शब्दायमान किरणियाँ सभी को मोहती रहती थी ।” कवि के इस बाल-लीला वर्णन ने हिन्दी के भक्त कवि सूरदास को सम्भवतः सर्वाधिक प्रभावित किया है । कृष्ण की बाल-लीलाओं के वर्णनों की सद्गता तो दृष्टिगोचर होती ही है, कही-कही अर्धालियों में भी यत्किञ्चित् हेर-फेर के साथ उनका उपयोग कर लिया गया प्रतीत होता है । यथा—

श्रीधर—अविरल धूली धूसरिय गत्त २।१५।४.

सूर—धूरि धूसरित गात १०।१००।३.

श्रीधर—होहल्लरु (ध्वन्यात्मक) २।१४।८.

सूर—हलरावै (ध्वन्यात्मक) १०।१२८।८.

श्रीधर—खलियकखर वर्याणिहि वज्जरतु २।१४।३.

सूर—बोलत श्याम तोतरी बतियाँ १०।१४७.

श्रीधर—परिवारगुलि लगउ सरतु २।१४।४.

सूर—हरिकी लाइ अगुरी चलन सिखावत १०।१२८।८

इस प्रकार दोनों कवियों के वर्णनों की सद्गताओं को देखते हुए यदि संक्षेप में कहना चाहे तो कह सकते हैं कि श्रीधर का संक्षिप्त बाल-वर्णन सूरदास कृत कृष्ण की बाल-लीलाओं के वर्णन के रूप में पर्याप्त परिष्कृत एवं विकसित हुआ है ।

वनस्पति-वर्णन—

कवि श्रीधर की विविध वनस्पतियाँ भी कम आश्चर्यजनक नहीं । अटवी-वर्णन के प्रसंग में विविध प्रकार के वृक्ष, पौधे, लताएँ, ज़मीकन्द आदि के वर्णनों में कवि ने मानो सारे प्रकृति-जगत को साक्षात् उपस्थित कर दिया है । आयुर्वेद एवं वनस्पति शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से कवि की यह सामग्री बड़ी महत्वपूर्ण है । कवि द्वारा वर्णित वनस्पतियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है” ।

शोभा-वृक्ष—हिताल, तालूर, साल, तमाल, मालूर, धव, धम्मण, वस, खदिर, तिलक, अगस्त्य, प्लक्ष, चन्दन ।

फल-वृक्ष—आम्र, कदम्ब, नीबू, जम्बीर, जामुन, मातु-लिंग, नारंगी, अरलू, कोरटक, बंकोल्ल, फणिस, प्रियंगु, खजूर, तिन्दुक, कैथ, ऊमर, (शेष पृ० २३ पर)

जैन विद्याओं में शोध : एक सर्वेक्षण

□ डा० नवलाल जैन

विषय-संबद्ध शोधों का विश्लेषण

(अ) ललित साहित्य

इस विषय के अन्तर्गत हिन्दी, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में लिखित काव्य, महाकाव्य, चंपू, पुराण, स्तोत्र, कथा, पूजा, शतक एवं बारह-मासा आदि रूप समाहित हैं। सर्वाधिक शोधकार्य राम कथा (१५) के विविध पक्षों पर हुआ है। पउमचरित, प्रद्युम्न चरित, कुमारपल चरित, हरिवंश पुराण, (१५) और पुष्पदन्त ने अनेक शोधकर्त्ताओं को आकृष्ट किया है। अब तक लगभग तीन दर्जन संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों पर अध्ययन हो चुका है। इनमें क्षत्र चंडामणि छूट गया लगता है, चउपन्न महापुरिम चरित भी अच्छा है। इस बीच अनेक स्त्रोतों ने प्राकृत अपभ्रंश जैन साहित्य की सूचियाँ प्रकाशित हुई हैं। अकेले अपभ्रंश के ही पाव सौ ग्रन्थों की सूची शास्त्री ने बनाई है। इसमें अनुमान लगता है कि इस क्षेत्र में अभी जो शोध हुई है, वह "आठ में नमक" के बराबर है। अब यह शोध समन्वित नीति के अनुसार होगी, ऐसी आशा है। इसके लिये यह आवश्यक है कि शोध नामिकाएँ एवं सर्वेक्षण समय-समय पर तैयार कर विश्वविद्यालयों एवं शोधकर्त्ताओं व निर्देशकों के पास निःशुल्क या सशुल्क पहुँचते रहें।

(ब) भाषागत विषय

प्राचीन जैन साहित्य की मुख्य भाषा मागधी, शौरसेनी, प्राकृत और संस्कृत है। मध्यवर्गीय काल में अपभ्रंश भी रही हैं। भाषा और उसका साहित्य दो पृथक् विषय हैं तथापि नामिका 'ब' में उन्हें सम्मिलित रूप में ही लिया गया है। भाषाओं का अध्ययन उसके व्याकरण, कोष, शब्द रचना, शब्दोत्पत्ति का इतिहास, शब्द विकास,

तथा अन्योन्य-भाषा-सम्बन्ध आदि से किया जाता है। उदाहरणार्थ डा० अग्रवाल पाणिनि व्याकरण के आधार पर एक ऐतिहासिक ग्रंथ ही लिख दिया है। यह विषय अब भाषा-विज्ञान के नाम से प्रतिष्ठित हो गया है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा में शोध में पर्याप्त वृद्धि हुई है। विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का मूल भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी हुआ है। कुछ अध्ययन पाश्चात्य विद्या के अनुसार भी हुए हैं। इनसे विश्व के विभिन्न खण्डों के मनुष्यों की भाषायी दृष्टि से एक पूर्व-जता की धारणा बनी है। इससे सांस्कृतिक एकता के परिपोषण में सहायता मिली है। इन क्षेत्रों में प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरण और कोषों में जैनो के योगदान तथा हेमचन्द्र, शाकटायन आदि के विषय में तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं। यह शोध क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत एवं व्यापक है। यह निश्चित रूप से प्रगति करेगा क्योंकि सीमित धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के ज्ञान और अलोडन की आवश्यकता नहीं होती।

(स) जन न्याय एवं दर्शन

सारणी में स्पष्ट है कि १९७३-८३ के बीच इस क्षेत्र में शोध में पर्याप्त कमी हुई है। दार्शनिक मान्यताओं में आत्मतत्त्व पर सर्वाधिक शोध की गई है। मोक्ष, पुद्गल, परमाणु, सर्वज्ञता एवं कर्मवाद ने भी शोध में स्थान पाया है। नयवाद, स्यादवाद, प्रमाण विद्या, ज्ञान एवं ज्ञानोपाय तथा तर्कशास्त्र पर भी काम हुआ है। अनेक न्यायग्रंथों के हिन्दी या अंग्रेजी के अनुवादों के बावजूद भी परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, अष्ट महस्त्री, आप्तपरीक्षा, न्यायावतार पर काम नहीं हुआ है। प्रमेयकमल मार्तण्ड तथा न्याय-कुमुदचन्द्र भी अच्छे पड़े हैं। इनमें से अनेक ग्रन्थों के

सम्पादकों की भूमिकायें महत्वपूर्ण हैं और उपाधिक्षमता रखती हैं। इनका अनुवाद और समीक्षण अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण होगा। इनमें अनेक विषय-ज्ञानोपाय, शब्द, चक्षु-श्रोत्र की क्रियाविधि, पदार्थवाद, परमाणुवाद, आकाश द्रव्यवाद, प्रामाण्यवाद या विश्वसनीयता क्षयातिवाद आदि ऐसे हैं जिनका आधुनिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन कर ज्ञान-प्रवाह के विकास को भापा जा सकता है। इनका अध्ययन वैचारिक प्रगति के सोपानों को भी निर्धारित करेगा। इन विषयों पर कुछ तुलनात्मक लेख लेखक ने लिखे हैं जिनका शोध दृष्टि से विस्तार आवश्यक है।

(द) आगम

सामान्यतः परम्परा से चले आ रहे श्रुत एवं उपदिष्ट ज्ञान के सकलन को आगम कहा जाता है; इनके देश में इन पर शोध काफी देर से प्रारम्भ हुई, पर विदेशों में यह बहुत पहले चालू हो चुकी थी। आजकल आगम साहित्य दो रूपों में पाया जाता है। (१) मूल आगम और (२) उनके विविध अंगों पर आधारित मूल और व्याख्या ग्रंथ। ग्यारह उपलब्ध आगमों में आचाराग (४) और उसी के अनुरूप मूलाचार तथा भगवती सूत्र पर कुछ अध्ययन हुए हैं। सूत्र कृतांग, उपामक दशांग, ज्ञाता धर्म कथांग भी पंजीकरण में आ गए हैं। अन्य आगम अभी उपाधि शोध के क्षेत्र में नहीं आ पाए हैं। हां, स्थानांग और समवा-यांग सानुवाद जैन विश्वभारती से प्रकाशित हुये हैं। इनके टिप्पण शोध, नहीं, परशोध को निरूपित करते हैं। अंगवाह्य में उत्तराध्ययन, अनुयोग द्वार सूत्र, निशीथचूर्ण एवं विशेषावश्यक भाष्य शोध क्षेत्र में आ गए हैं, पर दशवैकालिक जैन विश्व भारती ने ही संजोया है। तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, भाष्य एवं कुन्द कुन्द साहित्य पर काम हुआ है। डा० अमरा जैन का तत्त्वार्थ सूत्र की अनेकों टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन निश्चितरूप से सम्पादित कर प्रकाशनीय है। फिर भी, सम्पूर्ण आगम साहित्य को ध्यान में रखते हुये यह शोध अल्प ही है। इस साहित्य के गहनतर, तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्य-यन की आवश्यकता है। भौतिक जगत से सम्बन्ध रखने वाले अंगवाह्य एवं अंगप्रविष्ट आगमों का समीक्षात्मक और तुलनात्मक अध्ययन वर्तमान युग की मांग है। जीवाभि-

गम, षट् खण्डागम, कषाय पाहुड एवं शान्ति सूरि का जीव विचार प्रकरण आदि ऐसे ही अध्ययन चाहते हैं। इस दिशा में वर्तमान आगमिक विद्वानों का मार्गदर्शन आवश्यक है। अब यह सभी जैन विचारक स्वीकार करते हैं कि आगम साहित्य के गहन अनुशीलन से ही जैन धर्म और दर्शन की अनेक मान्यताओं के आधार पुष्ट होंगे जिससे श्रमण संस्कृति अधिकाधिक प्रकाशित होगी। इस कार्य में विश्वविद्यालयीय शोध सम्भवतः अपेक्षित सक्ति-यता न प्रदर्शित कर सके पर जैन शोध संस्थाएं इस दिशा में योजनाबद्ध काम कर सकती हैं। सारणी १ से स्पष्ट है कि पिछले दस वर्षों में आगम शोध की प्रतिशतता में कोई वृद्धि नहीं हुई है।

(य) नीति, आचार और धर्म

सारणी २ से स्पष्ट है कि पिछले दस वर्षों में नीति, आचार और धार्मिक मान्यताओं से सम्बन्धित शोधों की संख्या काफी बढ़ी है। इसमें कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी समाहित है। जैन नीतिशास्त्र के विविध पक्षों पर अनेक शोधकर्ताओं का ध्यान गया है। यह निश्चिरूप से मणित होकर आधुनिक युग में समर्थित ही हुआ है। अहिंसा ने अनेक लोगों को आकृष्ट किया है। वर्तमान में जैन शास्त्रों में वर्णित योग, सर्वोदय, स्याद्वाद आदि पर सामान्य और तुलनात्मक शोध भी होने लगी है। आचार के क्षेत्र में सागर धर्माभूत, मूलाचार, समन्तभद्र और आचारांग पर अनेक प्रकार के अध्ययन किए गये हैं। आज के विसंवादी अनागारी आचार स्वतन्त्र शोध चाहता है। जैन-बौद्ध आचारों के तुलनात्मक अध्ययन के समान अन्य आचार संहिताओं का भी एकीकृत एवं तुलनात्मक अध्ययन अपे-क्षित है। आचार शोध भी सामयिक विचारधाराओं के विकास की प्रतीक है। सभी प्रकार के आचारों का वैज्ञा-निक पद्धति से अध्ययन आज की आवश्यकता है क्योंकि नई पीढ़ी प्रत्येक परम्परागत आचार के प्रति उपेक्षणीय वृत्ति प्रदर्शित करती है।

(र) व्यक्तित्व और कृति

इस क्षेत्र में भी शोध की संख्या और प्रतिशतता कुछ बढ़ी है। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्या-नन्द, पुण्ड्रन्त, स्वयम्भू, रङ्गधू, पोन्न, राजचन्द्र, आचार्य

भिक्षु, आश्वघोष के साथ भूधरदास, बनारसीदास, टोडर-मल, हरिचन्द्र, नयसेन, भागचन्द्र, भट्टारक सकलकीर्ति, कुशललाम, जिनदास, जिनहर्ष, हस्तिमल्ल, वादीभसिंह, ज्ञान सागर और नयचन्द्र के विषय में अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों की सख्या अनेक दृष्टियों से कम है। अनेक आचार्यों के विषय में जानकारी अपूर्ण है, अनिर्णीत। उनके समकालिक एवं उद्धरित साहित्य के अध्ययन के आधार पर इसे निर्णायक रूप देना चाहिए। आगम लेखी आचार्य, पूज्यपाद, दीरसेन, यतिवृषभ, उग्रविद्य; श्रुत सागर, छानतराय, नेमचन्द्र चक्रवर्ती आदि के सम्बन्ध में शोध मूल प्रतीत होती है। यह विषय न केवल व्यक्ति-विशेषों के समग्र परिचय में सहायक है अपितु यह उत्तर-वर्ती शोध का प्रेरक भी है।

जैन कला एवं पुरातत्व

इस क्षेत्र में शोध कार्य की गति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। पूर्व में अहार, देवगढ़, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण भारत की जैन मूर्तिकला पर काम हो चुका है। इधर जैन प्रतिमा विषय पर एक-दो पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। शिलालेखों, ग्रन्थ भण्डारों एवं प्रकाशित सग्रहों पर भी कुछ काम हुआ है। इस दिशा में अभी बुन्देलखंड के तीर्थक्षेत्रों, जैन सिद्ध क्षेत्रों एवं खजुराहो तक ने किसी को आकृष्ट नहीं कर पाया। पण्डित फूलचन्द्र मूर्तिलेखों के आधार पर जैन इतिहास को सवारना चाहते हैं। उनके एक-दो लेख शोध-प्रेरक हैं। इन मूर्तिलेखों के सग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण के आधार पर अनेक जैन उपजातियों एवं अज्ञात व्यक्तियों का इतिहास लिखा जा सकता है। मूर्तिकला के साथ मूर्तिकारों व प्रतिष्ठापकों का इतिहास भी जुड़ा होता है। इसे भी शोध में समाहित करने की आवश्यकता है। यद्यपि "जैन कला और स्थापत्य" के प्रकाशन से इस दिशा में शोध सीमित हो गई है; पर पुरातत्व का विशाल क्षेत्र सदैव आकर्षण का चुम्बकीय ध्रुव बना रहेगा।

(ख) आधुनिक विषय

१९७३-८४ के बीच जैन विद्याओं में समाहित आधुनिक विषयों पर शोध की अमता में काफी वृद्धि (८०%) हुई है। इन विषयों से सम्बन्धित व्यक्तियों, गणों, राज-

तन्त्रों, प्रदेशों एवं स्थानों के इतिहास पर काफी काम हुआ है। इनमें लिच्छवि, वैशाली, भट्टारक, कुमारपाद, राजस्थान कर्नाटक, बिहार, आंध्र आदि से सम्बन्धित सामग्री विवेचित की गई है। जैन ग्रन्थों पर वर्णित राजनीतिक विचारों पर छह शोधें हुई हैं, आर्थिक विचारों पर चार शोधकर्ताओं ने काम किया है। जैन सिद्धांतों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तो दो शोधों का विषय बनी है। सामान्य एवं नारी की सामाजिक दशा के विवेचन से समाज शास्त्रीय शोध ने भी जन्म लिया है। जैन-शिक्षा और प्राचीन भूगोल पर भी एक-एक शोध हुई है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि इन शोधों में अभी दो-तिहाई शोध इतिहास से सम्बन्धित हैं। इस दशक की विशेषता यह है कि अन्य विषयों में शोध चालू हो गई है और इसमें पर्याप्त प्रगति अपेक्षित है। विभिन्न युगों के विविध साहित्य के सांस्कृतिक और सामाजिक विवेचन एवं तुलनात्मक अध्ययन हमें विकास के चरणों का भान कराते हैं और अपनी स्थिति को मूल्यांकित भी करते हैं।

(श) तुलनात्मक अध्ययन :

सारणी ३ से स्पष्ट है कि १९७३-८३ के दशक में जैन सिद्धान्तों, कथाओं एवं अन्य विद्याओं के जैनोत्तर अनु-रूपों या भाषायी रूपों के तुलनात्मक अध्ययनों २-५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। शो १ की यह दिशा समन्वायात्मक दृष्टि को विकसित करने, समकालीन एवं भिन्न-कालीन विचारों के विकास व इतिहास को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह प्रत्येक युग के विकास के मूल्यांकन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में राम-कथा, प्रमाणशास्त्र, योग, आचारशास्त्र, कर्मवाद, भाषा विकास आदि पर अनेक अध्ययन सामने आये हैं। वे अध्ययन प्रायः किन्हीं दो विशिष्ट पक्षों पर ही आधारित पाये गये हैं। उपयोगिता एवं महत्ता की दृष्टि से समग्रतः तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। विभिन्न धर्मों एवं देशों में रामायण का अध्ययन एक प्रारूपिक उदाहरण है। अनेक विषय अभी इन अध्ययनों में समाहित हो नहीं हो पाये हैं। जैन विद्याओं में वर्णित वैज्ञानिक मान्यताओं की समीक्षा इनमें से एक है। इस क्षेत्र में कुछ उपाधिनिरपेक्ष शोध एक नया आयाम दे रही है। इन अध्ययनों का समग्र

प्रतिशत बढ़ाने की महती आवश्यकता है।

(घ) विज्ञान :

जैन विद्याओं के आगम, आगमेतर धार्मिक और दार्शनिक साहित्यमें भौतिक जगत संबंधी विवरण स्फुट रूप में पाये जाते हैं। ये भौतिकी, रसायन, वनस्पति एवं प्राणिशास्त्र, भूगोल, ज्योतिष, गणित, आहार और औषधि शास्त्र आदि से संबंधित हैं। ये विवरण तत्कालीन ज्ञान के निरूपक हैं। इन विवरणों का विषयवार संकलन एवं तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। इन विवरणों की समीक्षात्मक प्रामाणिकता नयी पीढ़ी की धार्मिक आस्था को बलवती बनावेगी।

इस क्षेत्र में शोधकर्ता तो अनेक हैं, पर उपाधि हेतु शोध की मात्रा में कमी ही आई है। अभी तक गणित(२), पुद्गल, परमाणुवाद, भूगोल एवं स्रष्टि विद्या पर एक-एक शोध सामने आई है। आयुर्वेद में दो शोधे पजीकृत हैं, स्फुट लेख अवश्य प्रकाशित हुए हैं। इस क्षेत्र में शोध की पर्याप्त संभावनाएं हैं। इसे प्रेरित करने के लिए वरीयता से इस क्षेत्र में छात्र वृत्तियां देनी चाहिए। साथ ही, शोध-निर्देशको को भी इन विषयों में शोध कराने में गहन रुचि लेनी चाहिए।

यह प्रसन्नता की बात है कि इन दिशाओं में उपाधि-निरपेक्ष शोध पर्याप्त होती दिख रही है। मध्य प्रदेश ऐसी शोध का प्रारम्भ से ही अग्रणी रहा है। प्रो० जी० आर० जैन, एफ० सी० जैन, जे० सी० सिकंदर और एन० एफ० जैन यही रहे हैं। मुनि श्री महेन्द्र जी, जे० एस० जवेरी, के० एल० लोढ़ा, एस० एस० लिरक आदि विद्वानों ने जैन विद्याओं के अनेक वैज्ञानिक पक्षों को सकलित और विवेचित कर अनेक पुस्तिकाएं और शोधपत्र प्रकाशित किए हैं। इनका एक संक्षिप्त रूप दो अभिनन्दन ग्रंथों के विज्ञान खण्डों में देखा जा सकता है। लोकोत्तर गणित के कुछ शोधपत्रों ने तो विदेशी पत्रिकाओं में भी स्थान पाया है। ये विषय ऐसे हैं जिनके प्राचीन विवरणों की सत्यता भौतिक या यांत्रिक चक्षुषों से परखी जा सकती है। इनके अध्ययन से वैज्ञानिक विकास के इतिहास में जैन विद्याओं के योगदान का मूल्यांकन किया जा सकता है। विभिन्न वैज्ञानिक पक्षों का तुलनात्मक अध्ययन और उनकी अनु-

रूपता की प्रतिष्ठा हमें लोकोत्तरीय चटनाओं की सत्यता के प्रति भी प्रेरित कर सकेगी।

(स) विदेशों में जैन विद्या शोध :

जैन विद्या भारतीय विद्या का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके अध्ययन के बिना भारतविद्या का ज्ञान अधूरा ही माना जाता है। फलतः इस देश के अतिरिक्त अन्य देशों में भी इस विद्या के अन्तर्गत या स्वतंत्र रूप से जैन विद्याओं के अध्ययन, अध्यापन और शोध की और ध्यान गया। यह एक अचरजकारी तथ्य ही है कि जैन विद्याओं पर आधुनिक दृष्टि से शोध का प्रारम्भ अठारहवीं सदी के अन्तिम दशक में विदेशों में ही हुआ। इस सम्बन्ध में अनेक जैन विद्वानों ने विवरण दिये हैं पर शोधनामिकाओं में डा० जैन ने ही इन्हें १९७३ और १९८३ में स्थान दिया है। इन्हें देखने से लगता है कि १९८३ की नामिका एक नाम को छोड़कर १९७३ की अनुकृति ही है। दस वर्षों में विदेशों में जैन विद्याओं पर कोई उपाधिहेतुक शोध न हुई हो, इस पर विश्वास नहीं हो पाता। फलतः इस नामिका की अपूर्णता के बावजूद भी, यह अनुमान सहज है कि विदेशों में जैन विद्या शोध अधिकांश में जर्मनी में हुई है। विभिन्न विवरणों के अनुसार—फ्रांस, आस्ट्रिया, अमरीका, रूस, इंग्लैंड और जापान में भी जैन विद्याओं पर शोध हो रही है। इस शोध को भी नामिकाओं में समाहित करना चाहिए। इस शोध में आगम, ललित साहित्य, भाषा विज्ञान एवं न्यायशास्त्र के विविध पक्ष आये हैं। एक अभिनन्दन ग्रन्थ में इसकी झांकी देखी जा सकती है। यह हर्ष का विषय है कि अनेक जैन विद्वान अब विदेश जाने लगे हैं और कुछ जैन संस्थाएं भी इस दिशा में रुचि लेती दिखती हैं। यह संपर्क और रुचि भविष्य में प्रकाशित होने वाली नामिकाओं की उक्त अपूर्णता दूर कर सकेंगी।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि १९७३-८३ के दशक में जैन-विद्या-शोध में ललित साहित्य का ही सह-योग रहा है। अन्य क्षेत्रों में गुणात्मक और परिभाषात्मक दोनों ही दृष्टियों से शोध काफी कम है। लेखक का विश्वास है कि नई पीढ़ी अनुसंधान के नये खितियों की ओर अधिक ध्यान देगी। —गर्तस काशिज, रीवा

पं० शिरोमणिदास कृत : 'धर्मसार सतसई'

□ श्री कुन्धनलाल जैन प्रिन्सिपल, दिल्ली

अथ चतुर्थे संघे प्रारम्भ्यते—

चौपाई—श्रेणिक सुनहु कर्म उत्पत्ति,
जातें जीव होय बहु भांति ।
ऊंच नीच बहु दुख को धरता,
आपुही कर्ता आपुही भुक्ता ॥१
पुण्य पाप जब करनी करै,
ऊंच नीच पदवी तब धरै ।
करहि पाप जो मन वच काय,
मगन होय आगे मद पाय ॥२
इन्द्रियन पंच विषय रस पनै,
विकया व्यसन कषायनि लगै ।
करि मिथ्यात्व पंच दुखदाय,
ए छत्तीस प्रकृति सुनि राय ॥३
छत्तीस प्रकृति को बंधन करै,
तब जीव इतर निगोद पद धरै ।
भाव कलंक गहै अति जास,
घातें निगोद न मुंचइ वास ॥४
जनम मरण दुख सहै अति भयो,
अनंतकाल जीव भ्रमतनि गयो ।
बठारह मरण जनम जीव लहै,
एक स्वास में, जिनवर कहै ॥५
बोहा—छयासठ सहस अरु तीन सौ पुनि छत्तीस बखानि ।
अंतर्मुहूर्तें एक में निगोद मरण जीव जानि ॥६
कास अनंतानंत जु लहै निगोद दुख जो केवली कहै ।
तिनसौं दुख कह्यो नहि जाय,
मैं मनुष्य कहं कहऊं बनाय ॥७
॥ इति निगोद दुख ॥
चौपाई—पर जीव मारे अपने हेतु,
करि हिंसा पुनि औरनि देत ।
चोरी झूठ भुगते पर नारी,

बहु आरंभ करै अति भारी ॥८
क्रोध लोभ माया मद साधि,
अनंतानुबंधी प्रकृति तैं बांधि ।
लेश्या कर्म करै संताप,
रोद्रध्यान करि बांधै पाप ॥९
ऐसो कर्म जीव जब करै,
तब जीव जाय नरक पद धरै ।
बहुत दुख भुगते तहं घोर,
को बुझ कहै न जानहुं ओर ॥१०
सात नरक हैं दुख की खानि,
तिनके नाम जु कहौं बखानि ।
घम्मा कहि पुनि वंसा नाम,
मेघा अंजन है दुखदाय ॥११
अरिठा मघवी माघवी सात,
उपजै जीव गलित तहं गात ।
तेरा मेरा पाधरे (डे) सुनिजै,
नव पुनि सात पांच जे मुनिजै ॥१२
तीन एक जानो दुखदाई,
अब सुन बिले कहौं समुझाई ।
तीस लाख पहले अथ जानि,
पुनि पच्चीस लाख दुख दानि ॥१३
तीसरे पन्द्रह लाख जु कहीजै'
चौथे पुनि दश लाख जु भणिजै ।
पांचइ तीन लाख अति सुनै,
छटै एक लाख पञ्चानवै ॥१४
सातें पांच लाख बिले अति घोर,
सबै लाख चौरासी जोर(ड) ।
मातैं धनुष पांच सौ देह,
अधं हीन पुनि छटै जु एह ॥१५

पुनि आधी पांचे अघ होइ,
 ऊपर इह विधि गनिज सोइ ।
 हुड़उक देह घरे जीव तहां,
 लिंग नपुंसक कहिए जहां ॥१६॥
 मन सैं दुख उपजै नानी,
 अपनी देह आप आप जो हनी ।
 उपजै रोग अनेक जु आइ,
 भूमि स्वभाव न नैकु सुहाइ ॥१७॥
 अवधि विभंगा जु तहां प्रकासै,
 पूरव बैर तहां अति भासै ।
 लै लै धन कूटै तहं चंड,
 बाण बेधि पुनि देहि जु दंड ॥१८॥
 कणं नासिका काटै दोषी,
 नेत्र काढ़ मारै अति रोषी ।
 एकन जंत्रनि पेरै पापी,
 मूगरनि मारि करै संतापी ॥१९॥
 एकन सूली रोपन रचै,
 पुनि लै अग्नि कुण्ड मे पचै ।
 झूठ वचन कह पारी वाटै,
 तातैं अघ में करवत काटै ॥२०॥
 रे रे मूढ़ मदिरा तुम पियो,
 तातैं तोहि नर्क मे दियो ।
 ऐसो कहि सीसो पिघलाय,
 मुख मैं भरै महा दुख पाय ॥२१॥
 हा हा करि रोवै तहं दीन,
 भय चिता कपै तनु छीन (क्षीण) ।
 तिल तिल खंडइ तहं पुनि देह,
 फिर फिर मिलै ज्यों पारी नेह ॥२२॥
 तूं रे दुष्ट मांस बहु भख्यो,
 अब तूं जानि नरक मे लख्यो ।
 ऐसी कहि तामो (ताम्र) तहं ओटि,
 मुख में देहि करै पुनि घोटि ॥२३॥
 पर नारी भुगती मुख हेतु,
 अब तोहि आनि मिली इह खेत ।
 ताती(गर्भ) लोह पुतरिया लाल,
 लै संयोग करो तत्काल ॥२४॥

हा हा दव दैव नित कर,
 पुनि तहं देह आपुही जरै ।
 आपस में दुख दें अग्नि घोर,
 अगरनि सेज लुटारै जोर ॥२५॥
 बहती नदी बैतरणी जहां,
 महा दुर्गध रधिर जल तहा ।
 तामैं बोरि (डुबोकर) करै शत खंड,
 कृमि अनेक काटै अति चंड ॥२६॥
 ताड़ वृक्ष दीसै असि पत्र,
 ऊपर परहि आनि बहु जत्र ।
 छिन्न भिन्न होय तिनकी जु देह,
 गिरै वाण ज्यो बरसै मेह ॥२७॥
 करवत काटि करै दो भेद,
 पुनि छिन मिलहि करहि बहु खेद ।
 अग्नि कुण्ड मे डारै जारि,
 पुनि लै पारे जल मे डारि ॥२८॥
 पूरव बैर सुनि चित मे धरै,
 मारो मारोते सब मिल करै ।
 असुर कुमार पुनि देहि वताय,
 उठै क्रोध पुनि अंगन माय ॥२९॥
 सप्य सिह अरु गोध बहु जाति,
 धरै विक्रिया नाना भाति ।
 आप आप मे पुनि ते भखै,
 पूरव बैर भाव सब लखै ॥३०॥
 मन एक लक्ष लोह को पिंड,
 क्षण मे गलै महा प्रचंड ।
 शीत उष्ण धरती है जहां,
 बहुत दुख जीव पावहि तहां ॥३१॥
 सकल जीव के पुद्गल पाइ,
 तज वन खात न भूख बुझाइ ।
 ऐसी क्षुधा सदा दुख वहै,
 सरसों समान न कबहूँ लहै ॥३२॥
 सकल समुद्र को जल जु पीजै,
 तज तृषा नहीं पूरण हूजै ।
 बूंद एक नही कबहूँ पेखै,
 ऐसे सदा काल दुख देखै ॥३३॥

कही आयु उत्कृष्ट बखानि,
सागर एक प्रथम अध जानि ।
सागर तीन दूसरी मही,
सागर सात तीसरी कही ॥३४
दस सागर चौथे दुखदाई,
पांचे सत्रह सागर आई ।
छहे में नरक होइ बाबीस,
सात में पुनि जानहु तेतीस ॥३५
प्रथम दूसरो अध दुखदाई,
राजू एक सुनो तुम राय ।
अध पांचो की सख्या कही,
राजू एक एक है सही ॥३६
दोहा—राजू एक निगोद पुनि, कही ऊचाई जानि ।
अधौलोक सब जानिजे राजू सात प्रमाण ॥३७
नरक सकल इह विधि कहै सकल पाप फल जानि ।
गणधर जो वर्णन करै तो वन सकइ बखानि ॥३८
इति नरक दुख वर्णन ॥

अथ तिर्यंच करनी फल वर्णन :—

चौपाई—अप्रत्याख्यान चौकड़ी वार्ध,
आर्त ध्यान सदा अति माधै ।
चिंता शोक मोह अधिकार,
लेश्या नील काम बहु भार ॥३९
हिंसा हेतु करहि प्रपच,
यातैं जीव होय तिर्यंच ।
शीत उष्ण वर्षा अधिकार,
क्षुधा तृषा भय दुख अपार ॥४०
जबहि जीव मिथ्यात्व आवै,
विकल त्रय गति निश्चय पावै ।
मिथ्यात्व थापना थापै जबही,
नाना योनि जीव धरै तबही ॥४१
नाहर सिंह क्रोध ते होय,
मान उदय खर लभइ सोय ।
होय परेवा (कबूतर) विषयनि लीन,
पुनि ते नरक पडै अति हीन ॥४२
बहुत मोह ते प्रेत बताइ,
अजगर सर्प लोभ तै जाइ ।

रात को भोजन जे नर करै,
अरुवा गीघ लहि दुर्गति परै ॥४३
परधन-पाय पोखि निज गात,
तप जप समय धरै न बात ।
यातैं बहुत भार अति वहै,
ऊट, वृषभ, महिषा गति कहै ॥४४
अनगाल्यो जल पीवै पापी,
दुर्गति दुख लहै संतापी ।
यह तिर्यंच दुख की खानि,
को पडित सब कहै बखानि ॥४५
॥ इति तिर्यंच करनी फल ॥

प्रत्याख्यान चौकड़ी कहिए,
होय मनुष्य शुभाशुभ किये ।
अशुभ कर्म तै खोटी जाति,
लहइ जीव गति नाना भांति ॥४६
मुनि की निन्दा कोट्टी होय,
महा दुःख भुगतै नर सोय ।
जिनवर धर्म ग्रीह अति कर,
होय नीच पुनि दुर्गति परै ॥४७
पर नारी देखे अकुलाय,
बहुत पिकार करै दुखदाय ।
दर्शनावरणो होय जु बध,
यातैं जीव होय पुनि अध ॥४८
कारि कुतीर्थ हिंसा आनद,
मिथ्या मारग थापै फद ।
पर जीव छेदन देखे अग,
यातैं जीव होय मरै पगु ॥४९
ले निर्माल्य पोखैं गात,
कुटुम्ब सहाय करै सुख बात ।
यातैं कुटुम्ब नाश अति होय,
भव भव दुख देखे नर सोय ॥५०
धन जे पाय धर्म नहि करै,
तृष्णा कर हिंसा शिर धरै ।
होय निर्धनी यातैं रीख,
घर घर फिरहि न पावै भीख ॥५१

पूजा हेतु काहुं फल दियो,
 लोभ जानि कै आपहि लियो ।
 यातैं होय पुत्र करि हीन,
 संतति मुख देखे नहीं दीन ॥५२॥
 पर वियोग करि परहि सतावै,
 इष्ट हानि नर यातैं पावै ।
 बार बार अति करहि जु शोक,
 यातैं होय अनिष्ट सजोग ॥५३॥
 जिनवर वाणी लोपैं मूढ़,
 विकथा वचन कहे अति गूढ़ ।
 ज्ञानावरणी बंधैं सोय,
 यातैं भव भव मूरख होय ॥५४॥
 कुत्सित व्रत करि दंड देह,
 समकित भेद न जानैं एह ।
 भवनत्रिक मे जे नर भ्रमैं,
 अनंतकाल तहं मिथ्या गर्म ॥५५॥
 जिन गुरु देख न माथी नमैं,
 अपनी इच्छा जह तहं भ्रमैं ।
 यातैं पर घर होय जु दास,
 शीत उष्ण भुगतैं अति त्रास ॥५६॥
 वेश्या दासी भुगतैं पापी,
 कुत्सित विषय करे सतापी ।
 यातैं होय नपुंसक दोषी,
 मनसा विषैं जरैं अति रोषी ॥५७॥
 माया करि जे फंद बनावै,
 पर को मोहि आप सुख पावै ।
 सदा करे विषयनि की बातैं,
 नारी देह घरे जीब यातैं ॥५८॥
 उत्तम करनी मनसा आनैं,
 उत्तम देव धर्म गुरु जानैं ।
 छोड़ै कपट मुद्र मति लीन,
 यातैं पुरुष होय प्रबीण ॥५९॥
 बिद्या दान सदा हित देहि,
 ते नर पंडित पदवी लेहि ।
 दुखित देखकैं करुणा आवै,
 ते नर रोग लेख नहीं जानैं ॥६०॥

अल्प वित्त में देहि जु दान,
 गुरु की सेवा करै अति मान ।
 भव भव ते नर भुगतैं भोग,
 बहु धन पाय भली संयोग ॥६१॥
 पर उपकार करै जे प्राणी,
 दीरघ आयु लहै शुभ वाणी ।
 करै साधु सगत मन लाय,
 उत्तम कुल उपजै सुखदाय ॥६२॥
 जे जिन मन्दिर रचहि अनूप,
 तहां धर्म बहु बढ़ै सकुप ।
 पुनि जिन विम्ब भरावैं सार,
 लक्षण व्यंजन सहित सुधार ॥६३॥
 क्षत्र चंवर सिंहासन धरै,
 चन्द्रोपम भा मण्डल करै ।
 दुंदुभी सहित करै करताल,
 झालर घण्टा ताल रसाल ॥६४॥
 सारी कलश धूप घट-जहां,
 जलोट कनिका सोहै तहां ।
 गीत नृत्य वादित्र बजाय,
 करहि महोत्सव बहु धन लाय ॥६५॥
 संघ सहित पुनि तीरथ चलै,
 सिद्ध जैन बहु पुण्य मिलै ।
 पूजा वस्तु द्रव्य अति घनी,
 महा सुगंध उज्ज्वल अति बनी ॥६६॥
 पूजा वस्तु भग नहीं कीजै,
 होय पाप अति धर्महि छीजै ।
 सकल वस्तु जैसी गुरु कही,
 बिधि सो करै आप नर सही ॥६७॥
 संघ सहित देहि बहु दान,
 पूजा करि बहु राखैं मान ।
 इह बिधि करहि प्रतिष्ठा होय,
 चक्रवर्ती पद पावैं सोय ॥६८॥
 होय ऋद्धि अति सुख की खानि,
 को पंडित तहं कहै बखानि ।
 रथ अथ गज चौरासी लाख,
 कोटि चौरासी किकर राख ॥६९॥

बस बस नम में बसहि सुरंग,
कोटि अठारह कहे सुरंग ।
छहस बालीस जे पत्तन जानि,
कोटि छयानवै ग्राम बखानि ॥७०
बत्तीस सहस सुन्दर पुर कहीजै,
चौदह सहस वाहन पुनि लहीजै ।
सहस निन्यानवै कहे बटाय,
द्रोणा मुख तुम जानहु राय ॥७१
बेट सहस षोडश अति बसै,
दीप जो छप्पन तिनकै दिसै ।
सहस अट्ठाईस बन तहं सोहै,
कोटि एक चारी मन मोहै ॥७२
कोटि एक हल बलहि जु सीर,
तीन कोटि गो खिरका भीर ।
कुल छय रूप चतुर बधिकारी,
सहस छयानवै नारी प्यारी ॥७३
सहस बत्तीस नर्तकी जानि,
बासी दास को कहे बखानि ।
चौरासी खन मन्दिर साल,
नव निधि चौदह रतन विशाल ॥७४

अठारह सहस म्लेच्छपति राय,
कर जोई सोनै बसु पाय ।
बत्तीस सहस विद्याधर ईस,
कर जोई पुनि नावै शीस ॥७५
व्यंतर देव सेवा बहु करै,
भोग्य वस्तु लै आगै घरै ।
मिष्ट आहार सेज सुखदाई,
भोग विलास करै सुख पाई ॥७६
दोहा—सेवालीस सहस जोजन कहे, दो सौ त्रैसठ जानि ।
दृष्टि चक्रवर्ती जानिजै, गणघर कही बखानि ॥७७
बारह योजन शब्द सुनि, पुनि घरै विक्रिया रूप ।
सहस छयानवै रूप धरि, सुभ्रगतं भोग अनूप ॥७८
सोरठा—चक्रवर्ती पद सार, जिनवर पूजा तै लहै ।
उपजै श्रद्धि अपार, को पंडित तहं गिनु कहै ॥७९
बीपाई—जो जितेन्द्र पूजै मन लाय,
मन वच काय शुद्ध धरि माय ।
प्रात काल जिन पूजा करै,
सो नर पाप पुंज परि हरै ॥८०
(क्रमशः)

(पृष्ठ १४ का शेषांश)

कठुमर, चिचिणी, (चिलगोजा) नारिकेल,
बट, सेवल, ताल ।
पुष्प-पुष्प—चम्पक, कचनार, कणवीर, (कर्नर), टउह,
कउह, बबूल, जासबण, (जाति ?), शिरीष,
पलाश, बकुल, मुचकुन्द, अर्क, मधुवार ।
फल एवं पुष्प लताएं—लवंग, पुष्पफल, बिरिहिल्ल, सल्ल,

केतकी, कुरव, कर्णिकार, पाटलि, सिन्दूरी,
ब्राक्षा, पुनर्नवा, बाण, बोर, कच्चूर ।
कव्य—जिमीकन्द, पीलू, मदन एवं गंगेरी ।
पुनिर्वसिटी प्रोफे० (प्राकृत) एवं अध्यक्ष
संस्कृत-प्राकृत विभाग, ह० दा० जन कालेज,
आरा (बिहार) (मगध विश्व विद्यालय)

सम्बन्ध-सूची

१. निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित (१९०६ ई०) ।
२. माधुकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित (१९१६ ई०) ।
३. देखो भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान पृ० ११५ ।
४. प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी से प्रकाशित (१९१५ ई०) ।
- ५-१६. दे० रघु साहित्य का आलोचनात्मक परीक्षण (बैशाखी १९७४ ई०) ।
१७. दे० आभिरशास्त्र मन्डार जयपुर की ग्रन्थसूचिका भा. २
- १८-२२. दे० बड्डमाणचरित (सम्पा० डा० राजाराम जैन)
भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली पृ० ४-७ ।

- २३-२४. पासणाह० १।२।१-४ ।
- २५-२७. दे० बड्डमाणचरित, भूमिका पृ० ३०-११ ।
- २८-२९. पासणाह० १।२।५-१६ ।
३०. राजस्थान पुरातत्त्व विद्यामन्दिर जोधपुर से प्रकाशित (१९६३ ई०) ।
- ३१-३२. बड्डमाणचरित भूमिका पृ० ७० ।
३३. पासणाह० १।२।७-८ ।
३४. दे० पासणाह० १।१।१-४ ।
- ३५-३७. दे० दिल्ली जैन डाइरेक्टरी पृ० ४ ।
३८. तीर्थंकर महावीर एवं उनकी आचार्य परम्परा ४।१३८
एवं जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह हि० भाग भूमिका पृ० ८४.
३९. दे० पासणाह० अन्य प्रशस्ति ।
४०. दे० पासणाह० ७।१.

उड़ीसा की प्राचीन गुफाओं में दर्शित जैन धर्म एवं समाज

□ श्री हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा

उदयगिरि एवं खंडगिरि पर्वतों की प्रसिद्ध प्राचीन जैन गुफाएँ उड़ीसा राज्य के पुरी जिले में स्थित हैं। ये भुवनेश्वर रेलवे स्टेशन से लगभग ८ किलोमीटर पश्चिम में अवस्थित हैं। खंडगिरि पर एक आधुनिक जैन मन्दिर भी निर्मित है।

यहाँ पर जैन मुनियों के लिये उत्खनित ये प्राचीन गुफाएँ मेघवाहन वंश के तीसरे प्रसिद्ध शासक खारवेल की कृतियाँ हैं, जिनकी तिथि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व है। खारवेल का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अभिलेख उदयगिरि के हाथी गुम्फा की एक दीवार पर उत्कीर्ण है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। अपने शासन के तेरहवें वर्ष में उसने जैन मुनियों के लिए ये गुफाएँ खुदवायीं। हालाँकि, यहाँ जैन गति-विधियों के, और भी पहले प्रारम्भ होने की सम्भावनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता।

हमें इन गुफाओं के माध्यम से जैन धर्म से सम्बन्धित बहुत अधिक सूचनाएँ नहीं मिलती, क्योंकि, जैसे कि उन दिनों जैन धर्म के स्थानीय नियम थे—मानव रूप में तीर्थंकरों की मूर्ति-पूजा वर्जित थी। परिणामतः इन गुफाओं की दीवारों पर तत्कालीन समय में तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण नहीं की गईं। किन्तु प्रतीक पूजा के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप उदयगिरि की जय-विजय गुम्फा (संख्या-५) तथा खंडगिरि की अनन्त गुम्फा (संख्या-३) की दीवारों पर एक-एक वृक्ष अङ्कित है, जिन पर पुष्पाञ्जलि अर्पित करते हुए भक्तगण चित्रित किये गये हैं। पुनः उदयगिरि की मञ्जपुरी गुम्फा (संख्या-१) में राज-परिवार को एक अस्पष्ट प्रतीक की पूजा करते हुए दर्शाया गया है। अनन्त गुम्फा की पिछली दीवारों पर जैनो के 'अष्ट मंगलो' में से कुछ, यथा :—नन्दीपाद, स्थापना, स्वस्तिक तथा श्रीवत्स उत्कीर्ण हैं। ठीक ऐसे ही

प्रतीक मथुरा के जैन आयाग पट्टों पर अंकित पाए गये हैं।

मध्ययुगीन काल में जब इन गुफाओं का पुनरुद्धार हुआ, तब यहाँ की दीवारों पर तीर्थंकरों एवं उनकी शासन-देवियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयीं, जो हमें आज भी इन गुफाओं की दीवारों पर देखने को मिलती हैं।

प्रारम्भिक उत्कीर्णियों से हमें तत्कालीन समाज की हल्की सी झलक भर मिलती है। तत्कालीन वेश-भूषा एवं आभूषण इन मूर्तियों में ईमानदारी से प्रदर्शित किये गये हैं। पुरुष मुख्यतः धोती ही धारण करते थे, जबकि स्त्रियाँ साड़ियाँ। स्त्रियों की साड़ियाँ कमर पर एक कमर-बन्ध से बन्धी होती थीं, तथा आंचल सामने झूलता था। स्त्री-पुरुष कोई ऊर्ध्व वस्त्र नहीं पहनते थे। फलतः उनका शरीर कमर से ऊपर वस्त्र-हीन होता था। विशेष अवसरों पर वे गले में एक कपड़ा लपेटते थे। पुरुष पगड़ी बांधते थे, जिसमें सामर्थ्यानुसार रत्न आदि जड़े होते थे। महिलाएं सर पर साड़ी तो डालती थी, किन्तु घूँघट का प्रचलन नहीं था। स्त्रियों का वेश-भूषा में विभिन्नता थी तथा आभूषणों की बहुतायत थी। पुरुष कर्णाभूषण, हार तथा कड़े पहनते थे, तो स्त्रियाँ इन सबके अलावा मेखला, बाँह तथा सर के आभूषण भी पहनती थी।

घर के उपस्करों में चारपाई, स्टूल, मेज, मोड़ा; बर्तनों में कटोरियाँ, प्लेट एवं घड़े; एवं घरों के अन्य सामानों में छतरी, पंखे, मंजूषा आदि इन गुफाओं में उत्कीर्ण दृश्यों में देखे जा सकते हैं। उदयगिरि की रानी गुम्फा (संख्या-१) से उत्कीर्ण सिर्फ एक दृश्य में एक दो-मंजिला मकान दिखलाया गया है। हालाँकि, मुख्यतः वहाँ पायेगए एक मंजिले मकानों का ही प्रचलन आम रहा होगा, जैसा कि उत्कीर्णियों के अध्ययन से पता चलता है घरों की वेदिकाओं से घेरने की प्रथा भी आम तथा लोक-प्रिय थी।

(शेष पृ. ३२ पर)

सुकेतु श्रेष्ठी की कथा

जम्बूद्वीप—पूर्वविदेह—पुष्कलावती देश—पुण्डरीकिणी नगरी मे वसुपाल नाम का राजा राज्य करता था । वहाँ एक जैनधर्म में अतिशय श्रद्धालु सुकेतु नाम का वैश्य अपनी स्त्री धारिणी सहित रहता था । वह एक बार व्यापार के लिए द्वीपान्तर जाने को घर से निकलकर शिवंकर उद्यान मे नागदत्त श्रेष्ठी के बनवाये हुए नागभवन के निकट प्रस्थान करके ठहरा था । धारिणी मध्याह्न के समय उसके लिए घर से रसोई तैयार करके वहाँ ले गई । सुकेतु अतिथि-संविभाग व्रत धारण किये था, इसलिए वह मुनियों के आने की बाट देखने लगा । इतने में गुणसागर मुनि अपनी प्रतिज्ञा के पूरी होने पर चर्या के लिए वहाँ से निकले । सुकेतु ने उनका विधिपूर्वक पङ्गाहन करके अतः रायरहित आहार दिया, जिसके प्रभाव से पंचाश्चर्य हुए । तथा सुकेतु के अधिक निर्मल परिणामों के कारण साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा हुई । नागदत्त श्रेष्ठी ने यह कहकर कि “ये रत्न मेरे नागभवन के आंगन में बरसे हैं, इसलिए मेरे हैं” उन्हें अपने घर ले गया । परन्तु वे रत्न थोड़ी देर मे आप ही आप जहाँ के तहाँ चले गये । तब नागदत्त फिर इकट्ठे करके उन्हें ले गया । परन्तु आश्चर्य की बात है कि वे वहीं के वहीं फिर पहुँच गये । यह देख कर क्रोधित हो नागदत्त ने उन रत्नों को फोड़ने का विचार करके एक रत्न को शिला पर दे मारा, किन्तु वह फूटा नहीं, उलटा लोटकर उसके ललाट में जोर मे लगा । यह देखकर देवों ने हँसी करके उसका नाम मणिनागदत्त रख दिया ।

तब नागदत्त अतिशय क्रोधित हो महाराज वसुपाल के समीप लाकर बोला—हे देव, मैंने जो नागभवन बनवाया है, उसके आगे रत्नों की वर्षा हुई है । मो आपको उन्हें अपने भंडार मे मंगाकर रखना चाहिए । राजा ने कहा—ऐसा अकारण द्रव्य मुझे नहीं चाहिए । परन्तु नागदत्त माना नहीं, पैरों में जा गिरा । तब राजा ने उसके अधिक आग्रह से उन्हें अपने भंडार मे मंगाकर रख लिया । परन्तु थोड़ी ही देर मे वे वहीं के वहीं पहुँच गये । राजा ने पूछा—ऐसा क्यों हुआ ? तब किसी ने कह दिया कि सुकेतु श्रेष्ठी के दिए हुए मुनिदान के प्रयास से ये रत्न बरसे हैं, इसीलिए शायद ऐसा हुआ होगा । तब राजा ने ‘बिना विचारे हाय ! मैंने यह क्यों किया’, इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए सुकेतु को बुलाया । वह पंचरत्न और कल्पवृक्षों के फूल लेकर आया और महाराज को भेंट किए । उन्होंने कहा—सेठ जी ! मैंने जो बिना सोचे-विचारे अकृत किया है, उसे क्षमा करके सुख से अपने घर रहिए । तब श्रेष्ठी ने कहा—महाराज, आप मेरे स्वामी हैं, क्षमा करने की कौन सी बात है । रत्नों की क्या बड़ी बात है ? प्रयोजन हो तो जितने चाहे रत्न इस सेवक के घर से मंगा लीजिए । राजा ने कहा—तुम्हारे घर में रखे हुए रत्न क्या मेरे नहीं हैं ? जब आवश्यकता होगी, तब मंगा लूँगा । श्रेष्ठी प्रसन्न होकर अपने घर गया और सुख से रहने लगा ।

राजा सुकेतु पर इतना प्रसन्न हुआ कि जो कोई सुकेतु की प्रशंसा करता था उससे वह प्रसन्न होता था और मणिनागदत्त की जो स्तुति करता था उससे द्वेष करता था । एक दिन राजा ने सुकेतु की बहुत प्रशंसा की, परन्तु उसे जिनदेव नाम का एक श्रेष्ठी सह न सका । इसलिए बोला—महाराज, आप सुकेतु के रूप गुण की प्रशंसा करते हैं तो कीजिए । और यदि धन-वैभव की करते हो, तो पहले मेरे साथ धन-वाद कराइए और जो जीते उसी की प्रशंसा कीजिए । यह सुनकर सुकेतु ने कहा—ऐश्वर्य का क्या घमंड करता है ! चुप रह । जिनदेव ने कहा—पुरुष को कोई कीर्ति का काम करना चाहिए, इसलिए मैंने प्रार्थना की है कि तुम मेरे साथ धन-वाद करो । सुकेतु बोला—जैनी को बाद करना उचित नहीं है । तथापि जिनदेव ने आग्रह नहीं छोड़ा और सुकेतु को धन-वाद स्वीकार करना पड़ा ।

दोनों ने प्रतिज्ञापत्र लिखकर राजा के हाथ सौंप दिए कि जो हारेगा, जीतने वाला उसकी लक्ष्मी ले लेगा। पश्चात् दोनों ने अपने-अपने घर जाकर मैदान में सारे धन का ढेर लगाया और राजादिकों ने दोनों के धन की परीक्षा कर सुकेतु को विजयपत्र दे दिया। क्योंकि धन भंडार उसी के यहां अधिक था। तब जिनदेव बोला कि यथार्थ में मैं जीता हूं। क्योंकि सुकेतु सरीखे सखा की सहाय से आज आनंद संसार को बढ़ाने वाले मोह-महारिपु को मैंने जीत लिया है। ऐसा कहकर सबसे क्षमा माँग सुकेतु के रोकने पर भी जिनदेव ने ससार-देह-भोगों से विरक्त हो जिनदीक्षा ले ली। तब सुकेतु जिनदेव के पुत्र को उसकी सम्पूर्ण लक्ष्मी देकर दानादिक सत्कार करता हुआ सुख से रहने लगा।

मणिनागदत्त सुकेतु के वैभव को देख नहीं सकता था, इसलिए उसने एक दिन अपने नागालय में तपश्चरण पूर्वक नागों का आराधन किया। पहले नागदत्त का पुत्र भवदत्त एक अर्जुन नाम के चांडाल को सबोधन करती हुई यक्षी को देखकर कामज्वर से पीड़ित होकर मर गया था और उस नागालय में उत्पल नाम का देव हुआ था। सो नागदत्त के आराधन से प्रसन्न हो वह बोला—हे नागदत्त, यह कायकेश क्यो करता है ?

नागदत्त—तुम्हारा आराधन करता हूं।

उत्पलदेव बोला—किस लिए ?

नागदत्त—जिस लक्ष्मी से मैं सुकेतु की लक्ष्मी को जीत सकू, वह मुझे तुम्हारे प्रसाद से मिल जावे, इसलिए।

उत्पल—तुम पुण्यहीन हो, इसलिए तुम्हें उसकी लक्ष्मी नहीं दे सकता हूँ।

नागदत्त—पुण्यहीन हूँ, इसीलिए तो तुम्हारी आराधन करता हूँ, नहीं तो तुम्हारी आराधना का प्रयोजन ही क्या था ?

उत्पल—लक्ष्मी को छोड़कर और जो कुछ तुम कहोगे, सो करूंगा।

नागदत्त—तो, सुकेतु को मार डालो।

उत्पल—निर्दोष पुरुष को नहीं मार सकता। उसे कुछ दोष लगाकर अलवत्ता मार डालूंगा।

नागदत्त—किसी भी उपाय से मारो, परंतु मारो। उसके मरने से मैं सन्तुष्ट हो जाऊंगा।

उत्पल—तो मैं बन्दर का रूप धारण करता हूँ। मुझे सोंकल से बाँधकर तुम सुकेतु के निकट ले चलो। वह जब पूछे कि यह बन्दर क्यों ले आये ? तब तुम कहेगा मैं वन में गया था, वहाँ मुझे यह बन्दर दिखलाई दिया। देखते ही इसने पूछा कि क्या देखते हो ? मैंने कहा—तू बन्दर होकर मनुष्य सरीखा बोलता है ! इसने कहा—मैं बन्दर नहीं हूँ, पुण्यदेवता हूँ। मेरा स्वभाव उलटा है। मैंने कहा—सो कैसा ? तब यह बोला—जो मेरा स्वामी होता है, वह जो कुछ आज्ञा करता है, उसे मैं कर लाता हूँ। परन्तु यदि वह कुछ आज्ञा नहीं देगा है, तो मैं उसे मार डालता हूँ। और इसी विरुद्ध स्वभाव से किसी का आश्रय नहीं लेकर मैं वन में रहता हूँ। इसकी उक्त आश्चर्यजनक बातें सुनकर इसे आपके पास ले आया हूँ, यदि आप में आज्ञा देते रहने की सामर्थ्य है तो इसे रख लीजिए, नहीं तो मैं इसे छोड़ देता हूँ।

उत्पल की बातें सुनकर नागदत्त ने वैसा ही किया और सुकेतु ने उस बन्दर को अपने यहां रख लिया। रखते देर नहीं हुई थी कि वह बोला—स्वामिन्, आज्ञा कीजिए। सुकेतु ने कहा—इस नगर के बाहर अनेक जिनमदिरो से युक्त एक रत्नमयी नगर बनाओ। बन्दर ने कहा मुझे छोड़ दीजिए, अभी जाकर बनाता हूँ। सुकेतु ने उसे छोड़ दिया। तब उसने बाहर जाकर थोड़े ही समय में मनुष्यों को कौतुक उत्पन्न करने वाला वैसा ही नगर तैयार कर दिया। और लौट कर फिर आज्ञा मांगी। तब सुकेतु ऐसा कहकर कि 'मैं राजा के समीप जाकर आता हूँ, तब तक तू ठहर' राजा के पास गया, और बाला-देव, मैंने एक नगर बनवाया है, वहाँ आप राज्य कीजिए। राजा ने कहा—तुम्हारे पुण्य के उदय से वह नगर बना है, सो अब वहाँ का राज्य तुम्हीं करो। यह सुनकर सुकेतु राजा का आभार

(शेष आवरण पृ० ३ पर)

संस्थाओं की सुरक्षा : टेढ़ा प्रश्न

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

जिन लोगों को सम्मन्नता ने राग-रग और सुख भोगों का कीड़ा बना दिया है, उन्हें राग-रग में लिप्तता के कारण पढ़ने का समय नहीं मिलता और जो विपन्न है उन्हें गुजारे योग्य आवश्यक सामग्री जुटाने से फुरसत नहीं मिलती। ऐसे में सिद्धान्त सम्बन्धी खोज पूर्ण तथ्यों पर मनन चिन्तन करने वाले कहा, कितने सम्भव है? हा, यदा कदा जो पढ़ भी लेते होंगे उनमें कुछ तो विचकते भी होंगे कि कहा से नई बातें पैदा करके दी जा रही है? उदाहरण के लिए जैसे 'अपरिग्रह को मूल जैन संस्कृति' बतलाकर भूले हुए मूल सूत्र का उद्धाटन करना, जीव-रक्षण, कृष्णा, दया आदि जैसे शब्दों को अहिंसा न कह 'लेश्या' नाम देना और व्रतों में जैनत्व के अनुकूल विरति भाव पोषक 'हिंसाव्रत' जैसे नामों की पुष्टि कर जैनत्व विरोधी, रतिपोषक, 'अहिंसाव्रत' जैसे नामों को निरस्त करना, जैसी बातें पाठकों के गले कड़ा तक उतरती होगी। यह हम नहीं जानते। हा इतना अवश्य कहते हैं कि—

जैन समाज धार्मिक और धर्मप्रधान समाज है। पिछले समय में इसमें पर्याप्त तन्त्र चिन्तक भी रहे हैं और थोड़े बहुत अब भी हैं। कुछ लोग ऐसे विचारों को पढ़ते भी हैं और कुछ लोग अपने अभिमत भी भेजते हैं। हम भी जो लिखते हैं वह बिना किसी पूर्वाग्रह के यह मान कर लिखते हैं कि पाठकों के समक्ष अपनी समझ का दृष्टिकोण रखें और पाठक उसमें संशोधन दें। निश्चित ही ऐसा करने से तत्त्व चिन्तन तो होता ही है, साथ ही निर्णायक दौर की सन्निकटता का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

वर्तमान के वातावरण को तो सभी जानते हैं। लोगों में सिद्धान्त ज्ञान और आचार-विचार पालन का स्थान मिट्टी, पत्थर और जड़ की खोज ले बैठे हैं नए-नए स्थानों

को पुराने तीर्थों की जगह दिलाने की कोशिशें भी लोग करने लगे हैं, सभी ओर आत्मज्ञान का हास है। अधिक क्या कहें जो संस्थाएं धार्मिक तन्त्र-चिन्तन खोज और सुधार हेतु स्थापित हैं, उनमें भी कहीं-कहीं दुष्प्रवृत्ति दृष्टिगोचर है। हमें स्मरण है कि पहिले कभी जब हम एक संस्था का कार्यभार सभालने पहुंचे तो एक दिन हमने देखा कि—संस्था के मुख्य कक्ष में संस्था के कुछ कर्णधार सामूहिक रूप में बैठे ताश खेल रहे थे, चाय, पान का दौर चल रहा था और उनमें से कई की सिगरेटों के धुएँ से प्राण धूम्रायमान हो रहा था। हम आश्चर्य में पड़ गये, सचिस पर नए-नए गए थे। हम अधिकारियों के बीच क्या कहते? चुपचाप अपना सिर धुनते रहे और सोचते रहे—हाय गी, दिगम्बर समाज और उसके ऐसे ये कर्णधार तथा हम जैसे गुलाम पंडित, जिन्होंने पढ़कर भी खो दिया—जो दुराचार के विरोध में चूं तक न कर सके।

कुछ दिनों बाद अवसर पाकर बड़ी हिम्मत जुटाकर डरते-डरते हमने संस्था के मुख्याधिकारी से एकान्त में ऐसे निवेदन किया जैसे मानों हम किसी वरदान पाने की साध में किसी देवता को मना रहे हों। हम सोचते भी रहे कि यदि कहीं इन्हे बुरा लग गया या इन्होंने अपनी और अपन पद की बेइज्जती (Insult) समझी तो हमारा पन्ना साफ होने में सन्देह नहीं। और यदि इन्होंने हमें कोई इत्जाम लगाकर नौकरी से निकाल दिया तो गृहस्थी भूखो मर जायेंगी। क्योंकि निश्चय ही ऐसे लोगों पर निकाल देने से बड़ा अन्य हथियार सुरक्षित नहीं होता। पर गनीमन हुई कि निकल जाना हमें बड़ी बात नहीं थी हम निकाले जाने की सजा के अभ्यासी हो चुके थे—एक स्थान से तो इसी प्रकार के सुकार्य के कारण हम बुरी

सरह निकाले भी जा चुके थे। ऐसे लोगों की दृष्टि में हमारा सुकार्य अक्सर कुकार्य होता था। हम आश्वस्त रहे।

एक जगह तो रुष्ट होकर अधिकारी ने बड़े रोब से दया भाव दिखाते हुए कहा—पंडित जी, आपको निकाल कर हम आपका रिकार्ड खराब नहीं करना चाहते, अच्छा हो आप इस्तीफा दे दें। हमें उनकी बुद्धि पर तरस आया कि उन्हें यह नहीं मालूम कि उनकी खुद की कीमत क्या है? जो समाज की सम्पत्ति पर चौधरी बने बैठे हैं और जिनके निकालने से हमारा रिकार्ड खराब हो जायगा। हमने कहा—आपकी मर्जी है तो हमें निकाल दीजिए। वस उन्होंने हमें निकाल दिया। और हमारा रिकार्ड बना ही रहा, जब कि कुछ वर्षों के बाद संस्था के चुनाव में वे अपना रिकार्ड गँवा चुके। हम अभी तक के जीवन में जैन संस्थाओं में हैं, रहे और रहेंगे। संस्थाएँ हमारा जीवन है।

हमें खुशी हुई कि सांकेतिक संस्था के तत्कालीन मुख्याधिकारी ने हमारी बात गौर से सुनी और हमें 'दाद' दी। उनके बाद जब तक हम उस संस्था में रहे वहां साक्ष लेखना सिगरेट पीना, आदि जैसे निन्द्यकार्य नहीं हुए और ना ही संस्था क्लव रूप में लोग का अड्डा रही—जैसे पहले थी। ये सब मुख्याधिकारी की समझदारी से हुआ, धन्यवाद। आशा है वहाँ यह स्थिति अब भी जारी होगी।

प्रसंग वश हम 'जैन सूत्रोत्तर' निर्वाणकाण्ड का स्मरण करा दें। इसके पढ़ने से जैन की प्राचीन आधुनिक दशाएँ सामने आ जाती हैं। पाठक सोचें, तब धर्मात्माओं—निष्परिग्रहियों की कितनी सख्या थी एक-एक संघ में हजारों मुनिराज होते थे और मोक्ष जाने वालों की सख्या भी सैकड़ों में होती थी। सखरूपी संस्थाओं के कर्णधार तीर्थंकर और आचार्य अपने आदर्शों में आदर्श थे। उन संस्थाओं से आज की संस्थाओं की तुलना कीजिए। तब पूरी बागडोर कर्मठों के हाथों थी और अब गाहे-वगाहे दूध की रखवाली बिल्ली के हाथ जाना भी अपवाद नहीं।

बुरा न मानें। यहां हम व्यक्तिगत संस्थाओं की बात नहीं कर रहे और कहने के अधिकारी भी नहीं। हमारा प्रयोजन उन संस्थाओं से है जो सामाजिक धरोहर है।

ऐसी अधिकांश संस्थाएँ किन्हीं कमेटियों के अधीन होती हैं। और कमेटियों के सदस्यों के चुनाव, संस्था की कार्य विधि या तदनुकूल योग्यता पर आधारित न होकर जन या धन शक्ति के साथ होते हैं। और ये शक्तियाँ अपने स्वभावानुसार संस्था की कार्य विधि में जन, धन शक्ति की बढ़वारी सोचने तक सीमित रह जाती हैं—संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति से इन्हें प्रयोजन नहीं रहता। कई सदस्य तो यह भी सोचते हैं कि संस्था में उनके जन अधिक हों संस्था की चल-अचल सम्पत्ति पर उनके जन और उनका पूरा अधिकार हो और पीढ़ी दर पीढ़ी रहता रहे, तो आश्चर्य नहीं। धन और जन शक्ति अपने अधिकारस्व में रखने की ऐसी दौड़ में कही कही तो केवल हाथ उठाऊ लोग तक सदस्यों में चुने जाते रहे हो तब भी आश्चर्य नहीं। ऐसे में संस्थाएँ धीरे-धीरे विवाद बन जाती हैं और कई समझदार उनसे हाथ खींच लेते हैं। संस्था में भाग न लेने तक जो शान्त होते हैं वे अशान्त हो जाते हैं।

ऐसा सर्वथा ही होता हो—यह भी नहीं है। हमने ऐसे अधिकारियों के साथ भी काम किया है जो संस्था से निष्पृही, सेवाभावी और हमारे (विद्वान) पद के प्रति सदा विनम्र रहे हों। और ऐसों के पास भी काम किया जिन्हें अपने कार्यों से फुसंत नहीं और जो बात-बात में ताना मारते हों "हम कोई नौकर तो नहीं हैं, हमें तनख्वाह थोड़े ही मिलती है आदि।"

तात्पर्य ऐसा कि संस्थाओं में योग्य-अयोग्य सभी तरह के लोग आते रहते हैं। प्रयत्न होना चाहिए कि योग्य लोग संस्थाओं की बागडोर संभालें और यह चुनाव विधि पर निर्भर है कि किस प्रकार उपयुक्त, योग्य और उदार व्यक्ति का चुनाव हो। फलतः ऐसे व्यक्ति की क्या परख हो, इसे सभी को देखना होगा। अन्यथा, जन साधारण के लिए आज की अधिकांश-संस्थाएँ प्रायः ईंट, पत्थर, चूने और धन के ढेर जैसी चल-अचल संपत्ति मात्र बनकर रह गई हैं और कतिपय जन उन्हें आत्मसात् किए बैठे हों तब भी आश्चर्य नहीं। ऐसे लोगों की दृष्टि में संस्थाओं की परिभाषा ही बदली होगी। अस्तु, "जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।"

जरा सोचिए !

आगम-रक्षा : एक समस्या

सर्वमान्य आगम तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'श्रुत मतिपूर्व द्वयनेकद्वादशभेद' सूत्र की व्याख्या में आगम-वक्ता के तीन रूप प्रस्तुत किए हैं और वे वक्ता रत्नकरण्ड में मान्य देव, गुरु के लक्षण से पूर्ण मेल खाते हैं और मूल आगम के सच्च वाहक ये ही हो सकते हैं तथाहि—'त्रयो वक्ताः । सर्वज्ञ तीर्थकर । इतरो वा श्रुतकेवली । आरातीयश्चेति । तत्र सर्वज्ञेन परमविष्णो परमचिन्त्य केवलज्ञानविभूति विशेषेण अर्थतः आगम उद्दिष्टः । तस्य प्रत्यक्षदक्षिणात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम् । तस्य साक्षाच्छिष्यबुद्धयतिशयबुद्धियुक्तगणधरं श्रुतकेवलविभूतस्मृतग्रन्थरचनमंगपूर्वलक्षण तत्प्रमाण, तत्प्रामाण्यात् । आरातीयैर्पुनराचार्यैः कालदोषसक्षिप्तायुर्मतिविलशिक्षानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्ध तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति । क्षीरार्णव जलं घटगृहीतमिव ।' —सर्वार्थ १-२०

अर्थात् वक्ता तीन प्रकार के है (१) सर्वज्ञ तीर्थकर व सामान्य केवली (२) श्रुतकेवली और (३) आरातीय । इनमें से परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञान रूपी विभूति विशेष से युक्त हैं । इस कारण उन्होंने अर्थरूप से आगम का उपदेश दिया । ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं इसलिए प्रमाण हैं । इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धि के अतिशय रूप ऋद्धि से युक्त गणधर श्रुतकेवलियों ने अर्थरूप आगम का स्मरण कर अंग और पूर्वग्रथों की रचना की । सर्वज्ञदेव की प्रमाणता के कारण ये भी प्रमाण हैं तथा आरातीय आचार्यों ने, काल दोष से जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे शिष्यों का उपकार करने के लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे । जिस प्रकार क्षीर सागर का जल घट में भर लिया जाता है उसी प्रकार वे ग्रन्थ भी अर्थरूप में वे ही हैं इसलिए प्रमाण हैं ।

पाठकों की जानकारी के लिए यहां आगम के कुछ लक्षण दिये जा रहे हैं । ये सभी लक्षण आगमों से उद्धृत

है, इसलिए प्रमाण है, कल्पित नहीं । देखें—

१. 'तस्मिहगद वयणं पुष्पावरदोसविरहिय मुद्धं ।
आगमपिदि परिकहिय'..... ॥ नियमसार ८१
२. 'आगमो हि णाम केवलणायुरस्सरो पाएण अणिदि-
यत्थ विसओ अचितिय सहाओ जुत्तिगोयरातीदो ।'
—धवला पु० ६ पृ० १५१
३. 'आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः ।
—भग० आ० विजयो० टी० २३
४. 'आप्त वचनादि निबधनमर्थज्ञानमागमः ।'
—परीक्षा ३।६६ न्यातदी० पृ० ११२
५. 'आगमो वीतराग वचनम् ।' धर्म र.प्र.स्वो. वृ.पृ. ५६
६. 'अतस्सवयणमागमो ।' —अनु० चू० पृ० १६
७. 'आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सर्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ।'
—न्यायावतार, रत्नकरण्ड ६

अर्थात्—केवली के मुख से प्रकट वचन पूर्वपर दोष-रहित, शुद्ध है । उनके द्वारा कहे गये वचन आगम है । जो केवलज्ञान पूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्रायः अतीन्द्रिय पदार्थों को (भी) विषय करने वाला है, अचिन्त्य स्वभावी है और युक्ति के विषय में परे है उसका नाम आगम है । सर्वज्ञ जो (नियमतः) राग द्वेष रहित है उनके द्वारा रचा गया आगम है । आप्त वचनादि से होने वाले पदार्थ ज्ञान का नाम आगम है । वीतराग वचन को आगम कहते हैं । आप्त के वचन आगम है ।

आगम लक्षण के उपर्युक्त क्रम में सातवा क्रम न्याया-वतार और स्वामी समतभद्र के मन्तव्यों का है । श्लोक की उद्धातिका में क्रमशः—'तत्किंभूतमिति तद्विशेषणान्याह' (शास्त्र कैसा है, उसके विशेषण कहते हैं) और 'कीदृश तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह' (जो उन्होंने रचे है वे शास्त्र कैसे हैं) लिखा है । अर्थात् श्लोक में दिए गए सभी विशेषण आप्तोपज्ञ (आगम) के हैं और ये विशेषण आप्तोपज्ञ होने के कारण से ही हैं । कहा भी है—'यस्मात्तदाप्तोपज्ञ

तस्मादिन्द्रादीनामनुल्लङ्घ्यं । कस्मात् ? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लङ्घ्यं सर्वज्ञ प्रणीतं शास्त्र ततस्तत्सर्वं ।'—(प्रभाचन्द्रवृत्ति ९) अर्थात् वे आप्त द्वारा कथित होने से इन्द्र आदि (आचार्यों) द्वारा अनुल्लङ्घ्य है, सर्वज्ञप्रणीत होने से सर्वहितकारी—सार्वजनीन है । अतः हम ऐसा मानते हैं कि आगम सर्वज्ञवाणीरूप होने से स्वयं प्रमाण और अपरीक्ष्य हैं । इसके सिवाय ऊपर लिखे आगम लक्षण (न० २) में तो घबलाकार ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि—आगम युक्ति आदि के गोचर नहीं है । ऐसी अवस्था में स्वयं अप्रामाणिक, हम जैसा कोई मन्दबुद्धि यदि अपनी कमजोर बुद्धिरूपी कमजोर कसौटी पर कसकर आगम में प्रामाणिकता लाने की बात करे तो इसे आगम की अवहेलना ही कहा जायगा । भला, कोई मन्दबुद्धि सर्वज्ञवाणी (आगम) की परीक्षा करेगा भी कैसे ? एक ओर तो हम आगम को स्वतः प्रामाण्य माने और दूसरी ओर किन्हीं विशेषणों से उसकी परख की बात कर, आगम को परत-प्रामाण्यसिद्ध करने की बात करे तो यह आगम के स्वतः प्रामाण्य का विरोध ही होगा ।

सच तो यह है कि हम दिगम्बर सर्वज्ञ की मूलवाणी और श्रुत केवलियों द्वारा सकलित अग पूर्वी का सर्वथा लोप मान बैठे* या शेष रहे दृष्टिवाद श्रुत ॐ की सीमा में न रह सकें और कुछ लोग 'अनात्मार्थ विनारामैः' की अवहेलना कर सग्रंथों और आरम्भियों की कृतियों को आगम में मिश्रित कर उन्हें आगमरूप में अर्ध चढ़वाने लगे, तब आगम की परीक्षा की बात पैदा हुई । जबकि अल्पबुद्धि और परिग्रहियों के लिए आगम-परीक्षणकार्य सर्वथा अशक्य है—'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्नाः ।'—जैसा कि आज हो रहा

है और जिसके कारण इसे निकालो, इसे रखो जैसा आंदोलन चल पड़ा है ।

यद्यपि पं० प्रवर टोडरमल जी से पहिले, चामुण्डराय, पं० आशाधर और राजमल प्रभृति श्रावकों द्वारा अनेक ग्रंथ लिखे गये और वे पंडित जी के समक्ष (जानकारी में) थे, पर पंडित जी ने अपने स्वाध्याय ग्रंथों में उन्हें स्मरण न कर परम्परित मान्य आचार्यों (निर्ग्रन्थ गुरुओं) के ग्रंथों को ही सम्मान दिया ।* यदि सग्रन्थों द्वारा रचित ग्रंथ आगम होते तो पंडित जी उनमें से किसी एक के नाम का तो उल्लेख करते, जैसा उन्होंने नहीं किया । फलित होता है पं० जी की दृष्टि परम्परित आचार्यों को प्रामाणिक मानने तक ही सीमित रही है । सर्वार्थसिद्धि में आचार्यों को आगम वक्ता स्वीकार किया ही है—गृहस्थों को नहीं ।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान में आगम वे ही हैं जो आप्तकथित और परम्परित प्रामाणिक निर्ग्रन्थ-गुरुओं द्वारा (जैसा कि सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है) निबद्ध हों । अन्य कृतियों को हम आगमानुसारी कह सकते हैं और वह भी गारण्टी के बिना । कारण स्पष्ट है कि गृहस्थियों में 'अनात्मार्थ विनारामैः' पन घटित नहीं होता और वे विषयों की आशा से रहित, निरारम्भी और निष्परिग्रही नहीं होते और इन गुणों के बिना वे आप्त और निर्ग्रन्थ गुरुओं जैसा निर्दोष व्याख्यान नहीं कर सकते । आगम लक्षणों से और सर्वार्थसिद्धि १-२० की टीका से भी हमारे कथन की पूर्ण पुष्टि होती है ।

अमुक को रखो, अमुक को निकालो जैसी एक लक्ष्य-विकृति के निवारणार्थ हम पहिले भी कह चुके हैं कि—

* 'दिगम्बरों ने पाटलिपुत्र में सकलित आगमों को मानने से इन्कार कर दिया और उन्होंने यह घोषणा कर दी कि अग और पूर्व नष्ट हो गये ।'

—जैन साहि० इति-पूर्व पीठिका पृ० ४९६

❖ 'श्वेताम्बर परम्परा जिम दृष्टिवाद श्रुत का उच्छेद मानती है उसी दृष्टिवाद श्रुत के अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद पूर्व से षट् खडागम, महावध, कषायपाहुड आदि दिगम्बर सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना हुई है ।'

—जैनदर्शन (पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ० १३

* उपयोगी ग्रन्थों का किञ्चित् अभ्यास करि टीका सहित समग्रसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र अर अणुसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अष्टपाहुड, आत्मानुशासन आदि शास्त्र अर श्रावक मुनि का आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र, अर सुष्ठुकथा सहित पुराणादि शास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र हैं ।'

—मोक्षमा० प्रकाशक (प्रथम अधिकार)

‘मन्दिरों में मूल के सिवाय कोई भी वह कृति न रखी जाय जो किन्हीं परम्परित आचार्यवर्य की न हो।’ इसमें हमारा भाव ‘आगमरूप में न रखी जाय’ ऐसा रहा है। जैसा कि हमने अपने लेख के प्रारम्भ में स्पष्ट भी कर दिया है—‘अमुक आगम है, और अमुक आगम नहीं है, अमुक को निकालो, अमुक को रखो ऐसी चर्चा चारों ओर है’, आदि। उक्त प्रसंग हम आज भी दुहराते हैं और चाहते हैं कि विवाद शान्त करने के लिए सभी प्रकार की धुमपैठ रोक दी जाय। पूर्वाचार्यों के आदेशानुसार परम्परित निर्यन्त्र आचार्यों की रचनाएँ ही आगम श्रेणी में मानी जाय और अन्योक्त भावार्थ, विशेषार्थ, खुलामा अर्थ और स्वतंत्र रचनाओं को (जिनसे मतभेद—विवाद पनप सकता है) आगम न कहा जाय। भले ही उसे आगमानुसारी श्रेणी में, (बिना किसी गारंटी के) रख लिया जा सकता हो। किसी प्रकार की कोई सीमा न होने से एक मन्दिर में तो हमने एक अभिनन्दन ग्रन्थ तक को शास्त्र की चौकी पर, स्वाध्याय के रूप में देखा है। यानी कुछ भी हो, कोई ग्रंथ हो, चल मन्दिर में—ऐसी परम्परा चल पड़ी है। सोच लेना चाहिए कि समोसरण कोई ऐसी लाइब्रेरी नहीं है जहाँ सभी प्रकार के ग्रंथ रख दिए जाय। मन्दिर की अपनी मर्यादा है, मन्दिर में शास्त्र-मण्डार है, जिसमें मूल और प्रामाणिक दिव्यध्वनि ही स्थान पा सकती है। पूजा और जैन पदों की पुस्तकें वीतरागभक्ति के लिए रखी जा सकती है।

हम जिन, जैन, जिनवाणी और अपने विद्वान् गुरुगण तथा गुरुसमो के श्रद्धालू हैं। लोग जिन भाषान्तरकार विद्वानों के गुणगान करेंगे, शायद उन विद्वानों के अपेक्षाकृत हम अधिक भक्त होंगे। कितनी ही को तो हम किसी हद तक प्रामाणिक भी मानते होंगे। पर, हमसे यह पाप न हो सकेगा कि हम उन्हें ‘जिन’ और निर्यन्त्र आचार्यों के सम बिठा, उनके भाषान्तरों आदि को जिनवाणी के साथ अर्घ दिला जिनवाणी की अवहेलना करें। उनके भाषान्तर चाहे बहुमत की दृष्टि में ठीक ही क्यों न हो? हम तो उन भाषान्तरों को आगमानुकूल भी हो सकते हैं ऐसा कह, आगम नहीं हैं—ऐसा ही कहेंगे। हमारा यह भी विश्वास है कि स्वयं कोई भाषान्तरकार भी अपने भाषान्तर को आगम घोषित करने की चेष्टा न करेगा। अस्तु :

जब हमने परम्परित प्रामाणिक निर्यन्त्र आचार्यों की मूलकृतियों मात्र को मन्दिरों में रखने की बात कही तो एक प्रमुख ने हमसे कहा—इससे तो आगम भाषा से अज्ञान लोगों का संकट बढ़ जायगा। हमने कहा—अपना संकट बचाओ या मूल आगम की रक्षा करो। दोनों बातें तभी हो सकती हैं जब विद्वन्मुख से मूल का (मौखिक रूप) अर्थ सुना जाय। अर्थ के मौखिक होने से किसी गलत रिकार्ड बनने की शंका भी न रहेगी और आगम भी सुरक्षित रहेगा। प्रारम्भिक समय में ऐसा ही होता रहा है। भाषान्तरकारों की लेखरूप में भाषान्तर करने की उदारता भी आज संभावित भावी विद्वत्समाज के वंश को ले बैठने में एक कारण बनी है? क्योंकि आज सभी को भाषान्तर सुलभ हैं—चाहे वे गलत ही क्यों न हो—लोग उन्हें पढ़ते हैं। उन्हें विद्वानों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और वे विद्वानों के उत्पादन से मुछ मोड़ बैठे हैं। पाठशालाएँ भी समाप्त प्रायः हैं। पंडितों ने अपनी पीढ़ी तैयार करने से भी इसीलिए विराम लिया है कि अब समाज को उनकी आवश्यकता नहीं। भाषान्तरों की बहुतायत से पहिले एक समय था जब सरस्वती सदा लक्ष्मी के सिर पर बैठती थी—लोग पंडितों को सम्मान देते थे, जबकि आज लक्ष्मी ने सरस्वती को दासी बना लिया है। दूसरी बात इन भाषान्तरों से यह हुई कि आगम में अनागम भी धुमपैठ करने लगा—गलत भाषान्तर भी अर्घ पाने लगे—जिनवाणी अप्रामाणिक (मिश्रित) होने लगी। और तीसरी बात जो सर्वाधिक भयावह है वह है—मूल आगम के भावों लोप का प्रसंग। जब सभी लोग मूल की उपेक्षा कर मात्र भाषान्तर पढ़ते रहेगे तो एक समय ऐसा भी आयेगा जब मन्दिरों में शेष बचा मूल-आगम भी रखा-रखा जीर्ण-शीर्ण हो जायगा। लोगों के ज्ञान में तो उसके रहने का प्रश्न ही नहीं।

हम यह भी जानते हैं कि हमारी उक्त योजना से धार्मिक-साहित्य के प्रति व्यापारी मनोवृत्ति के लोगों के मन और उनके व्यापार को घक्का लग सकता है, वे इसका विरोध भी करें तो हमें आश्चर्य नहीं। पर, हमें यह भी इष्ट नहीं कि किसी व्यापार के लिए धर्म और आगम का स्वरूप ही बदल दिया जाय। सोचने की बात यह है कि जिस धर्मके अपने मूल-आगम ही सुरक्षित नहीं रहें उस धर्म

के अनुयायी कैसे सुरक्षित रह सकते हैं ? फिर तो ऐसा ही होगा कि अपने को जैन घोषित करते रहो और जैसी चाहो धर्मविमुख प्रवृत्तियाँ करते रहो। आखिर, रजनीश भी तो भगवान न होते हुए, अपने को भगवान घोषित किए बैठे हैं।

हम एक बात फिर कह दें कि हम जो विचार देते हैं नम्र होकर देते हैं और वे हर व्यक्ति को विचार कर निर्णय के लिए होते हैं, किसी खंडन-मंडन या उत्तर-प्रत्युत्तर के लिए नहीं होते। पसंद आएँ तो ग्रहण करें अन्यथा छोड़ दें। यह हम इसलिए भी निख रहे हैं कि कोई सज्जन इन्हें समाज में विघटन का मुद्दा न बना लें जैसी कि आज प्रथा चल पड़ी है। हमारी भावना यही है कि—मूल आगम सुरक्षित-निर्दोष रहें, विद्वानों का उत्पादन हो, पाठशालाएं चलेँ और मूल-आगम को विद्वन्मुख से मौखिक रूप में पढ़ा और सुना जाने की परिपाटी पुनः चालू हो। मौखिक इसलिए ताकि कोई गलत रिकार्ड न बने—सभी विद्वान् विभिन्नमति हो सकते हैं—कोई अर्थ में चूक भी सकते हैं। हम बारम्बार विनम्र प्रार्थना करते रहे हैं कि अमूल्य जिन-वाणी की रक्षा हेतु हल्के और काल्पनिक यद्वा-तद्वा लेखन—

नए प्रकाशन के व्यापार को बन्द कर प्राचीन मूल आगम ग्रन्थों के प्रकाशन, पठन-पाठन पर बल दिया जाय।

क्या कहें ? आज जन-दृष्टि प्रायः 'पर' पर केन्द्रित हो बैठी है, सभी 'पर' के सुधार को लक्ष्य बनाए हुए हैं। पूछते हैं—हमारा लड़का कैसे धर्मात्मा रह सकेगा या अमुक अन्य का सुधार कैसे हो सकेगा ? नई पुस्तकें छपाने और अन्य साधारण में उनके प्रचार को भी उन्होंने इसीलिए चूना रखा है। ऐसे लोगों को मालूम होना चाहिए कि यदि उनका ज्ञान, ध्यान और आचरण ठीक होगा तो आगे सभी ठीक होगा। अतः उन्हें पहिले अपना व्यवहार सुधारने पर बल देना चाहिए। आज नेता चिल्लाते हैं, कोई सुनता नहीं, नेता को खीझ उठती हैं। यही खीझ यदि नेता को अपने आचरण के प्रति उठे, तब कार्यसिद्धि हो। हमारा निवेदन है कि नेतागण और सर्व साधारण, सभी मूल जिन-वाणी को गुरुमुख से पढ़ें, उसे समझें और तदनुरूप आचरण करें तो सभी धार्मिक प्रसंग सहज स्थिर और उन्नत हो सकते हैं और जिनवाणी भी सुरक्षित रह सकती है।

—सम्पादक

(पृ० २४ का शेषांश)

गुफाओं में उत्कीर्ण दृश्यों से हमें तत्कालीन जैन-समाज में प्रचलित आमोद-प्रमोद के माध्यमों एवं साधनों का भी आभास मिलता है। मनोरंजन के लिए खेल-कूद, संगीत, नृत्य तथा झील-विहार आदि का प्रचलन आम था। नृत्य-संगीत पर स्त्रियों का एकाधिपत्य लक्षित होता है। बांसुरी एवं मृदंग आदि वाद्य-वृन्द गुफाओं में उत्कीर्ण दृश्यों में देखे जा सकते हैं। आखेट के दृश्यों में लोगों को हिरण का शिकार तीर-धनुष से, सिंह का शिकार भालों से तथा हाथियों का शिकार गदा एवं बड़े-बड़े डंडों से करते हुए दिखलाया गया है। युद्ध एवं द्वन्द्व के दृश्य भी देखने को मिलते हैं। युद्ध के दृश्यों का अध्ययन करने से पता चलता है कि युद्ध में तीर-कमान तथा तलवार एवं ढाल आदि अस्त्र-शस्त्रों का व्यवहार होता था। सतरियों को तलवार के अलावा भाला एवं डंडे से लेस भी दिखलाया गया है। सेना में पैदल सेना, घुड़सवारों तथा हाथी-बल का समावेश था। युद्ध में राजा को स्वयं सेना का नेतृत्व करते हुए दिखलाया गया है। एक दृश्य में चार घोड़ों से जुते रथ का

अंकन है। राजा अपनी दिग्विजयों में हमेशा दो परिचायकों द्वारा घिरा दिखाया गया है, जिनमें एक छत्र पकड़े हुए है तथा दूसरा पताका। ये दोनों चीजें राजकीय महत्त्व की हैं। युद्ध-विजय कर वापस आने पर राजा का समारोह पूर्वक भव्य स्वागत होता था।

स्त्रियों की दशा पर भी इन कलाकृतियों से प्रकाश पड़ता है। समाज में स्त्रियों का सम्मान था। उत्कीर्णियों में कई स्त्रियों को अपने पतियों ने साथ धार्मिक अनुष्ठानों एवं अन्य समारोहों में भाग लेते हुए दक्षित किया गया है। उन्हें हाथी की सवारी करते हुए तथा आखेट में भाग लेते हुए भी चित्रित किया गया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि यदि इन प्राचीन स्मारकों एवं उनमें उत्कीर्ण मूर्तियों आदि का गहन अध्ययन किया जाए तो तत्कालीन जैन समाज के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश पड़ेगा तथा बहुत-सी नई जानकारी मिलेगी।

नेहरू नगर, पटना-८०००१३

(बिहार)

आत्मानुभवो परम्परित निर्ग्रन्थ आचार्यों का ग्रन्थ-कर्तृत्व

‘दिव्य ध्वनि करि उपदेश हो है । ताकै अनुसरि गणधरदेव अंग प्रकीर्णकरूप ग्रन्थ गुण्य हैं । बहुरि तिनके अनुसारि अन्य-अन्य आचार्यादिक नाना प्रकार ग्रन्थादिक की रचना करै है ।’—

‘बहुरि केतेक कालताई थोरे अंगनि के पाठी रहे (तिनने यह जानकर जो भविष्य काल में हम सारिखे भी ज्ञानी न रहेंगे, तातैं ग्रन्थ रचना आरम्भ करी और द्वादशांगानुक्त प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ रचे) पीछे तिनका भी अभावभया । तब आचार्यादिकनिकरि तिनके अनुसारि बनाए ग्रन्थ वा ग्रन्थनि के अनुसारि बनाए ग्रन्थ तिनही की प्रवृत्ति रही ।’—

‘प्रथम मूल उपदेश दाता तो तीर्थकर भए सो तो सर्वथा मोह के नाशतैं सर्व कषायनिकरि रहित ही हैं । बहुरि ग्रन्थकर्ता गणधर वा आचार्य ने मोह का मन्द उदय करि सर्व बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह को त्यागि महामन्द-कषायी भए है । तिनके तिस मंदकषायकरि किंचित् शुभोपयोग ही की प्रवृत्ति पाइए है ।’—

‘मूलग्रन्थ कर्ता तो गणधर देव है ते आप चार ज्ञानधारक है अर साक्षात् केवली का दिव्यध्वनि उपदेश सुनै हैं ताका अतिशय करि सन्त्यार्थ ही भाषै है । अर ताही के अनुसारि ग्रन्थ बनावै हैं । सो उन ग्रन्थनि विषे तो असत्यार्थपद कैसे गूथे जाय अर अन्य आचार्यादि ग्रन्थ बनावै हैं तो भी यथायोग्य सम्यग्यान के धारक हैं । बहुरि ते तिन मूल ग्रन्थनि की परम्परा करि ग्रन्थ बनावै है ।’

‘बहुरि वक्ता का विशेष लक्षण ऐसा है जो याकै व्याकरण, न्यायादिक वा बड़े-वड़े जैन शास्त्रनि का विशेष ज्ञान होय तो विशेषपने ताको वक्तापनो शोभै । बहुरि ऐसा भी होय अर अध्यात्म-रसकरि यथार्थ अपने अनुभव जाकै न भया होय सो जिन धर्म का मर्म जाने नाही, पद्धतिकरि ही वक्ता होय है । अध्यात्मरसमय साँचा जिन धर्म का स्वरूप वाकरि कैसे प्रगट किया जाय । तातैं आत्मज्ञानी होइ तो साँचा वक्तापनो होइ ।’—

—मोक्षमार्ग प्रकाशक, पहिला अधिकार

(पृ० २६ का शेषांश)

मानता हुआ घर आया । आते ही बन्दर बोला—स्वामिन्, आज्ञा दीजिए । सुकेतु बोला—अच्छा अब सबको ले जाकर मेरे उस नवीन नगर में ठहराओ । बात की बात में उसने ऐसा ही कर दिखाया । और सुकेतु को उसकी स्त्री धारिणी सहित राजभवन में ले जाकर मिहामन पर बैठाया और फिर आज्ञा मागने लगा । तब सुकेतु ने कहा—गंगाजल लाकर धारिणी सहित मेरा राज्याभिषेक करके राज्यमुकुट पहनाओ । बन्दर ने वैसा ही किया और आज्ञा मागने लगा । सुकेतु बोला—नागदत्तादि सब लोगों को महल मकान देकर उनको अक्षय धनधान्यादि से पूर्ण कर दो । उसने तत्काल ही वैसा भी कर दिया, और फिर आज्ञा मांगी । तब सुकेतु ने खिसियाकर कहा, अच्छा मेरे राजमहल के आगे एक खंभा गाड़कर उसकी जड़ से एक साकल बांध उस साकल के सिरे पर एक कड़े में अपना सिर फँसाकर जब तक मैं नहीं रोकूँ, तब तक खंभे के ऊपर चढ़ और नीचे उतर । बेचारे बन्दर ने इस आज्ञा के अनुसार दो-तीन दिन तक खंभे पर वह कसरत की, परन्तु जब सुकेतु ने नहीं रोका, तब थककर वह वहाँ से भाग गया ।

सुकेतु सैठ बहुत समय तक राज्य करके एक दिन अपने सिर में श्वेत बाल देखकर ससार से विरक्त हो गया । इसलिए वह अपने पुत्रको राज्य देकर राजा वसुपाल से अपने को छोड़ा अर्थात् आज्ञा ले मणिनागत्तादि बहुत लोगों के साथ भीम भट्टारक के निकट दिगंबर मुनि हो गया और तपस्या करके मोक्ष को प्राप्त हुआ । धारिणी भी तपकर अच्युत स्वर्ग में देव हुई । मणिनागदत्तादि यथायोग्य गतियों को प्राप्त हुए । सुकेतु के घर से निकलते ही वह देवमयी नगर लोप हो गया ।

इस प्रकार एक बार के दान के फल से सुकेतु को देवदुर्लभ सुख प्राप्त हुए और अंत में मोक्ष प्राप्त हुआ । इसलिये सब लोगों को दान-धर्म में तत्पर रहना चाहिए । □ □

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजगलक्ष्मिणी			
जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द ।	...	...	४-५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	...	...	१६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पञ्चपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।			१५-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : ग्रन्थात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित			५-५०
अथर्ववेदलक्षण और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	...	...	३-००
न्याय-वैपिका : ज्ञा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ।			१०-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द ।			७-००
कलायपाहुडमुक्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	...	...	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया			७-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री			१२-००
आवक धर्म संहिता : श्री दरयाबसिंह सोधिया			५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री		प्रत्येक भाग	४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित			२-००
मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	...	...	२-००
Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942)		Per set	600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेंसी, डी०-१०५, न्यूसीलनपुर, दिल्ली-५६
से मुद्रित ।

धीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० ३

जुलाई-सितम्बर १९८६

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अनेकान्त-महिमा	१
२.	गणीन्द्र गौतम का २५००वां निर्वाण वर्ष —डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	कामदेव प्रद्युम्न—डा० इन्दुराय	५
४.	धर्मसार सतसई : श्री कुन्दनलाल जैन दिल्ली	१३
५.	महाकवि धवल और उनका 'हरिवंशपुराण' —श्रीमती अलका प्रचंडिया	१६
६.	महाकवि अर्हदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व —डा० कपूरचन्द जैन, खतोली	१७
७.	भगवती आराधना में तप का स्वरूप —कु० निशा, बिजनौर	२१
८.	मुक्ति में करुणा : एक विसंगति —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	२५
९.	पतन का कारण : परिग्रह —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	२८
१०.	जरा सोचिए : —सम्पादकीय	२९
११.	वर्णा-वाणी-स्मरण—	आ०पृ० २

प्रकाशक

धीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वर्णी-वाणी-स्मरण

—संसार मे जहाँ परिग्रह होता है वही पारस्परिक सौमनस्य की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। अतः मनुष्यों ने विचार किया कि जब परिग्रह अनर्थ का मूल है तब इसे ऐसे कार्यों में लगाओ जहाँ इसके द्वारा अशान्ति न हो। परन्तु यह तो जिस परिणाम का है, जहाँ गया अपना कार्य करेगा। और की कथा छोड़ो, मन्दिर मे गया तो वहाँ पर भी इसने अपना रङ्ग जमाया। मन्दिर के निधि-रक्षक के हृदय में ऐसा अभिमान उत्पन्न किया कि “मैं मन्दिर का खजाञ्ची हूँ।” फूलकर कुप्पा हो गया। (२०-१-५१)

—द्रव्य अनर्थकारी है परन्तु मन्दिर का द्रव्य तो सबसे अधिक अनर्थकारी है। जो मनुष्य मन्दिर के द्रव्य का स्वामी बन जाता है वह श्रेष्ठ को तुच्छ समझने लगता है और जो मन्दिर का द्रव्य जिसके हाथ में रहता है उसको अपना समझने लगता है। परिणाम यह होता है कि समय पाकर दरिद्र बन जाता है और अन्त में जनता की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। अतः मनुष्यता की रक्षा करने वाले को उचित है कि मन्दिर का द्रव्य कभी भी अपने निजी उपयोग में न लावे। द्रव्य वह वस्तु है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य न्यायमार्ग से च्युत होने की चेष्टा करने लगता है। (१०-३-५३)

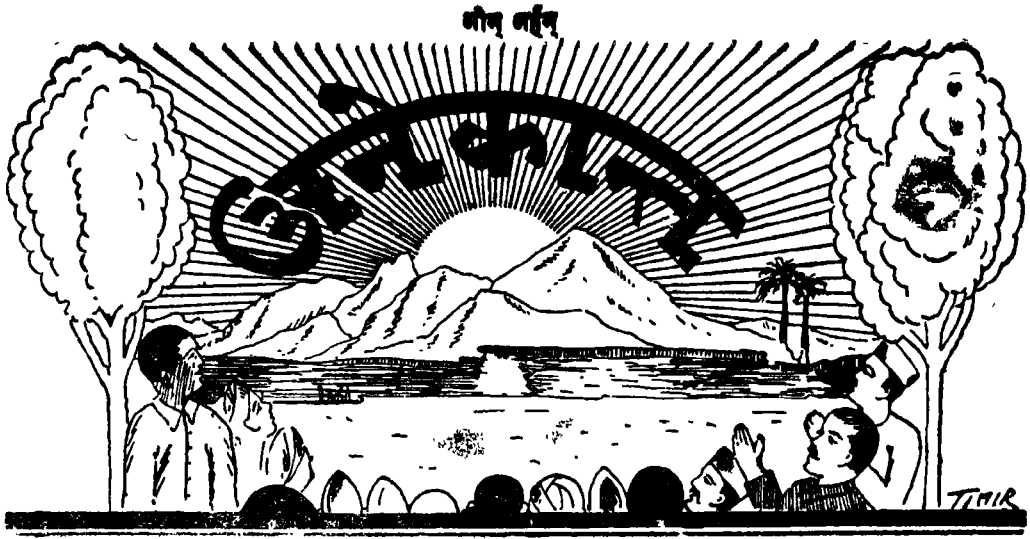
—वासना में अनेक प्रकार के सकल्प रहते हैं जो प्रायः प्रत्येक मनुष्य के अनुभव में आ रहे हैं। यही कारण है जो लोक मे प्रायः सभी दुःखी देखे जाते हैं। सुख का अनुभव उसी को होगा जो सब चिन्ताओं से रहित हो जावे। अन्य की कथा छोड़ो जो घर छोड़ देते हैं वे भी गृहस्थों के सदृश व्यग्र रहने हैं। कोई तो केवल परोपकार के चक्र में पड़कर स्वकीय ज्ञान का दुरुपयोग कर रहे हैं। कोई हम त्यागी है, हमारे द्वारा संसार का कल्याण होगा ऐसे अभिमान मे चूर रहकर काल पूर्ण करते हैं। (३१-५-५१)

—यदि अन्तरंग गूढ़ता है तब त्यागी होता समाज को भार है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, इसका उपयोग करो। उसमे हर्ष-विषाद मत करो; अन्यथा वह उ-य जो आया है, निर्गणि होकर भी आगामी बन्ध का जनक होगा। जैसे—गज स्नान तो करता है; स्नान मे पूर्व धूल का सम्बन्ध विलग हो जाता है। परन्तु फिर नवीन धूल का सूँडके द्वारा सम्बन्ध कर लेता है और प्राचीन दशा का भोक्ता होता है। (आपाद सुदी ५)

—शान्ति का मार्ग इस लोकेषणा से परे है। लोक प्रतिष्ठा के अर्थ त्याग व्रत सयमादि का अर्जन करना धूल के अर्थ रत्न को चूर्ण करने के समान है। पचेन्द्रिय के विषयो को सुख के अर्थ सेवन करना जीवन के लिए विष भक्षण करना है। जगत् के मनुष्य आत्मीय स्वार्थ के लिए ही कोई कार्य करते हैं। यह कोई निन्दा की बात नहीं। सामान्य मनुष्यों की कथा तो छोड़ो किन्तु जो विद्वान् है वह भी जो कार्य करते हैं आत्मप्रतिष्ठा के लिए ही करते हैं। यदि वह व्याख्यान देते हैं तब यही भाव उनके हृदय मे रहता है कि हमारे व्याख्यान की प्रशंसा हो अर्थात् लोग कहें कि महाराज ! आप धन्य हैं, हमने तो ऐसा व्याख्यान नहीं सुना जैसा श्रामुख से निर्गत हुआ। हम लोगों का सौभाग्य था जो आप जैसे सत्पुरुषों द्वारा हमारा ग्राम पवित्र हुआ। ग्राम ही नहीं आज हम लोगो के गृह आपके चरणस्पर्श से पवित्र हो गये। महान् पुण्य का उदय होता है तभी आप जैसे महात्माओं का मिलाप होता है। इत्यादि वाक्यों को सुनकर व्याख्याता महोदय हृदय मे प्रसन्न हो जाते हैं। (२४-६-५१)

—आजकल सब मनुष्य नेता बनने के प्रयास मे हैं। जो मनुष्य आत्मीय गुणों का विकास करने में असमर्थ है, निरन्तर व्यग्र रहता है, जिसका कोई लक्ष्य नहीं ऐसा उद्देश्य शून्य मनुष्य क्या उपकार करेगा ? जो स्वयं दरिद्र है वह पर का पोषण क्या करेगा ? जो स्वयं अन्धा है वह पर को मार्ग नहीं दिखा सकता। इसी तरह जो स्वयं आत्म-ज्ञानशून्य है वह पर के हित की वार्ता क्या करेगा ? (२६-७-५१)

(वर्णी-वाणी भाग ३ से साधार)



परमागमस्य बीजं निमिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६
किरण ३

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५११, वि० सं० २०४३

{ जुलाई-सितम्बर
१९८६

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्तो प्रत्यगात्मनः ।

अनेकान्तमयीमूर्तिनित्यमेव प्रकाशताम् ॥

जेण विणा लोगस्स वि व्यवहारो सववह्मा राण शिव्वडइ ।

तस्स भवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥

परमागमस्य बीजं निमिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

भट्ठमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स ।

जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ॥

परमागम का बीज जो, जेनागम का प्राण ।

‘अनेकान्त’ सत्सूर्य सो, करो जगत् कल्याण ॥

‘अनेकान्त’ रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश ।

मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥

अनन्त-धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे—हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे ।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो ।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु स्वभावों के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूं ।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुख पूर्वक समझ में आने वाले; भगवान् जिनके (अनेकान्त गर्भित) बचन के भद्र (कल्याण) हों ।

□□□

गणोन्म गौतम का २५००वां निर्वाण वर्ष

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान महावीर (ई० पू० ५००-५२७) के धर्मतीर्थ में उन सर्वज्ञ-वीतराग-हितोपदेशी जिननाथ के पश्चात् सर्वप्रथम स्थान उनके अग्रशिष्य एवं प्रधान गणधर भगवत् इन्द्रभूति गौतम का है। प्रत्येक शुभ-कार्य के प्रारंभ में पढ़े जाने वाले मंगल-श्लोक—“मंगल भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी” आदि में भी भगवान् महावीर के साथ ही साथ गौतम गणेश का मंगल स्मरण नित्य किया जाता है।

वस्तुतः भगवान् महावीर का तीर्थङ्करत्व तब तक सार्थक नहीं हुआ जब तक कि उन्हें गौतम स्वामी के रूप में सर्वथा उपयुक्त गणधर का सुयोग प्राप्त नहीं हो गया। भगवान् को केवल ज्ञान की प्राप्ति वर्तमान बिहार राज्य में ऋजुकूला नदी के तटवर्ती जूँभिक (जम्हुइ) ग्राम के बाहर एक शालवृक्ष के नीचे, ईसा पूर्व ५५७ की वैशाख शुक्ल दशमी के अपराह्न में, हुई थी। इन्द्रादि देवों ने आकर पूजोत्सव किया, समवसरण भी रचा गया, किन्तु भगवान् की वाणी नहीं खिरी—वह ६६ दिन तक मोन रहकर विहार करते रहे, और आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा के दिन मगध महाराज्य की राजधानी राजगृह अपरनाम पञ्चशीलपुरके वैभार पर्वत पर आ विराजे। उसी दिन, वहीं स्वतः प्रेरित होकर, अथवा षट्क-वेषी इन्द्र की प्रेरणा से समस्त वेद-वेदांगों का अधिकारी आचार्य द्विजोत्तम इन्द्रभूति गौतम अपने शिष्य समुदाय सहित, आत्म-तत्त्व विषयक अपनी शंकाओं के समाधानार्थ पधारा। समवसरण के मध्य गन्धकुटी के ऊपर अन्तरीक्ष विराजमान उन भीमत् केवलज्ञान-साम्राज्य-पदशाली परम तेजस्वी अर्हत् परमात्मा के साक्षात् दर्शन प्राप्त करते ही उस ख्याति प्राप्त विद्वत् शिरोमणि विप्रश्रेष्ठ महापण्डित इन्द्रभूति गौतम का सम्पूर्ण ज्ञानमद विगलित हो गया, वह विनम्र एवं विनयाभूत हो गया, उसकी समस्त शंकाएँ स्वतः निर्मूल

हो गई। और उसने अपने समस्त शिष्यों सहित भगवान् महावीर का शिष्यत्व तर्हस्वीकार कर लिया। तभी से वह पावन आषाढी पूर्णिमा लोक में गुरुपूर्णिमा के नाम से प्रसिद्ध रहती आई है। गौतम स्वामी के अनुज वायुभूति एवं अग्निभूति तथा अन्य उन्ही जैसे आठ दिग्गज पण्डित भी अपने-अपने शिष्य समूहों सहित उसी समय दीक्षित हुए, और गौतम सहित भगवान् महावीर के ये ग्यारह गणधर बने। अगले दिन, श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के प्रातःकाल सूर्योदय की प्रथम किरण के साथ, अभिजित नक्षत्र में, निकटस्थ विपुलाचल के शिखर पर, जहाँ उस समय समवसरण-सभा जुड़ी थी, चतुर्विध श्रीसघ (मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका) के समक्ष त्रैलोक्य-पूजित जगद्गुरु तीर्थंकर महावीर की सर्वकल्याणकारी दिव्य ध्वनि खिरी, क्योंकि उसे झेलने में सर्वथा समर्थ गौतम रूपी गणोन्म का सुयोग मिल गया था। परिणामस्वरूप, उसी दिन, उसी समय, उसी स्थान पर वीर प्रभु की प्रथम देशना के साथ उनके धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई, उनके धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ, श्री वीर उनके शासन का ४० नमः हुआ। भगवान् महावीर रूपी हिमाचल से प्रसून वह श्रुत-सरिता रूपी ज्ञानगंगा, गुरुगौतम के मुखरूपी कुण्ड से निःसृत होकर ही “सर्वसत्त्वानाहिताय, सर्वसत्त्वानां सुखाय” लोक में प्रवाहित हुई।

सर्वज्ञ भगवान् के दिव्योपदेश को हृदयंगम् करके गौतम गणेश ने उसके सार-संक्षेप को सुव्यवस्थित रूप से अंग-पूर्व ज्ञान में निबद्ध किया। तीर्थंकर भाषित एवं गणधर गूथित इस दिव्य श्रुत के दो विभाग थे—अंग-प्रविष्ट में आचारांग आदि बारह अंग थे, जिनमें से अन्तिम दृष्टिप्रवादांग के पांच विभाग थे। इन विभागों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पूर्वगत-ज्ञान जो चौदह पूर्वों में विभक्त था, और जिसमें जनोपदिष्ट तत्त्वज्ञान, सिद्धान्त एवं दर्शन का पूर्व

परंपरा से चला आया ज्ञान समाविष्ट था। एक विभाग में पौराणिक अनुश्रुतियों एवं इतिहास के आधारभूत प्रथमानुयोग या धर्मकथानुयोग का सूत्र रूप से व्याख्यान था। इस अंगप्रविष्ट के अतिरिक्त अगवह्य श्रुत में १४ प्रकीर्ण या पयन्ना सकलित थे। सामान्यतया इस सम्पूर्ण ज्ञान को द्वादशांग-श्रुत अथवा 'ग्यारह अंग-चौदह-पूर्व' कहा जाता है। जैन-धर्म-संस्कृति के मूलाधार इस द्वादशांग श्रुत के मूलस्रोत एवं अर्थकर्त्ता तो भगवान तीर्थंकर देव है, किन्तु उसके ग्रन्थकर्त्ता, उपसंहारकर्त्ता, व्याख्याता एवं प्रकाशन-कर्त्ता श्री गणधर देव हैं।

तदनन्तर, कई शतब्दियों तक यह श्रुतागम रूपी ज्ञान-गंगा गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक द्वार से ही प्रवाहित होती रही। कालदोष से उसमें शनैः-शनैः ह्रास एवं व्युच्छति भी होने लगी। अन्ततः ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग, श्रुत-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर कई श्रुत-धराचार्यों ने अग-पूर्वों के तदावशिष्ट ज्ञान के अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी अंशों को पुस्तकारूढ़ कर दिया और कई अन्यो ने मूलश्रुतागम के आधार से तदनुसारी विविध-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचने प्रारम्भ कर दिये। पाचवीं शती ई० के उत्तरार्ध में श्वेताम्बर परम्परा-सम्मत तदावशिष्ट आगम या आगमाश भी पुस्तकारूढ़ कर दिये गये। उभय आम्नायों के इन आगमों एवं आगमिक ग्रन्थों पर विविध एवं विपुल टीका साहित्य भी रचा जाने लगा। इस प्रकार जैन-भारती का एक भव्य प्रासाद उत्तरोत्तर उन्नत एवं विशाल हाता चला गया जो किसी भी अन्य परंपरा के धार्मिक साहित्य से गुणवत्ता, वैविध्य एवं विपुलता की दृष्टियों से इक्कीस ही है, उन्नीस नहीं।

तो जैन सांस्कृतिक परम्परा की इस महती उपलब्धि का प्रधान श्रेय शायद भगवान महावीर से भी अधिक उनके अग्रशिष्य, प्रधान गणधर एवं सुयोग्य उत्तराधिकारी इन्द्रभूति गौतम को है। किन्तु विचित्र बात है कि सम्पूर्ण जैन साहित्य में उनका एक भी व्यवस्थित पुरातन जीवन-चरित्र उपलब्ध नहीं है, न तो दिगम्बर परम्परा में और न ही श्वेताम्बर परम्परा में। भगवान महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकरों अनेक शलाका पुरुषों तथा अन्य कई प्रसिद्ध पुरुषों एवं महिलाओं के भी पौराणिक चरित्र लिखे गये। स्वयं

भगवान महावीर के साधक एक दर्जन चरित्र हैं, उनके समसामयिक एवं उत्तरवर्ती श्रेणिक, जीवधर सुवर्ण सेठ, अभयकुमार, धन्यकुमार, शालिभद्र, जम्बू स्वामी आदि के चरित्र रचे गये, भद्रबाहु, स्यूलिभद्र, कालक, कुन्दकुन्द आदि कई आचार्यों के भी चरित्र लिखे गये, परन्तु गणधरदेव गौतम स्वामि का एक भी नहीं। गौतम-पृच्छा, गौतम स्वामि सज्जाय जैसी दो एक परवर्ती प्रकीर्णक रचनाएँ हैं, किन्तु वे चरित्र कोटि में नहीं आतीं।

दिगम्बर परम्परा के गुणभद्रीय उत्तरपुराण, पुष्प-दन्तीय महापुराण तथा अन्य महापुराणों के अन्तर्गत महावीर चरित में, और असग, विवुध, श्रीधर रङ्घु, सकलकीर्ति आदि के महावीर-चरित्रों में प्रकाण्ड वैदिक आचार्यों, गौतम गोत्रीय ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम के भगवान महावीर के समक्ष आने, उनका शिष्यत्व स्वीकार करने और उनके प्रधान गणधर के पद पर प्रतिष्ठित होकर उनकी दिव्य ध्वनि की द्वादशांगों में गूथने का संक्षिप्त उल्लेख मात्र है।

दिगम्बर परम्परा के सर्वोपरि सिद्धान्तग्रन्थों, धवल एवं जयधवल में भगवान महावीर के अर्थकर्तृत्व एवं तीर्थोत्पादन की द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से प्राचीन गाथाओं के आधार से प्ररूपणा करते हुए जो विशद एवं महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है वह इस परिप्रेक्ष्य में ध्यातव्य है। गौतम को भगवान के सम्मुख लाने वाले प्रेरक निमित्त के रूप में सोधर्मेन्द्र का भी बहुधा उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा के पुराणों, पौराणिक चरित्रों एवं कथाग्रन्थों आदि के प्रारम्भ में प्रायः यह कथन रहता है कि राजगृह के विपुलाचल पर रचित समवसरण में मगध नरेश श्रेणिक गौतम स्वामी से उक्त कथानक विशेष को जानने की जिज्ञासा करता है, और तब गौतम स्वामि उस पुराण, चरित्र या कथा का व्याख्यान करते हैं। वायुभूति और अग्निभूति, दोनों इन्द्रभूति गौतम के अनुज-सहोदर थे भारी विद्वान थे और उन्हीं के साथ दीक्षा लेकर द्वितीयादि गणधर बने थे यह उल्लेख भी है। यह भी प्रायः सर्वत्र प्रतिपादित है कि जिस दिन भगवान महावीर ने निर्वाण लाभ किया उसी दिन, प्रायः उसी समय, गौतम स्वामि ने केवल ज्ञान प्राप्त

किया। महाकवि असंग के अनुसार गौतमादि का जन्म एवं निवास स्थान गौतम नामक ग्राम था, रईधु उन्हें पोलासपुर ग्राम का निवासी रहा बताते हैं, और श्वेताम्बर साहित्य में उन्हें गोबर या गोम्बर ग्राम का निवासी बताया है। वहाँ यह भी बताया है कि उनके पिता का नाम वसुभूति और माता का पृथ्वी था। इस विषय में भी दोनों परम्पराएँ एकमत हैं कि गौतम स्वामि का निर्वाण महावीर-निर्वाण से १२ वर्ष बाद हुआ किन्तु निर्वाण स्थल के विषय में कुछ मतभेद है—एकमत गुणशील-चैत्य बताया है जिसका समीकरण पावापुरी के निकटस्थ वर्तमान गुणावा से किया जाता है, कुछ अन्य विपुलाचल को तथा कुछ सम्मेलनखर को उनका निर्वाण स्थल बताते हैं। यतिवृषभ, गुणभद्र, पुष्पदन्त आदि ने भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों के नाम भी दिये हैं, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि क्या वे सब ब्राह्मण थे, अथवा उनमें कोई क्षत्रिय आदि भी था। उनके माता-पिता, निवास स्थान आदि का भी उल्लेख नहीं है। उत्तरपुराण में गौतमस्वामि को आदित्य नामक देवविमान से चयकर इस भव में आया भी बताया है। यह भी प्रायः सभी ने प्रतिपादित किया है कि गौतम समस्त वेद-वेदांगों (चार वेद, छः वेदांग, तथा चार उपांगों) में निष्णात था। और गणधर पद पर प्रतिष्ठित होते ही वह मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय नामक चार ज्ञानों और सप्त-ऋद्धियों का स्वामी बन गया था। श्वेताम्बर परम्परा के भगवतीसूत्र, उपासकदशांग, उत्तराध्ययन, आवश्यक निर्युक्ति आदि आगमों में गौतम विषयक फुटकर ज्ञातव्य मिलते हैं,

तथापि दिगम्बर परम्परा के वृत्तान्तों से वे सब मिलकर पर्याप्त अधिक एवं विस्तृत हैं। उनके अनुसार गौतम आदि अपापापुरी (पावापुर) में आयोजित सोमिल नामक गृहस्थ के यज्ञ में भाग लेने आये थे—वे वही से भगवान के समवसरण में आये थे, अपने ग्राम के नहीं। सभी गणधर विभिन्न गोत्रीय ब्राह्मण विद्वान थे। इन ग्रन्थों में भगवान महावीर और गौतम स्वामि के संबंधों को लेकर अनेक रोचक एवं बोधप्रद प्रसंग भी प्राप्त होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में तो ती० पार्श्व की परम्परा के आचार्य केशिकुमार और ती० महावीर के गणधर गौतम के मध्य हुआ रोचक संवाद भी। गौतम भ० महावीर से ८ वर्ष जेठे थे, अर्थात् उनका जन्म ईसा पूर्व ६०७ में हुआ था, दीक्षा एवं गणधर पद प्राप्ति ई० पू० ५५७ में, केवल ज्ञान ई० पू० ५२७ में और निर्वाण ई० पू० ५१५ में। इस प्रकार १६८ ई० में गणधरदेव गौतम स्वामि के निर्वाण को २५०० वर्ष हो चुके। श्वेताम्बर समाज में तो इस महोत्सव को मनाने का अभियान भी चला, कई पत्र-पत्रिकाओं में विशेषांक भी निकाले, किन्तु विशेष कुछ हुआ नहीं। दिगम्बर समाज इस विषय में उदासीन ही प्रतीत होते हैं। जिन शासन के परम उपकारक परम गुरु गणधर देव गौतम स्वामि का गुण स्मरण और उनके, सुचरित्र का प्रकाशन प्रचार तो होना ही चाहिए।

ज्योति निकुञ्ज,

चारबाग, लखनऊ-२२६०१६

(पृ० १२ का शेषांश)

विवाह का प्रस्ताव भेजती है जिसे रुक्मी अस्वीकृत कर देता है तब प्रद्युम्न और शाम्ब चाण्डाल का रूप बनाकर “भोजकट” नगर पहुंचते हैं। अपने मधुर संगीत से रुक्मी का मन मोह लेते हैं और संगीत के प्रभाव से ही उन्मत्त गज को वशीभूत करते हैं। उपहार के रूप में वे रुक्मी से वैदर्भी की मांग करते हैं पर भोजकट नरेश उन्हें तिरस्कृत करता है। रात्रि में प्रद्युम्न विद्याबल से वैदर्भी के कक्ष में प्रविष्ट होकर उससे गन्धर्व विवाह कर लेता है। प्रातःकाल सुहाग चिन्ह देखकर रुक्मी वैदर्भी से उसके विषय में

पूछता है तो वह कुछ नहीं बताती। अतः क्रुद्ध पिता उसे चाण्डालों (प्रद्युम्न शाम्ब) को दे देता है। बाद में अनुचरों से वस्तुस्थिति ज्ञात होने पर रुक्मी उत्सव पूर्वक दोनों का विवाह करवाता है। साधारणतः के “प्रद्युम्न चरित” में इस वेशधारी प्रद्युम्न शाम्ब, “रूपचन्द” (रुक्मिणी का भाई को पकड़ द्वारिका ले जाते हैं। वहां कृष्ण एवं रुक्मिणी से स्वागत आतिथ्य पाकर रूपचन्द सहर्ष वैदर्भी का विवाह प्रद्युम्न से कर देता है (५४)

कामदेव प्रद्युम्न

□ डा० इन्दुराय, लखनऊ

जैन परम्परा में मान्य चौबीस कामदेवों में से इक्की-सवें कामदेव प्रद्युम्न कुमार थे। ये तीर्थंकर नेमिनाथ के समय में हुए तथा ये नेमिप्रभु के चचेरे भाई नारायण श्रीकृष्ण के गर्भ से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र थे। प्रद्युम्न अपने अतिशय सौन्दर्य, अद्भुत बल पराक्रम और कौतुक पूर्ण लीलाओं के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। उनके आकर्षक जीवन-चरित को विभिन्न पुराणों एवं चरित-काव्यों में विस्तार पूर्वक वर्णित किया गया है। इस निबन्ध में प्रद्युम्न कुमार की कथा को आचार्य जिनसेन कृत हरिवंश पुराण के आधार पर प्रस्तुत किया है क्योंकि वह प्राचीन ग्रंथों में से एक होने के साथ-साथ अधिकांश “प्रद्युम्न-चरित” काव्यों का उपजीव्य रहा है। अन्य ग्रन्थों की कथा का अन्तर एवं वैषम्य “फुटनोट” में स्पष्ट किया गया है।

आकाशचारी नारद मुनि के “द्वारिका” आगमन के साथ ही “प्रद्युम्नकथा” का बीजारोपण हो जाता है। नारद, यादवराज श्रीकृष्ण की सभा में सम्मान प्राप्त करने के अनन्तर सत्यभामा (कृष्ण पत्नी) के अन्तःपुर में पहुँचते हैं। सत्यभामा अपने शृंगार में व्यस्त रहते हुए नारद जी की अवमानना करती है। उसी क्षण नारद भी सत्यभामा का मान भंग करने की ठान, उसके रूप को अतिक्रान्त करने वाली सुन्दर कन्या की खोज करते-करते कुण्डिनपुर पहुँचते हैं। वहाँ राजा भीष्म की अपरूप सुन्दरी कन्या रुक्मिणी को देख स्तम्भित रह जाते हैं।

रुक्मिणी जैसे ही नारद को अभिवादन करके उठती है, वे उसे आशीर्वाद देते हैं “द्वारकाधीश कृष्ण तुम्हारे स्वामी हों” इस प्रकार रुक्मिणी के हृदय में कृष्ण के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न करके नारद उसका चित्र एक पट पर अंकित करके पुनः कृष्ण की सभा में उपस्थित होते हैं। चित्रपट में रुक्मिणी का सौन्दर्य देखकर कृष्ण के मन में

उससे परिणय की तीव्र लालसा उत्पन्न हो जाती है।

उधर कुण्डिनपुर के राजा भीष्म की बहन रुक्मिणी को बताती है कि एक बार अतिमुक्तक मुनि वहाँ आए थे और उन्होंने कहा था कि “रुक्मिणी नारायण श्री कृष्ण के वक्षस्थल का आलिङ्गन करेगी” परन्तु तुम्हारा भाई रुक्म तो तुम्हारा विवाह शिशुपाल से निश्चित कर चुका है, तब रुक्मिणी के आग्रह पर उसकी बुआ अपना दूत श्रीकृष्ण के पास इस सन्देश के साथ भेजती है कि “माघ शुक्ला अष्टमी को रुक्मिणी नाग पूजा हेतु नगर के बाहर उद्यान में जाएगी आप उसका हरण कर लें”। योजना के अनुसार ही कृष्ण और बलराम रुक्मिणी का हरण कर लेते हैं और शख द्वारा उसकी उसकी उद्घोषणा भी कर देते हैं, जिसे सुनते ही रुक्म एवं शिशुपाल विशाल सेना के साथ युद्ध करने आते हैं। रुक्मिणी के आग्रह पर कृष्ण रुक्म को क्षमा कर देते हैं परन्तु शिशुपाल का शिरोच्छेदन करने के पश्चात् “रेवतक” पर्वत पर रुक्मिणी से विधि विवाह करते हैं।

द्वारिका लौट कर श्रीकृष्ण रुक्मिणी का महल सत्यभामा के भवन के निकट ही बनवाते हैं। कृष्ण के व्यवहार से सौत के सौभाग्य को लक्ष्य कर सत्यभामा रुक्मिणी से मिलने की उत्सुकता व्यक्त करती है। तब श्रीकृष्ण सत्यभामा को उस उद्यान में भेजते हैं जहाँ रुक्मिणी मणिमय आभूषणों से सज्जित आभ्रलता को पकड़े खड़ी थी। सत्यभामा उसे देवांगना समझ कर उसके चरणों में पुष्प समर्पित कर अपने सौभाग्य की याचना करती है। उसी समय श्रीकृष्ण उपस्थित होकर दोनों का परस्पर परिचय करवाते हैं और वह दोनों मित्रतापूर्वक रहने लगती हैं।

एक दिवस कुहराज दुर्योधन अपने दूत द्वारा नारायण कृष्ण के पास प्रस्ताव भेजता है कि सत्यभामा और

रुक्मिणी में से जिस किसी के पुत्र होगा, वह अपनी कन्या का विवाह उसी से करेगा। कृष्ण यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। यह समाचार जानकर सत्यभामा रुक्मिणी के पास अपनी दासी भेजकर शर्तें रखती है कि "उस विवाह के समय जिनके पुत्र न होगा उसी की कटी कटी हुई केशलता को पैरो के नीचे रखकर ही वर-वधू स्नान करेंगे।" रुक्मिणी और सत्यभामा लगभग एक समय में गर्भवती होती है तथा दोनों एक ही दिन पुत्रों का प्रसव करती है। यह शुभ समाचार कृष्ण को सुनाने हेतु दोनों रानिया अपने-अपने सन्देशवाहक भेजती है। उस समय कृष्ण शयन कर रहे थे।^{११} रुक्मिणी के दूत श्रीकृष्ण के चरणों के समीप तथा सत्यभामा के अनुसार उनके सिर के समीप खड़े हो जाते हैं।^{१२}

जब कृष्ण निद्रा से उठते हैं तो उनकी दृष्टि पहले रुक्मिणी के सेवकों पर पड़ती है और उनके शुभ समाचार प्राप्त कर वे आभूषण आदि से उन्हें पुरस्कृत करते हैं तदुपरांत सत्यभामा के पुत्र की सूचना सुन, उसके बाहकों को भी पुरस्कार देकर विदा करते हैं।

धूमकेतु नामक असुर उस समय आकाश मार्ग से बिहार कर रहा था। रुक्मिणी के महल के ऊपर उसका विमान स्वतः रुक जाता है। विभंगावधि ज्ञान से रुक्मिणी के पुत्रजन्म की बात जानकर तथा पूर्व जन्म के बैर का स्मरण आते ही वह सबको मायामयी निद्रा में मग्न करके शिशु का अपहरण कर लेता है। पहले तो उसके हृदय में शिशु को मार डालने का विचार आता है फिर यह सोचकर कि "यह तो मास पिंड है इसे मारने से क्या लाभ"^{१३} वह शिशु को खदिर अटवी में तक्षशिला के नीचे छोड़कर चला जाता है।^{१४}

सयोगवश मेघकूट नगर का राजा (विद्याधर) काल-सवर अपनी रानी कनकमाला^१ के साथ विमान में विहार करते हुए उस ओर आता है। तक्षशिला के ऊपर उसका विमान स्वतः रुक जाता है तब वह नीचे उतरकर बालक को शिला के नीचे से निकालकर कनकमाला को यह कहते हुए सोप देता है कि "तुम्हारे कोई पुत्र नहीं है अतः यह तुम्हारा पुत्र हुआ।" रानी कनकमाला कहती है "आपके कुल में उत्पन्न पांच सौ पुत्र हैं और यदि वे इसके साथ

दुर्व्यवहार करेंगे तो मुझसे देखा नहीं जाएगा।" इस बाल-संवर कान का सुवर्ण पत्र लेकर बालक का युवराज पद हेतु पट्ट बन्ध कर देता है।^{१५} मेघकूट नगर पहुँचकर वह निपुण विद्याधर यह घोषणा करता है कि गूढ़ गर्भ को धारण करने वाली महादेवी कनकमाला ने इस पुत्र को जन्म दिया है। तब नगर में जन्मोत्सव मनाए जाते हैं। और स्वर्ण की कान्ति वाले इस बालक का नाम प्रद्युम्न रखा जाता है।^{१६} मेघकूट नगर में प्रद्युम्न दिन पर दिन बुद्धि, बल व सौन्दर्य में बढ़ने लगता है।

उधर द्वारकापुरी में जब रुक्मिणी मायनिद्रा से जागती है तो समीप पुत्र को न पाकर विलाप करती है। कृष्ण भी चिंतित हो जाते हैं तभी वहाँ नारद आते हैं और बालक के विषय में जानकारी प्राप्त करने का आश्वासन देकर पूर्व विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकीणी नगरी पहुँचते हैं। तीर्थकर सोमन्धर के समवशरण में पहुँच कर नारद उनसे रुक्मिणी पुत्र के विषय में जिज्ञासा करते हैं तो सोमन्धर स्वामी बताते हैं कि उस बालक का नाम प्रद्युम्न है। सोलहवा वर्ष^१ आन पर वह सोलह लाभ प्राप्त करक तथा प्रजप्ति नामक महाविद्या से समलकृत होकर पुनः अपने माता पिता से मिलेगा।^{१७} तत्पश्चात् वे प्रद्युम्न और शाम्बर (कृष्ण-जाम्बता पुत्र) के पूर्व भवों की कथा सविस्तार सुनाते हैं।^{१८} समस्त वृत्तान्त जानकर नारद पहले कालसवर के प्रासाद के महल में जाते हैं। वहाँ प्रद्युम्न को आर्शीर्वाद देकर द्वारिका लौटते हैं और सभी समाचार रुक्मिणी को बताते हैं।^{१९}

विजयार्ध पर्वत पर प्रद्युम्न का विकास होने लगा। बाल्यावस्था में ही वह विद्याधरों की विद्या में पारंगत हो गया। अपन रूप लावण्य, सौभाग्य और पौरुष द्वारा वह शत्रु, मित्र, पुरुष-स्त्री, सभी का मन हर लेता। युवा होने पर कामदेव प्रद्युम्न समस्त अस्त्र-शस्त्रों की विद्या में पूर्ण कुशल हो जाता है, तथा काम, मनोभव, कामदेव, मन्मथ, मदन, अनंग इत्यादि नामों से युक्त होता है।^{२०} कालसंवर के पांच सौ पुत्र उसके विरोधी सिंहरथ^{२१} को परास्त नहीं कर पाते, उस सिंहरथ को प्रद्युम्न पराजित कर युवराज पद प्राप्त करता है। अतः ईर्ष्यावश वे पांच सौ कुमार प्रद्युम्न के विनाश का उपाय करने, उसे सिद्धायतन भोपुर,

के अग्रभाग पर चढ़ने को तत्पर करते हैं। प्रद्युम्न गोपुर पर चढ़कर वहाँ से मुकुट और निधि प्राप्त करके लौट आता है।

इसी प्रकार पाँच सौ कुमारों द्वारा प्रेषित प्रद्युम्न-कुमार महाकाल नामक गुफा के निवासी देव को वशीभूत करके तलवार, ढाल, छत्र एवं चंवर लेकर आता है। नाग गुफा के देव से उत्तम पादपीठ, नागशय्या, वीणा तथा भवन-निर्माण विद्या प्राप्त होती है। वापिका के देव को पराजित करके प्रद्युम्न मकर-चिह्नित छत्र प्राप्त करता है। तदनन्तर अग्नि कुण्ड में प्रविष्ट हो अग्नि नामक वस्त्र लेकर लौटता है। मेधाकृति पर्वत की गुफा के निवासी देव से कानों के कुण्डल प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् पाण्डुक नामक वन का देव प्रद्युम्न कुमार को मुकुट तथा अमृतमयी माला देता है। “कापित्थ” वन के विद्यामय हस्ती की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार “बाल्मीक” वनदेव से कवच, कड़ा, बाजूबन्द, कण्ठाभरण और “शूकर” वन से शंख एवं घनुष प्राप्त होते हैं। मनो-वेग नामक विद्याधर को छुड़ा देने पर हार तथा इन्द्रजाल उपहार स्वरूप मिलता है, आगे एक भव के अधिपति से पुष्पमय घनुष तथा पंचशर (उन्माद, मोह, सताप, मद तथा शोक उत्पन्न करने वाले वाण) उपलब्ध होते हैं। दूसरी नाग गुफा में जाने पर चन्द्रहार, फूनों का छत्र एवं पुष्प शय्या प्राप्त करता है और अन्त में जयन्तगिरि पर्वत पर विद्याधर की रति नामक कन्या को लेकर पाँच सौ कुमारों के पास लौटता है।

विभिन्न लाभों^{१४} से युक्त प्रद्युम्न मेघदूत नगर पहुँच कर रानी कनकलता को प्रणाम करता है तो कामदेव के अपरूप सौन्दर्य को देखकर रानी के भावों में परिवर्तन हो जाता है।^{१५} वह विचार करती है “यदि मुझे प्रद्युम्न का आलिंगन प्राप्त होता है तभी मेरा रूप, लावण्य, सौभाग्य सफल है अन्यथा सब व्यर्थ है।”^{१६} प्रद्युम्न का प्रणय प्राप्त करने की चिन्ता में कनकमाला अस्वस्थ हो जाती है, तब कुशल क्षेम पूछने प्रद्युम्न उसके समीप जाता है। रानी की अनुचित चेष्टाओं से चकित प्रद्युम्न, सागरचन्द्र मुनि-राज से इसका कारण पूछता है तो वे उसे पूर्व भव का वृत्तान्त बताते हैं तथा यह भी कहते हैं कि कनकमाला से

उसे प्रज्ञप्ति विद्या प्राप्त होने वाली है। पुनः भवन में लौटकर प्रद्युम्न रानी से प्रज्ञप्ति विद्या के विषय में जिज्ञासा करता है। उत्तर में कनकमाला कहती है कि “यदि तुम मुझे चाहते हो तो गौरी एव प्रज्ञप्ति नामक विद्याएं तुम्हें देती हूँ।”

विद्याएं प्राप्त कर लेने पर प्रद्युम्न कनकलता को अपनी माता और गुरु बनाकर चला जाता है।^{१७} इस प्रकार स्वयं को छला गया जानकर कनकमाला अपने अंगों को क्षत-विक्षत करके पति से प्रद्युम्न की चरित्रहीनता का दोषारोपण करती है। क्रुद्ध कालसवर अपने पाँच सौ कुमारों को प्रद्युम्न को मार डालने का आदेश देता है। कुमार जब उसको मारने पहुँचते हैं,^{१८} तो प्रद्युम्न कृत्रिम शरीर से वापिका में कूद जाता है। उसके पीछे-पीछे सभी सवर पुत्र भी कूद जाते हैं तो वह एक को छोड़कर शेष सभी को अधोमुख करके कील देता है तथा उस एक को समाचार राजा तक पहुँचाने हेतु भेज देता है। जब अत्यधिक क्रोधित कालसवर^{१९} स्वयं वापिका तक पहुँचता है तब तक प्रद्युम्न विद्या के प्रभाव से एक बड़ी सेना तैयार कर लेता है। यह स्थिति देखकर कालसवर अपनी रानी कनकमाला से प्रज्ञप्ति विद्या मांगता है तो वह झूठ ही कह देती है कि “वाल्यावस्था में दूध के साथ ही वह विद्या मैं प्रद्युम्न को दे चुकी हूँ।”^{२०} इस उत्तर से दुखित राजा पुनः भोषण युद्ध के लिए तत्पर होता है तभी नारद वहाँ उपस्थित होकर समस्त वृत्तान्त सुनाकर उनमें परस्पर प्रीति उत्पन्न करते हैं। प्रद्युम्न सभी कुमारों को मुक्त कर देता है। तत्पश्चात् विद्याधर से आज्ञा प्राप्त कर वह नारद के साथ विमान से द्वारका के लिए प्रस्थान करता है।

हस्तिनापुर के कुछ आगे उन्हें सैन्य जमाव दिखाई देता है। प्रद्युम्न के जिज्ञासा करने पर नारद बताते हैं कि कुरुराज दुर्योधन की पुत्री उदधि, सत्यमामा के पुत्र भानुकुमार से विवाह करने हेतु द्वारिका जा रही है। प्रद्युम्नकुमार भील का वेश धारण करके दुर्योधन के सैनिकों से शुल्क के रूप में सारभूत वस्तु की मांग करता है। सैनिकों के यह कहने पर “सर्वाधिक सार वस्तु तो स्वयं उदधि नुमारी है तथा उन्हें केवल विष्णु से उत्पन्न

पुत्र को ही दिया जा सकता है'। सैनिक प्रद्युम्न पर प्रहार करने को उद्यत होते हैं तब प्रद्युम्न विद्याबल से भील सेना तैयार करके सभी को परास्त कर उदधि का हरण कर लेता है।^{१२} तथा विमान में आरूढ़ होने के पश्चात् अपने वास्तविक रूप में आ जाता है। नारद के साथ द्वारका पहुंचने पर प्रद्युम्न नगरोद्यान में भानुकुमार को घोंडे को व्यायाम करवाते देखता है तो एक मायामयी घोड़ा निर्मित करके स्वयं वृद्ध का वेश धारणकर, भानुकुमार के पास पहुंचता है। भानु जब उस अश्व पर आरूढ़ होने का प्रयास करता है तो अश्व उसे विभिन्न प्रकार से प्रताड़ित करता है। प्रद्युम्न के हंसने पर भानु उसे ही आरूढ़ होने को कहता है। वृद्ध वेषधारी प्रद्युम्न आरूढ़ होने के लिए भानु का सहयोग मांगता है और विद्याबल से अपने शरीर को इतना भारी कर लेता है कि उसे उठाना दुर्भर हो जाता है। अन्ततः वह स्वयं अश्वारूढ़ हो तीव्रगति से सत्यभामा के उपवन पहुंच कर वाकचातुरी से माली को मूर्ख बनाकर सारा उपवन उजाड़ देता है।^{१३} तत्पश्चात् सत्यभामा के भवन में विप्र बनकर जाता है।^{१४} और वहां ब्राह्मणों के लिए जितना भी भोजन बनाया गया था अकेले ही खा जाता है और तत्काल ही वमन^{१५} भी कर देता है। फिर क्षल्लक वेश धारण कर रुक्मिणी से प्राप्त 'भोदक' खाकर ही सन्तुष्ट होता है। उसी समय सत्यभामा का नाई पूर्व निश्चित "शर्त" के अनुसार रुक्मिणी के केश लेने आता है, तो प्रद्युम्न उसे तिरस्कृत कर वापस भेज देता है। तब बल-

राम स्वयं वहां आते हैं परन्तु द्वार पर लेटे विप्ररूप धारी प्रद्युम्न को टस से मस नहीं कर पाते और आश्चर्य में पड़ जाते हैं।^{१६}

इसी अवसर पर रुक्मिणी में मातृत्व भाव जाग्रत होता है और प्रद्युम्न भी वास्तविक रूप में प्रकट होकर माता को प्रणाम करता है। रुक्मिणी के यह कहने पर कि "कनकमाला धन्य है जिसने तेरी बालक्रीड़ाओं का दुर्लभ सुख प्राप्त किया।" प्रद्युम्न पुनः बालक बनकर बाल-सुलभ क्रीड़ाओं द्वारा मां को सुख प्रदान करता है।^{१७} तद-परान्त वह रुक्मिणी को विपान में बैठाकर यादव सभा में ऊपर पहुंच यदुराज कृष्ण को ललकारता है कि मैं रुक्मिणी का हरण करके ले जा रहा हूं यदि किसी में शक्ति हो तो उसे छुड़ा ले" तब आकाशस्थित प्रद्युम्न से नारायण कृष्ण का युद्ध होता है।^{१८}

कृष्ण को सफलता नहीं मिलती तो वे निर्णायक बाहु युद्ध को तत्पर होते हैं तभी नारद स्थल पर पहुंचकर पिता पुत्र का परिचय करवाते हैं। दीर्घ अवधि के बाद पुत्र को पाकर श्रीकृष्ण अत्यन्त हर्षित होते हैं। तदनन्तर प्रद्युम्न का उदधि,^{१९} वैदर्भी^{२०} आदि सुन्दर कन्याओं से विवाह होता है। बहुत काल तक सुखपूर्ण भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने के बाद तीर्थंकर नेमिनाथ से द्वारिका की विनाश की गाथा सुनकर प्रद्युम्न में वैराग्य भाव जागृत हो जाता है। घोर तपस्या द्वारा समस्त घाति अघाति कर्मों का क्षय करके वह मोक्ष पद प्राप्त करता है।

□

संदर्भ-सूची

१. हरिवंशपुराण—सर्ग ४२, श्लोक १। त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित श्लोक ७ उत्तरपुराण में नारद प्रसंग में नहीं है। बलराम की जिज्ञासा पर गणधर वरदत्त द्वारा शाम्ब प्रद्युम्न के पूर्वभव वृत्तांत वर्णन से कथा का आरम्भ हुआ है।
"प्रद्युम्नश्शम्भोत्परत्तिसंबन्धः पृच्छयते स्म सः।
वरदत्त गणेन्द्रो नृ एन्द्रबुद्धयेत्यमब्रवीत् ॥पर्व ७२/२
महासेनाचार्य कृत "प्रद्युम्न चरित" १४ सर्गों का स्वतंत्र महाकाव्य है अतः उसमें प्रमुख कथा द्वितीय सर्ग से आरम्भ हुयी है प्रथम सर्ग में स्तुति, द्वारिका

वर्णन तथा यदुराज वंश परिचय वर्णित है।

ब्रह्मरायल्ल ने भी "प्रद्युम्नरास" ग्रंथ में प्रारम्भिक आठ छन्दों में स्तुति बन्दना एवं कृष्ण परिचय देकर नारद आगमन का उल्लेख किया है। कवि साधारण ने "प्रद्युम्न चरित" २५वीं चौपाई में नारद के द्वारिका आगमन की कही है इससे पूर्व वन्दना एवं द्वारिका वैभव वर्णन है। ब्रह्म नेमिदत्त के "नेमिनाथ पुराण" में उत्तर पुराण की भांति पूर्वभव वर्णन से प्रद्युम्न कथा प्रारम्भ हुयी है (१५वां सर्ग)

२. (क) तवस्या रूप सौभाग्यगर्वं पर्वत चूरणम् ।

प्रतिपक्ष बद्ध बज्रसमातेन करोम्यहम् ।:

हरि० पु० ४२/३०

(ख) त्रिषष्टि ८/६/९

(ग) इक स्याली अरु वीछी खाई,

इक नारद अरुचलीउ रिमाई ।३४

इव रूप जु आगली, सो परणाउ णारि ।३६

प्रद्युम्नचरित-साधार कवि

(घ) हो नारदादि हियहे बात विचारी,

हो नारायण आणो नारी ।

इहि थे रूपि जो आगली जो,

हो सैकि तणै दूखि धर्णै विसरै ।

राति दिवसि कुहि वो करै जो.

हो बहुडि पराया मरमन च्गे ।६'

प्रद्युम्न रास-ब्रह्मरायमल्ल

३. द्वारिकापतिपत्या, सौश्र्म्यनन्दमदानताम् ।

(क) नारद हिन्दी आसिका जी,

हो होजे किस्न तपी पटराणी ।३३।

प्रद्युम्नरास-ब्रह्मरायमल्ल

(ख) देखि रुक्मिणी बोलइ सोइ,

पाटधरपि नारायपि होई ।४३।

प्रद्युम्नचरित-कवि साधार

(ग) त्रिषष्टि ८/६/१०

४. "विलिख्य पट्टके स्पष्टं रुक्मिण्या रूपमभ्युतम ।

हरये दर्शयादगत्वा त्रिसंमोहकारपम ।

हरि० पु० ४२/४५

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित में नारद से रुक्मिणी-

सौन्दर्य की चर्चा सुनकर श्रीकृष्ण विवाह प्रस्ताव

रुक्मिन रुक्मिणी का भाई के पास भेजते हैं जिसे वह

यह कहकर अस्वीकृत कर देता है कि "कृष्ण गोप है

व नीचे कुल में उत्पन्न है" । तदुपरांत ही श्रीकृष्ण

रुक्मिणी हरण की सोचते हैं ।

६. हरिवंश पुराण में बहन के नाम का उल्लेख नहीं है

परन्तु त्रिषष्टि में उसका नाम "धृति" और साधार-

कृत, प्रद्युम्न चरित में "सुरसुन्दरी" है ।

७. शुक्लाष्टम्यां हिमापत्यर्वादि माधव । रुक्मिणीम ।

त्वमेत्यहरसि छिप्रं तवेयमविसंशयम् । हरि० पु० ४२/६१

(क) त्रिषष्टि में भी यही उल्लेख है परन्तु प्रद्युम्न

चरित (साधारकृत) में हरण की समस्त योजना

नारद स्वयं बनाते हैं और रुक्मिणी कृष्ण ।

पहचान सकें इसके लिए सात ताल बीघने की

योजना रखते हैं ।६४।

८. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित के अनुसार बलराम

रुक्मिन को केशविहीन करके छोड़ देते हैं इस लज्जा-

वश वह कुण्डिन नगर न लौटकर "भोजकट" प्रदेश

में नगरी बसाकर रहने लगता है ।

९. द्वन्द युद्धे शिरस्कुं शिशुपालस्य पातितम् ।.....

रुक्मिणी परणीयासी गिरी खेतक हरिः ।

हरि० पु० ४२/६४, ६६

(क) सिरछेद्यो सिसपाल को जी हो रूपकुमार साधिकर लीय

खेत पर्वति ते गयाजी, हो व्याहु रुक्मिण कैसी कीयो ।

प्र० रास ५२

(ख) उत्तरपराण में तीर्थंकर नेमिनाथ के समवशरण में

रुक्मिणी की जिज्ञासा पर बरदत्त गरुधर बताते हैं-

"तुम्हारे पिता वासव (कुण्डल नरेश) तुम्हारा विवाह

भेषज पुत्र शिशुपाल से कराने को तत्पर हो गये तब

युद्ध को चाह रखने वाले नारद ने यह वृत्तांत श्रीकृष्ण

को सुनाया । अतएव नारायण ने छः प्रकार की सेना

के साथ जाकर शिशुपाल का वध किया और तुम्हें

महादेवी के पद पर नियुक्त किया ।

उत्तर पुराण ६१/३५५-३५६

(ग) त्रिषष्टि० में शिशुपाल के पलायन का वर्णन है वध

का नहीं ।

१०. निरूप्यरुक्मिणीं सत्यादेवताभव रूपिणीम् ।

देवतेयामिति ध्यात्वा विक्रीयंकुसुमांजलिम् ॥

निपत्य पादयोस्तस्याः स्व सौभाग्यम् यावत् ।

विपस्पस्यतुदीर्घायमी ष्यशिर्यकलंकिता ॥

हरि० पु० ४३/१३-१४

(क) त्रिषष्टि० के अनुसार श्रीकृष्ण उद्यान में रखी "श्री"

की मूर्ति को हटाकर उसके स्थान पर रुक्मिणी को

स्थापित कर देते हैं अतः उसे ही देवी लक्ष्मी जान;

सत्यभामा अपने सौभाग्य की कामना करती है ।

११. तन्नापत्यविह्वनाया विह्वनालकबस्त्ररीम ।

स्नास्यतस्तीमघः कृत्वा पादयोस्तु वप्सुवरी ॥

हरि० पु० ४३/२६

(क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित एवं “प्रद्युम्न चरित” में सत्यभामा यह शर्त बलराम की ताक्षी में रखती है ।

१२. त्रिषष्टि० के अनुसार एक दासी श्री कृष्ण को रुक्मिणी के पुत्र जन्म की सूचना देती है । नारायण कृष्ण रुक्मिणी-भवन में आते हैं और नवजात शिशु को गोद में उठाकर, उसकी अभूतपूर्व कान्ति देख उसका नाम तक्षण ‘प्रद्युम्न’ रखते हैं ।

१३. शिरो स्ते सत्यपविष्णोः पादान्तेतस्युरन्यया ।

ह० पु० ४३/३६

१४. त्रिषष्टि० में धृञ्जकेतु स्वयं रुक्मिणी का वेश बनाकर आता है और शिशु का हरण करके उसे बैताड्यगिरि में भूतरमण उद्यान की तक्षशिला के नीचे छोड़ जाता है ।

१५. (क) हरि० पु० ४३।३६-४८

(ख) उत्तरपुराण ३२।५१-५३

(ग) बांधनहाय सिला सोफेखि,

इहितल घरउ भरउ दुख देखि ।

प्रद्युम्न चरित-साधार कृत छन्द ॥२५

१६. (क) उत्तरपुराण, प्रद्युम्न चरित (महासेना चार्य) प्रद्युम्न चरित (साधार) में कालसंवर की पत्नी का नाम कांचन माला है ।

(ख) त्रिषष्टि० में कालसंवर के लिए विद्याधर की अपेक्षा सेचर (आकाशचारी होने के कारण) सम्बोधन प्रयुक्त है । पत्नी का नाम कनकमाला ही दिया है ।

(ग) कवि साधार ने कालसंवर के स्थान पर, कदम-वित अघसाय्य की दृष्टि से, “यमसंवर” नामक प्रयोग किया है ।

१७. इत्युक्ते सान्त्वयित्वा तां गृहीत्वा कर्णपत्रकम् ।

(क) युवराजो यमित्युक्त्वा पट्टमस्य बबन्ध सः ।

हरि० पु० ४३।५७

(ख) तत्कर्णगेन सौवणपत्रेणारवि पट्टकः । उ० पु० ७२।५६

१८. भूखें गेभीं महादेवी प्रसूता तनयं शुभम् ।

इतिवार्तापूरैकृत्वा कौविदः ।

(क) कालसंवर । प्रकृष्टद्युम्नधामत्वात् प्रद्युम्न इति संज्ञितः । ह० पु० ४३।५६, ६१

(ख) उत्तरपुराण के अनुसार विद्याधर शिशु का नाम देव-दत्त रखता है । ७२।६०

(ग) त्रिषष्टि० में कृष्ण शिशु का नाम प्रद्युम्न रख चुंके थे पर संवर भी ण्योगवश उसका नाम “प्रद्युम्न” रखता है ।

१९. साधारकृत “प्रद्युम्न चरित” की प्रकाशित प्रति में १२वें वर्ष में लौटने का उल्लेख है । जबकि अन्य सभी कृतियों में १६वें वर्ष ही वापस आने का वर्णन है ।

२०. प्रद्युम्न इतिनाम्ना सो पितृभयां माक्षयते पुनः ।

संप्राप्त षो शेवर्ष प्राप्त षो शलाभकः ।

स प्रज्ञप्ति महा विद्याप्रधोतित पराक्रमः ।

हरी० पु० ४३।६६

२१. “प्रद्युम्न” एवं जाम्बवती पुत्र “शाम्ब”, के पूर्वभवों में उनके क्रमशः शृगाल अग्निभति वायुभूति, स्वर्ग विमान के देव, पर्णभद्र-मणिभद्र, सोधर्म, स्वर्ग के देव, मधु-कैटभं, अच्युत स्वर्ग के देव. इन भवों का हरि-वंश पुराण, नेमिनाथ पुराण, प्रद्युम्न चरित (महा-सेना चार्य) त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित सभी में समान एवं विस्तृत वर्णन है । उत्तर पुराण में भी इन्हीं पूर्वभवों का वर्णन है केवल इसमें कैटभ के स्थान पर “क्री डव” नाम दिया है ।

२२. उत्तर पुराण के नारद पहले से ही पूर्व विदेह क्षेत्र के स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्रद्युम्न के विषय में सारी जान-कारी प्राप्त करके आते हैं और रुक्मिणी के विलाप पर बताते हैं कि तीर्थंकर प्रभु के अनुहार वह पुत्र विभिन्न लाभों से युक्त है । १६ वर्ष बाद माता पिता से समागम करेगा । उ० पु० ७२।६१-७०

२३. हरिवंश पुराण—४७।२५

२४. उत्तरपुराण में कालसंवर के विरोधी का नाम अग्नि-राज दिया है । ७२।७३

२५. हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण, ‘प्रद्युम्न-चरित’ आदि में उक्त लाभों की प्राप्ति का वर्णन है यद्यपि उनके नामों में किंचित भेद है परन्तु त्रिषष्टि० में इस प्रसंग

को कोई तल्लेख नहीं है। “प्रद्युम्न रास” में सम्पूर्ण प्रसंग को केवल तीन छन्दों में व्यक्त किया गया है।

२६. (क) उत्तरपुराण २।७७

(ख) त्रिशष्टिशलाकापुरुष चरित कें अनुसार कनकमाला की प्रारम्भ से ही प्रद्युम्न में आसक्ति थी और प्रद्युम्न के युवा हो जाने पर वह उससे प्रणय निवेदन करती है।

२७. रूपलावण्य सौभाग्य वेदगध्य गुणगौरवरण।

कामश्लेषस्य सोलभ्ये दीर्लभ्ये स्यात्पुं तु मे ॥

हरि० पु० ४६।५३

२८. (क) प्रसरितकरो विद्यं गृहीत्वा प्रमदी स ताम।

प्राण विद्याप्रदानान्मे गुरुस्त्वामिति सद्बचा।

हरि० पु० ४७।६५

(ख) त्रिशष्टि० में कनकमाला स्वयं प्रद्युम्न को अपने पिता निध से प्राप्त “गौरी” और पति से प्राप्त “प्रज्ञाप्ति” विद्याओं के विषय में बताती है विद्याये हस्तगत कर लने में पहचान यहां भी प्रद्युम्न कनकमाला को माता और गुरु कहकर प्रेम प्रस्ताव अस्वीकार कर देता है।

(ग) प्रद्युम्न रास में कचनमाला द्वारा प्रद्युम्न को तीन विद्याये देन का उल्लेख है :—

हो राणी यणे राउ रमाने; हो विद्या तीन लहुधो घाने

४१६

(घ) साधार कृत प्रद्युम्न चरित में भुनि महाराज प्रद्युम्न से कहते हैं कि “पूर्वजन्म में अनुराग वश कनकमाला तुम्हारे में अनुरूप है उसे छलकर तीनों विद्याये प्राप्त कर लो। तदनुसार हा प्रद्युम्न रानी से यह कहकर “यदि तुम मुझ तीनों विद्याएं दे तो मैं तुम्हें प्रसन्न करने का उपाय कर सकता हूँ” विद्याएं प्राप्त कर लेता है। फिर जैसे माता और गुरु बता चला जाता है।

प्र० च० २४० से २४८ तक

(च) उत्तरपुराण में यह प्रसंग हरिवंशपुराण के अनुरूप ही है परन्तु कथा के क्रम में अन्तर है। उत्तरपुराण के अनुसार रानी कचनमाला प्रद्युम्न को “प्रज्ञाप्ति” विद्या उसी समय दे देती है जब वह सवर के विरोधी अनिराज को पराजित करके आता है। बाद में

प्रद्युम्न द्वारा उसके प्रणय निवेदन को अस्वीकृत करने पर वह उस पर दोषारोपण कर अपने पाँच सौ पुत्रों को प्रद्युम्न के वध का उपदेश देती है। विद्युददंष्ट्र आदि पाँच सौ कुमार जब प्रद्युम्न के विनाश के उद्देश्य से उसे विभिन्न गुफाओं से ले जाते हैं, तभी वह विभिन्न लाभ प्राप्त करता है। जबकि हरिवंशपुराण में वह युवराज बनने के बाद ही कुमारों की ईर्ष्या के फलस्वरूप षोडश लाभ प्राप्त कर चुका था।

उ० पु० ७२-७७ से १३० तक

२९. त्रिशष्टि० में यह प्रसंग अत्यन्त सक्षिप्त है उसमें केवल इतना ही उल्लेख है कि प्रद्युम्न सरलता से सभी संवर पुत्रों का सहार कर देता है।

३०. वीर रसप्रिय कवि साधार ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि क्रोधित यम सवर चतुरभिणी सेना सजा कर प्रद्युम्न से लड़ने पहुँचा :—

जाई पहुतल दल अतिवत, नहा हाकि भी इ गयगत।
रावत सा रावत रण भिरई, पाइल स्योपाइक अभि इ।

२६

३१. (क) स्तन्ये सह बाल्ये स्मे मया दत्तिति सावदत।

हरि० पु० ४७।७७

(ख) त्रिशष्टि० में प्रद्युम्न ही कालसवर को बताता है कि किस प्रकार उसे विद्यायें कनकमाला से प्राप्त हुईं “खेचर तब क्षमा माँगता है।

(ग) प्रद्युम्न चरित (साधार) में रानी कहती है कि प्रद्युम्न ने विद्यायें उससे छीन ली। इसी सन्दर्भ में काव ने स्त्री की चरित्रहीनता पर बारह स्वतंत्र छंद रच डाले हैं।

३२. (क) हरिवंश पुराण ४७।६४ से ६८ तक

(ख) उत्तरपुराण में भीलवेश धारी प्रद्युम्न द्वारा दुर्योधन के सैनिक के तिरस्कार का वर्णन है परन्तु शुल्क माँगने और उदधि हरण का उल्लेख नहीं है।

(ग) त्रिशष्टि० में उदधिहरण प्रसंग है परन्तु वहाँ प्रद्युम्न का भील का वेश बनाने और शुल्क माँगने जैसी बात नहीं है।

(घ) साधार कृत प्रद्युम्न चरित में सम्पूर्ण घटना हरिवंश पुराण जैसी है। (छन्द २६६ से ३०६ तक)

(च) “प्रद्युम्न चरित” (महासेनाचार्य कृत) में प्रद्युम्न “वनचर” का वेश बनाकर उदधि का हरण करता है। (देखें नवम सर्ग)

३३. (क) हरिवंश पुराण ४७।१०१-१०७

(ख) उत्तरपुराण, नेमिनाथ, प्रद्युम्नचरित सभी में उक्त प्रसंग प्रायः समान ही है।

३४. त्रिषष्टि० के अनुसार विप्ररूप धारी प्रद्युम्न सत्यभामा की एक वक्र अंगों वाली दासी को पुनः रूपवान कर देता है और वही दासी प्रद्युम्न को रानी के भवन ले जाती है। विप्र ने महात्म्य के विषय में जानकर सत्यभामा निवेदन करती है—“मुझे रुक्मिणी से भी सुन्दर बना दीजिए तब विप्रवेश धारी प्रद्युम्न उसे सुझाव देता है ‘सौन्दर्य शून्यता ही सौन्दर्य को अतिक्रान्त कर सकती है अतः तुम केश कटवाकर शरीर पर कालिख लगा फटे वस्त्र धारण कर लो’ सत्यभामा वैसा ही करती है।

३५. उत्तरपुराण, त्रिषष्टि०, प्रद्युम्न चरित (महासेन) में “वसन” करने का उल्लेख नहीं है।

३६. (क) संकर्षणस्य हृत्वेच्छा वादाकर्षणकारिणः।

अरराम चिरं स्वेच्छ लोक विस्मयकृत्कृतो ॥

हरि० पु० ४७।११२

(ख) उत्तरपुराण में प्रद्युम्न सिंह का वेश धरकर बलभद्र को निगलकर अहृत्य कर देता। ७२।१६२

(ग) साधार कृत “प्रद्युम्न चरित” में भी सिंह बन कर बलराम को अखाड़े में फेंक देने का वर्णन है। (४५२)

(घ) त्रिषष्टि० के अनुसार बलभद्र जब रुक्मिणी के भवन पहुँचते हैं तो प्रद्युम्न कृष्ण बनकर, रुक्मिणी को आलिंगन बढ़ कर लेता है। यह दृश्य देखकर हलधर लौट जाते हैं और सभा में भी उपस्थित कृष्ण को देख आश्चर्य में पड़ जाते हैं। वे श्री कृष्ण से पूछते हैं कि वे एक ही समय में दो स्थानों पर कैसे? तब वास्तविक स्थिति जानने के लिए दोनों पुनः रुक्मिणी कक्ष की ओर जाते हैं पर तभी प्रद्युम्न शंखनाद द्वारा रुक्मिणी हरण की सूचना देता है।

३७. (क) बालभवनमहं मातर्दशैयामी दृश्यताम।

हरि० पु० ४७।१२०

(ख) उत्तरपुराण और त्रिषष्टि० में बाल लीलाओं की पुनरावृत्ति का उल्लेख नहीं है पर महासेन ने “प्रद्युम्न चरित” में प्रद्युम्न द्वारा विद्याबल से बाल क्रीड़ाओं द्वारा माता रुक्मिणी को हर्ष प्रदान करने का वर्णन किया है। साधार के “प्रद्युम्न चरित” में प्रद्युम्न माता के आग्रह पर बाल्यकाल की घटनाओं को विस्तार पूर्वक सुनाते हैं।

३८. (क) उत्तरपुराण के अनुसार जब श्रीकृष्ण रुक्मिणी को छुड़ाने के लिए आए तो भील रूपधारी प्रद्युम्न ने ‘नरेन्द्र जाल’ नामक विद्या से उन्हें जीत लिया। तत्पश्चात् ही नारद ने उपस्थित हो परिचय कराया। ७२।१६२-१६६

(ख) ‘प्रद्युम्न रास’ तथा ‘प्रद्युम्न चरित’ (साधार-कृत) में कृष्ण के अतिरिक्त पाँचों पाण्डवों को भी अलग-अलग ललकारने का वर्णन है। प्रद्युम्नरास में कृष्ण प्रद्युम्न युद्धका वर्णन निम्न शब्दों में है—
हो असवारां मारै असवारा, हो रथ सेधी रथजुरे झुझारो।
हस्यीस्यो हस्ती भीडे जी, हो घणी कहां तो होई विस्तारो ॥

१७४

परन्तु कवि साधार ने इस भयंकर युद्ध का वर्णन करने में पूरे ६८ छंद रच डाले हैं। (४७४ से ४५२ तक)

३९. (क) हरिवंश पुराण ४७।१३६-१३७

(ख) उत्तर पुराण ७२।१७८-१८०

(ग) साधारकृत प्रद्युम्न चरित में प्रद्युम्न उदधि विवाह के समय बिद्याधर कालसवर एवं उसकी पत्नी के उपस्थित होने का उल्लेख है यहां वर्णन महासेनाचार्य के ‘प्रद्युम्न चरित’ में भी है।

(घ) त्रिषष्टि. के अनुसार प्रद्युम्न उदधिका विवाह सत्यभामा के पुत्र भानुकुमार से ही करवाता है।

४०. हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण, प्रद्युम्न चरित (महासेन) में प्रद्युम्न और वैदर्भी विवाह की घटना संक्षेप में व्यक्त है जबकि त्रिषष्टि० में विस्तार पूर्वक वर्णित है। त्रिषष्टि के अनुसार :—वैदर्भी रुक्मी (रुक्मिणी के भाई) की पुत्री थी। रुक्मिणी प्रद्युम्न के वैदर्भी से (शेष पु० ४ पर)

गतांक से आगे :

पं० शिरोमणिदास कृत : 'धर्मसार सतसई'

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल, दिल्ली

मध्य काल पूजै जिनराय,
पुत्र कलत्र सब पूरै काज ।
आथमें (अस्तकाल) जिन पूजा चित देय,
कामदेव पद सो नर लेय ॥८१॥

दोहा—सोम श्री कन्या भली, दीनी जल की धार ।
राज ऋद्धि पद साधकै देव भयो द्युति धार ॥८२॥
मदनावली विद्याधरी जिनपद चदन चंचि ।
छिन मे रोग विनाशकै सुभई देवकरि अचि ॥८३॥
अक्षत सौ जिन पूजकै सुवा सुई निज हेत ।
देवलोक पद तिन लहै अष्टौ ऋद्धि समत ॥८४॥
दादुर पखुरी लै चलयो जिन पूजा मनु लाय ।
मरकै सुरलोकहि गयो, देव भयो सुखदाय ॥८५॥
चर सौ जिन पद पूजकै हालिक सेठ सुजान ।
राज ऋद्धि सुख पायकै, पुनि पहुँचे निर्वाण ॥८६॥
जिन को दीप चढ़ाइकै, विनयधर जुकुमार ।
देवलोक पद पायकै, भयो इन्द्रद्युति धार ॥८७॥
जिन पद धूप चढ़ाइकै, रोग सकल तह छिन ।
ध्रुवकुमार पदवी लही, गये देव परवीन ॥८८॥
फल सौ श्री जिन पूजकै, जिन मत नारी नाम ।
क्षणमे स्त्री पद नाशकै, देव भयो सुख धाम ॥८९॥

चौपाई—जो नर अष्टौ विधि बनाय,
नियम सहित पूजै जिन राय ।
ते नर लहै सुख अधिकार,
पुनिते होय मुक्ति उर हार ॥९०॥
जे पुष्पांजलि व्रत मन लावै,
ते नर खेचर पदवी पावै ॥९१॥
चढ़ विमान विद्या बहु सिद्धि,
भोग अनेक भुगते धन ऋद्धि ।
जो दश लक्षण धरै प्रवीन,
धारें ते शील महा तप लीन ।

ते नर ब्रह्म ऊपजै स्वर्ग,
लोकातिक पद पावै वर्ग ॥९२॥

दोहा—सहस्र तिहत्तर जानिकै दोकरि अधिक जु एव ।
चार लाख पुनि ते कही, लोकातिक वर देव ॥९३॥
रत्नत्रय व्रत जे नर करै, भव सागर तें लीजै तरै ।
अवर अनेक कहै जिनराय,
सो माहिमको कहै बढ़ाय ॥९४॥
त्रेपन क्रिया पालहि व्रती,
लेश्या शुक्ल धरै बहुमती ।
आतं रौद्र कुध्यानहि त्यागै,
धर्म ध्यान के मारग लागै ॥९५॥
संज्ज्वलन चौकड़ी जावही उदै(य),
तप व्रत समय पालहि मुदै ।
घरि संवेग निर्वेद जु लीन,
समाधि मरण कर पापहि छीण ॥९६॥
चार प्रकार आराधना राधै,
तब जीव स्वर्ग लोक पद साधै ।
सपुट सिला उपज्जइ एव,
जय जय सब करै शुभ देव ॥९७॥
पुष्प वृष्टि वरषै असरार,
वायु सुगंध चलै हितकार ।
बाजे अनहद बाजै घने,
देवी देव बहुत सुख जनै ॥९८॥
बहुत पुण्य तुम पूरव कियो,
तार्तै आनि इन्द्र पद लियो ।
यह इन्द्रासन तुम्हरी देव,
ये सब देव करै तुम सेव ॥९९॥
रत्न भूमि कोमल सुख हेत,
कल्प वृक्ष तह सब सुख देत ।
निधि चिता मणि दीसै मूरि,
कामधेनु तहं बहु सुख पुरि ॥१००॥

शची अष्ट सुन्दर शुभ गात,
 विकसित वदन कहें ते बात ।
 सदा कमल नव यौवन रहे,
 कोमल देह सुगंध अति बहे ॥१०१॥
 कठिन नीच उर कुच कलस विराजै,
 मुख की ज्योति कोटि शशि लाजै ।
 कोटि सत्ताईस देवी मन हरनी,
 भोग विलास रूप सुख धरनी ॥१०२॥
 शृंगार बहुत आभूषण लिए,
 हाव भाव विभ्रम रस किए ।
 अति कटि शीण, कमल दल नैन,
 कला गीत बोले शुभ बैन ॥१०३॥
 जनम सफल पुनि हमरी भयो,
 जब तुम आनि देव पद लयो ।
 ऐसे वचन सुने सुखदाई,
 भयो आनन्द महा सुख पाई ॥१०४॥
 एक घड़ी मे अवधि प्रकाशै,
 पूरव पुण्य सकल हित भासै ।
 मैं तप पूरव कीन्हों घोर,
 व्रत क्रिया पाली अति जोर ॥१०५॥
 मैं जिनेन्द्र पूजे अति शुद्धि,
 पात्रहि दान दियो हित बुद्धि ।
 सो वह पुण्य फलो मोहि आज,
 सकल मनोरथ पूरे काज ॥१०६॥
 सकल हेतु जानो सुर राय,
 वह व्रत तप पुण्य यहां न आय ।
 है जिनेन्द्र पूजा इक सार,
 सो मैं करौ सकल सुख कार ॥१०७॥
 यह विचारि उठि ठाढ़े भये,
 देविन सहित स्नान हित गये ।
 अमृत बापिका रत्ननि जड़ी,
 महा सुगंध कमल बहु भरी ॥१०८॥
 तहां स्नान करे सुख हेतु,
 बढ्यो प्रेम रस बहु सुख देत ।
 करी बिनोद क्रीड़ा सुख पाय,
 आनन्द उमरयो अत न आय ॥१०९॥

उज्ज्वल कोमल वस्त्र सुगंध,
 पहरे देव महा सुख बंध ।
 कंकण कुण्डल मुकुट अनूप,
 भूषण अनेक को कहै स्वरूप ॥११०॥
 गीत नृत्य वादित्र निघोष,
 देविन सहित चली सुर पोष ।
 जिनवर मन्दिर देखे जाय,
 बहु आनन्द करे सुर राय ॥१११॥
 अष्टौ विधि लै पूजा करी,
 शीस नवाय जिन स्तुति विस्तरी ।
 जनम सफल मेरो अति भयो,
 जब मैं तुम्हरो दर्शन लयो ॥११२॥
 सकल धर्म फल प्रकट्यो आज,
 नैन नहारि देखे जिनराज ।
 देविन सहित प्रदक्षिणा दई,
 बहुत भक्ति करि शुभ मति आई ॥११३॥
 कह जोड़े ते बड़े पाय,
 पुनि इच्छाजन पे बंटे आय ।
 बीणा बैन मृदंग डफताल,
 नखे अप्सरा रूप रसाल ॥११४॥
 किनन्तर गावै (स्वर) सुरधरि जहाँ,
 बहुत सोक्य रस उपजै तहां ।
 विकसित वदन देवी मुंह मुख देखे,
 रूप राशि छबि भानु विशेष ॥११५॥
 शीत उष्ण वर्षा नही तहां,
 जरा रुखा भय दुख न जहां ।
 रात दिवस दीस नही भेद,
 भल पुति मूत्र बिबजित स्वेद ॥११६॥
 शुक्र दधिर तहां अस्मिन् चर्म,
 मांस नसा भेदा नहीं कर्म ।
 घातु उपघातु रहित तनु आज,
 मध स्फटिक मणि सोही काय ॥११७॥
 निद्रा आलस पल नहीं भेष,
 चढइ विमान विक्रिया भेष ।
 दीप समुद्र असंख्यनि फिरै,
 जिन बाजा करि पातक हरै ॥११८॥

अणिम महिमा गरिमा सार,
 लहिमा ईसत्व बसत्व गुणधार ।
 काम कामत्व बुद्धि बहु लहीजै,
 ए अष्टौ ऋद्धिदेव की कही जै ॥११९॥
 दोहा—देव सुख को गनि कहे, सोलह स्वर्ग प्रमोण ।
 नाम आयु विधि सुख कहे, सुनि हो चतुर सुजान ॥१२०॥
 चौपाई—सौधर्म प्रथम ईशान जुजानि,
 तहां पटल इकतीस बखानि ।
 विमान साठ लाख द्युति धार,
 ऊंची सकल सुनी विस्तार ॥१२१॥
 दोहा—मरे तरै (नीचे) तें लेखि जे राजु डेढ उचित्त ।
 सौधर्म कही ईशान पुनि यद प्रमाण सुनिमित्त ॥१२२॥
 चौपाई—सागर क्षीय आयु उत्कृष्ट,
 हाथ सात उन्नत तनु इष्ट ।
 काया सौ सुख भुगतैं धीर,
 अव सुनु जु (यु) गल दूसरो वीर ॥१२३॥
 सनतकुमार माहेन्द्र जु नाम,
 बीस लाख तहं कहे विमान ।
 सात पटल पुनि सोहै जहां,
 राजु डेढ़ उचित्त है जहां ॥१२४॥
 सागर सात आयु तहं कहीजै,
 कर छह उन्नत देह लहीजै ।
 देह स्पृशैं सुख हित काम,
 युगल तीसरो कहीजै नाम ॥१२५॥
 ब्रह्म ब्रह्मोत्तर जानहु स्वर्ग,
 विमान चार लाख सुनि वर्ग ।
 राजु आध उचित्त अवकाश,
 चार पटल सोहै सुख वासु ॥१२६॥
 सागर दस तहं आयु जु लीन,
 पंच हाथ तहं देह प्रवीन ।
 रति सुख माने देखे रूप,
 चौथो युगल सुनो पुनि भूप ॥१२७॥
 लातव अह कापिष्ट बखानि,
 राजु अर्ध उचित्त सु जानि ।
 पटल क्षीय तहं सोहै घने,
 सहस्र पचास विमान अति बने ॥१२८॥

चौदह सागर आयु जु कही,
 पंच हाथ तनु उन्नत सही ।
 रूप देख पुनि माने भोग,
 पंचम युगल सुनो नृप जीग ॥१२९॥
 शुक जु महाशुक अभिराम,
 सहस्र चालीस विमान शुभ घाम ।
 पटल एक सुनि श्रेणिक भूप,
 राजु एक उचित्त स्वरूप ॥१३०॥
 सोलह स्वर्ग आयु तहं लहे,
 हाथ चार देह उन्नत शुभ कहे ।
 शब्द ? सुनै मानै शुभ काम,
 युगल छटो सुनियो तुम राम ॥१३१॥
 सत्तार जु अरि कहिए सहभार,
 विमान सहस्र षट सोहै सार ।
 राजु उचित्त आध तहं लेखि,
 पटल एक पुनि कहिये पेखि ॥१३२॥
 साढ़े तीन हाथ तनु उच्च,
 शब्द ? सुनै सुख मानै उच्च ।
 अठारह सागर आयु शुभ अंत,
 सातवां युगल कही पुनि संत ॥१३३॥
 अनंत प्राणत है सुख (इ) दाय,
 सागर बीस आयु तहं आइ ।
 करत तहां तीन देह अति सोहै,
 मन की उमंग यहां सुख मोहै ॥१३४॥
 अष्टम युगल सुनो तुम नाम,
 आरण अच्युत है सुख घाम ।
 हाथ अढ़ाई सो है देह,
 मन तैं सुख भुगतैं रतिनेह ॥१३५॥
 सागर आयु कही बाईस,
 पुनि तुम पटल सुनो न रईस ।
 स्वर्ग चार छह पटल बखानि,
 राजु एक ऊंच सब जानि ॥१३६॥
 विमान सात सौ चार हुंथोक,
 इह विधि कही सुनो मुरलोक ।
 अधोग्रैवेयक पटला है तीन,
 विमान एक सौ ग्यारह लीन ॥१३७॥
 (शेष पृ० २६ पर)

महाकवि धवल और उनका 'हरिवंशपुराण'

□ श्रीमती अलका प्रचण्डिया 'दीप्ति' एम० ए०

अपभ्रंश काव्यधारा में पुराणकाव्य और चरितकाव्य दो प्रभेद उल्लिखित हैं। पुराने कवियों की मूल रचना होने से इस प्रभेद को 'पुराण' कहा जाता है। पुराणों का प्रणयन प्रायः जैन प्रणेताओं द्वारा हुआ है। पुराण की परम्परा अपभ्रंश में संस्कृत के हिन्दू पुराणों से सर्वथा भिन्न है। जैन वाङ्मय आगम कहलाते हैं। आगम के चार अनुभाग निर्दिष्ट हैं—(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग के ग्रंथ ही पुराण संज्ञा से सम्बोधित हुए हैं। इतिहास और पुराण में भेदक रेखा खींचते हुए कहा जा सकता है कि इतिहास एक पुरुष की कथा होती है और पुराण तिरमठ पुरुषों की जीवन कथा। वस्तुतः अपभ्रंश के पुराण पौराणिक शैली में रचित प्रबंधकाव्य अथवा महाकाव्य है।

अपभ्रंश वाङ्मय के प्रबंधकाव्य-प्रणेताओं में महाकवि धवल का नाम अग्रगण्य है। प्रो० हीरालाल जैन ने "इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज" भाग १, सन् १९२५ में कवि धवल द्वारा १२२ सन्धियों एवं १८ हजार पद्यों में विरचित 'हरिवंशपुराण' का निर्देश किया था। कैटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनुस्क्रिप्ट्स इन दि सी० पी० एण्ड बरार, नागपुर सन् १९२६ में पृष्ठ ७६५ पर भी इस ग्रंथ का कुछ उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत ग्रंथ श्री दिगम्बर जैन मंदिर (बडा १३ पथियों का) जयपुर में विद्यमान है। इस महाकाव्य की हस्तलिखित प्रति का अवलोकन डा० कोछड ने डा० कस्तूरचंद जी कासलीवाल की कृपा से किया था। पंडित नाथुराम प्रेमी ने भी धवल कृत 'हरिवंशपुराण' का उल्लेख अपने इतिहास में "कुछ अप्राप्य ग्रंथ" शीर्षक में किया है।

महाकवि धवल के पिता श्री का नाम सूर और मातु श्री का नार केसुल था। आपके गुरु का नाम अम्बसेन था। आप ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे परन्तु बाद में आप ने जैन धर्म अपनाया था। कवि द्वारा निर्दिष्ट उल्लेखों के आधार पर उनकी प्रतिभा और कवित्व शक्ति का परिज्ञान हो जाता है। 'हरिवंशपुराण' के आरम्भ में महाकवि धवल ने अपने पूर्ववर्ती कवियों एवं काव्यों का उल्लेख किया है

जिनमें अधिकांश कवि नवीं शती के हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि महाकवि धवल ने महाकवि पुष्पदंत का नामो-ल्लेख नहीं किया जबकि वह एक असाधारण कवि थे। प्रो० हीरालाल जैन ने महाकवि धवल को पुष्पदंत का समकालीन मानते हुए उन्हें दसवीं शताब्दी में रखा है। निर्दिष्ट कवियों में से असग को छोड़कर सब नवीं शताब्दी के लगभग या उससे पूर्व हुए हैं। असग ने 'अपना वीर-चरित' ६२० शक सं० अर्थात् ६८८ ई० से लिखा था। अतः कल्पना की जा सकती है कि महाकवि धवल भी १०वीं शताब्दी के बाद ही हुए होंगे। वस्तुतः धवल शक संवत् की १०वीं शती के अन्तिम पाद या ११वीं शती के प्रथम पाद के महाकवि थे।

'हरिवंशपुराण' में २२वें तीर्थंकर यदवंशी नेमिनाथ का जीवन वृत्त अंकित है। साथ ही महाभारत के पात्र कौरव और पाण्डव तथा श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों के जीवन वृत्त भी गम्फित हैं। १२२ सन्धियों के इस काव्य ग्रंथ में प्रत्येक संधि में कडवकों की संख्या भिन्न-भिन्न है। ७वीं सन्धि में २१ कडवक है और १११वीं सन्धि में केवल चार। सन्धियों के अन्तिम पद्य में 'धवल' शब्द का प्रयोग परिलक्षित है। ग्रंथ में प्रायः प्रत्येक सन्धि की समाप्ति पर महाकवि ने भाषा वर्णः, पंचम वर्णः, माल-वसिका वर्णः, कोद्र वर्णः इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के शब्दों में मंगलपंच, टकार, पंचम, हिदो-लिका, वकार, कोलाह आदि शब्दों का भी व्यवहार हुआ है।

ग्रंथारम्भ में महाकवि ने 'हरिवंशपुराण' को 'सरोरुह' (कमल) कहा है और इस कथा के पूर्व वक्ताओं में चतु-र्मुख और व्यास को आदर पूर्वक स्मरण किया है तदनंतर मंगलाचार के रूप में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। महाकवि धवल क्षणभंगुर शरीर की सश्वरता का वर्णन करते हुए स्थायी अविनाशी काव्यमय शरीर रचना का विचार करते हैं। यथा—

जो एवि मरइ ण छिज्जइ णवि पीडिज्जइ,

अखउ भुवणि भुवणि अं भीरुवि।

(शेष पृ० कवर ३ पर)

महाकवि अर्हदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

□ डा० कपूर चन्द जैन, खतौली

भाषा भावों की संवाहिका है, प्राचीन भारतीय भाषाओं में संस्कृत को वरेण्य स्थान प्राप्त है किन्तु प्राचीन संस्कृत है या प्राकृत ? यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। 'प्राकृत' और 'संस्कृत' नामों से तो प्राकृत ही प्राचीन सिद्ध होती है। जैन मनीषी और कवियों ने आरम्भ में प्राकृत भाषा में ही ग्रंथों का प्रणयन प्रारम्भ किया इसी कारण प्राचीन जैन साहित्य प्राकृत भाषा में ही उपलब्ध होता है, किन्तु 'अनुयोगद्वार सूत्र', जैसे ग्रंथों में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं को ऋषिभाषित कहने के कारण संस्कृत में भी विपुल मात्रा में जैन साहित्य का निर्माण हुआ जिसमें से अधिकांश भाग आज भी अलमारियों में पड़ा अन्वेषकोकी बांट जोह रहा है।

प्राचीन जैन वाङ्मय में 'द्वादशांगवाणी' को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। आचार्य समन्तभद्र ने जैन काव्य निर्माण का श्रीगणेश किया और तब से यह धारा अब तक अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है।

ईसा की तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी जैन काव्यग्रंथ-निर्माण की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इस समय अनेक जैन काव्य ग्रंथों का प्रणयन हुआ। अर्हदास जैसा प्रतिभाशाली महाकवि भी इसी समय हुआ जिसने 'पुरुदेव चम्पू' "मुनिसुव्रत काव्य" और "भव्यजनकण्ठाभरण" रूप तीन रश्मियों का सुन्दर उपहार जैन साहित्य को दिया।

भव्यजनकण्ठाभरण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे हिन्दू शास्त्रों के अप्रतिम अध्येता तथा विद्वान् थे। उक्त ग्रंथ में जगह-जगह दिये गये हिन्दी-शास्त्रों के उद्धरण इसके समुज्ज्वल निदर्शन हैं। इसी आधार पर प० कैलाशचन्द शास्त्री ने उनके जैन धर्मानुयायी न होकर अन्य धर्मानुयायी होने का अनुमान लगाया है।^१ श्री नाथूराम प्रेमी^२ का अनुमान है कि अर्हदास नाम न होकर

विशेषण जैसा ही मालूम पड़ता है।^३ अतः सम्भव है कि उनका नाम कुछ और ही रहा हो।

वे जन्मपर्यन्त गृहस्थ ही रहे। गृहस्थ रहते हुए भी उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी का उपयोग साधारण व्यक्ति के चित्रण में नहीं किया। 'मुनिसुव्रतकाव्य' तथा 'पुरुदेव चम्पू' में उन्होंने मुनिसुव्रत तथा ऋषभदेव के चरित्र को प्रतिपाद्य बनाया, तो भव्यजनकण्ठाभरण में आप्तादि तथा सम्यग्दर्शन की महिमा का विवेचन किया है। प्राकृत व्यक्ति की प्रशंसा करने वाले कवियों को अर्हदास तुच्छ दृष्टि से देखते थे। और राजा महाराजा आदि धन-सम्पन्न मनुष्यों की कविता द्वारा प्रशंसा करना जिनवाणी का अत्यधिक अपमान समझते थे।

"सरस्वती कल्पलता स को वा

सम्बर्द्धयिष्यन् जिनपारिजातम्।

विमुच्य काजीरतरूपेषु वयारोपयेत्प्राकृतनायकेषु ॥"^४

अर्हदास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके ग्रंथों में व्यर्थ का विस्तार नहीं है। हां 'पुरुदेवचम्पू' जैसे ग्रंथों में जहाँ उन्होंने अपनी कला की कलाबाजियां दिखाई हैं, वहाँ उनके वर्णन देखते ही बनते हैं। न केवल उनके गद्य ही 'गद्यः कवीनां निवृष वदन्ति' की कसौटी पर सही उतरते हैं अपितु पद्य भी विभिन्न छन्दों में गुथे और श्लेषानुप्राणित होकर सहृदयों को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

जन्मस्थान :

महाकवि अर्हदास ने अपने स्थान के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी। श्री नाथूराम प्रेमी ने उनके ग्रंथों का प्रचार कर्नाटक में अधिक होने के कारण उनके कर्नाटक में रहने का अनुमान लगाया है।^५ पण्डित आशाधर अपने अन्तिम समय में अवन्ती के नलकच्छपुर में रहे थे और वहीं उन्होंने जिनयज्ञकल्प, अनगारधर्मानुत-

टीका आदि ग्रंथ लिखे थे, यदि अर्हदास आशाधर के अन्तिम समय में उनके पास पहुँचे तो उनका स्थान अवन्ती प्रदेश मानना होगा किन्तु समुचित प्रमाणों के अभाव में कुछ निश्चित लिख पाना संभव नहीं है।

श्री नाथूराम प्रेमी ने मदनकीर्ति यतिपति के ही अर्हदास बन जाने का अनुमान लगाया है। मदनकीर्ति यतिपति, वादीन्द्र, विशालकीर्ति, जिन्होंने पं० आशाधर से न्यायशास्त्र पढ़कर विपक्षियों को जीता था, के शिष्य थे। वि० सं० १४०५ में रचित राजशेखरसूरि के “चतुर्विंशति प्रबन्ध” में “मदनकीर्तिप्रबन्ध” नाम का एक प्रबन्ध है, जिसमें मदनकीर्ति के कर्णाटक जाकर विजयपुर नरेश कुन्तिभोज की सभा में काव्य-रचना करने और उनकी पुत्री से विवाह करने का वर्णन है। मदनकीर्ति का बनाया “शासनचतुर्विंशिका” ग्रंथ उपलब्ध है। प्रेमी जी ने लिखा है—“चतुर्विंशति कथा को पढ़ने के बाद हमारा यह कल्पना करने को जी अवश्य होता है कि कहीं मदनकीर्ति ही कुमार में ठोकरे खाते-खाते अन्त में आशाधर की सूक्तियों से अर्हदास न बन गए हो। पूर्वोक्त ग्रन्थों में (पुरुदेवचम्पू आदि में) जो भाव व्यक्त किये गए हैं, उनमें इस कल्पना को बहुत कुछ पुष्टि मिलती है और फिर यह अर्हदास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम पड़ता है। संभव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो, यह नाम एक तरह की भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।” पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस मन को भी वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पण्डित आशाधर महान् विद्वान् होते हुए भी मुनि नहीं बने अपितु उन्होंने मुनियों के चरित्र में पनप रही तत्कालीन शिथिलता की कड़ी आलोचना की है, वे गृहस्थ पण्डित थे अतः उनके शिष्य अर्हदास का भी पण्डित होना संभव है। डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने अर्हदास को गृहस्थ पण्डित ही माना है।^१

आशाधर का शिष्यत्व :

यह विवादास्पद विषय है कि महाकवि अर्हदास पण्डित आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या नहीं। उन्होंने अपने तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में पण्डित आशाधर का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। अतः यहाँ

तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ देना असमीचीन न होगा। मुनि-सुन्नत काव्य का अन्तिम पद है—

मिथ्यात्व कर्मपटलैश्चिरमावृते मे

युग्मे दृशो, कुपथयाननिदानभूते ।

आशाधरोक्तिलसदजन संप्रयोगे—

रच्छीकृते पृथलसत्पथमाश्रितोस्मि ।

अर्थात् मेरे नयनयुगल चिरकाल से मिथ्यात्वकर्म के पटल से ढके हुए थे और मुझे कुमार में ले जाने के कारण थे। आशाधर के उक्तिरूपी अंजन के प्रयोग से स्वच्छ होने पर मैंने जिनेन्द्र भगवान के सत्यपथ का आश्रय लिया, इसी प्रकार पुरुदेव चंपू का अन्तिम पद्य है—

मिथ्यात्वपककलुषे मम मानसेस्मिन्

आशाधरोक्तिकतक प्रसरैः प्रसन्ने ।

उल्लासितेन शरदा पुरुदेवभक्त्या

तच्चंपु दंभजलजेन समुज्जजृम्भे ॥

अर्थात् जो पहले मिथ्यात्वरूपी पंक से मलिन था तथा पीछे चलकर आशाधर जी के सुभाषित रूपी कतक फन के प्रभाव में निर्मल हो गया ऐसे मेरे इस मानसमन रूपी मानसरोवर में पुरुदेव जिनेन्द्र की भक्तिरूपी शरद ऋतु के द्वारा उल्लास को प्राप्त हुआ यह पुरुदेवचंपू रूपी कमल वृद्धि को प्राप्त हुआ है।

इन दोनों पद्यों से इतना तो स्पष्ट है कि अर्हदास की दृष्टि या मानस आशाधर की सूक्तियों से निर्मल हुआ था पर उनके साक्षात् शिष्य होने का प्रमाण नहीं मिलता, भव्यजनकण्ठाभरण का यह पद भी द्रष्टव्य है—

सूक्त्येव तेषा भरभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणा सहाय्या धन्याः स्युः आशाधरसूरिमुख्याः ।^२

अर्थात् उन आचार्य वगैरह के सद्बचनों को सुनकर ससार से डरे हुए जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए आत्मधर्म का पालन करते हैं और बाकी के ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा साधु आश्रम में रहने वालों के सहायक होते हैं वे आशाधर सूरि प्रमुख धन्य हैं।

इस पद्य के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि “इस पद्य में प्रकारान्तर से आशाधर की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वे जैन धर्म का पालन करते थे तथा अन्य

आश्रमवासियों की सहायता भी किया करते थे। इस पद्य में आशाधर की जिस परोपकार वृत्ति का निर्देश किया गया है, उसका अनुभव कवि ने सभवतः प्रत्यक्ष किया है और प्रत्यक्ष में कहे जाने वाले सदवचन भी सूक्ति कहलाते हैं, अतएव बहुत संभव है कि अर्हदास आशाधर के समकालीन हों।^{१०} पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी उक्त आधार पर अर्हदास का आशाधर के लघुसमकालीन होने का अनुमान किया है।^{११} किन्तु इस सन्दर्भ में पण्डित नाथूराम प्रेमी और पण्डित हरनाथ द्विवेदी के मतों को दृष्टि से ओक्षल नहीं किया जा सकता। प्रेमीजी ने लिखा है कि 'इन पदों में स्पष्ट ही उनकी सूक्तियो या उनके सद्ग्रन्थों का ही संकेत है, जिनके द्वारा अर्हदास को सम्मार्ग की प्राप्ति हुई थी, गुरु शिष्यत्व का नहीं।'^{१२} इसी प्रकार माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित पुरुदेवचंपू के सपादक पण्डित जिनदास शास्त्री फड़कुले के मत पर कटाक्ष करते हुए पण्डित हरनाथ द्विवेदी ने लिखा है—पुरुदेवचंपू के विज्ञ सपादक फड़कुले महोदय ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका में लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियों से कविवर अर्हदास पण्डिताचार्य आशाधर जी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते हैं। किन्तु कम से कम मैं आपकी इस निर्णायक सरणी से सहमत हो आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। क्योंकि प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हदास जी को थी कि नहीं। सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हदास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरु मान रखा था, यह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि सूक्ति और उक्ति का अर्थ रचना-बद्ध ग्रन्थ-संदर्भ का भी हो सकता है।^{१३}

हमारे अनुमान से यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि आशाधर के अन्तिम समय अर्थात् वि० स० १३०० में अर्हदास आशाधर जी के पास पहुँचे होंगे और १-२ वर्ष साक्षात् शिष्यत्व प्राप्त कर उनके धर्माभूत से प्रभावित होकर काव्य रचना में प्रवृत्त हुए होंगे। जैसा कि उनके "बावनकापय" (मुनिसुव्रत काव्य १०/६४) पद्य से भी व्यक्त होता है।

अर्हदास नाम के अनेक विद्वान्

अर्हदास नाम के दूसरे कवि रट्ट कवि अर्हदास हैं। यह जैन ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम नागकुमार था जो गंगा मारसिंह के चम्पूपति का डमरस १४वीं पीढ़ी में हुए थे। इनका समय भी १३०० ई० के आसपास स्वीकार किया गया है।

रट्ट कवि अर्हदास कन्नड़ भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने कन्नड़ भाषा में अष्टमत नाम के महत्त्वपूर्ण ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता। शक सवत् की चौदहवीं शताब्दी में भास्कर नाम के आंध्र कवि ने इस ग्रन्थ का तेलगु भाषा में अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ के उपलब्ध भाग में वर्षा के चिह्न, शकुन, वायु-चक्र, गृहप्रवेश, भूकम्प-भूजात-फल, उन्पात-लक्षण, इन्द्रधनु लक्षण आदि विषयों का निरूपण किया गया है।^{१४} पर ये अर्हदास पुरुदेवचंपू के कर्ता अर्हदास से भिन्न हैं।

अर्हदास का समय :

संस्कृत के अन्य महाकवियों की तरह महाकवि अर्हदास का समय भी अन्धकाराच्छन्न है। यतः उन्होंने अपने जन्म-समय, जन्म-स्थान, माता पिता आदि के संबंध में कोई उल्लेख नहीं किया है। फिर भी कतिपय प्रमाण ऐसे हैं, जिनसे उनका समय निर्धारण करना सम्भव है।

अर्हदास के काल-निर्धारण में पूर्व और अपर सीमा निर्धारण के लिए क्रमशः आशाधर और अजितसेन महत्त्वपूर्ण मानदण्ड हैं। अर्हदास ने अपनी कृतियों में आशाधर का नामोल्लेख जिस सम्मान और श्रद्धा से किया है, उससे तो इस अनुमान के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है कि वे आशाधर के संक्षिप्त शिष्य रहे होंगे। किन्तु आशाधर ने अपने ग्रन्थों में जिन आचार्यों और कवियों का उल्लेख किया है, उनमें अर्हदास का उल्लेख नहीं है। यहाँ तक कि उनकी अन्तिम रचना अनंगारधर्माभूत की टीका में अर्हदास या उनके किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं है।^{१५}

इससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि वे आशाधर के पश्चात्वर्ती हैं। साथ ही आचार्य अजितसेन ने अपनी अलंकार चिन्तामणि में जितसेन, हरिचन्द्र, वारभट आदि के साथ ही अर्हदास के मुनिसुव्रतकाव्य के अनेक श्लोक

उदाहरण स्वरूप दिये है—

चन्द्रप्रभं नौमि यदंगकान्ति

ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः ।

चकोरयूथं पिबति स्फुटन्ति

कृष्णेऽपि पक्षे किलकैरवाणि ॥^{११}

‘अत्र चन्द्रप्रभागकान्तौ ज्योत्स्ना बुद्धिः ज्योत्स्नासा-
दृश्यं बिना न स्यादिति सादृश्यप्रतीतौ भ्रान्तिमदलंकारः ।’

‘अत्रारोपविषये जिनांगकान्तौ चकोरादीनां ज्योत्स्ना-
नुभवः ।’ ‘अलंकार चिन्तामणि ज्ञानपीठ संस्करण,

पृष्ठ १२३, १३५ तथा २६६ ।

इसी प्रकार मुनिसुव्रत काव्य के १।३४. २।३१,
२।३२ तथा २।३३ श्लोक अलंकार चिन्तामणि के पृष्ठ
२०५, २२८, २२८ तथा २११ पर उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत
किए गए हैं ।

इन श्लोको से यह स्पष्ट है कि अर्हदास अलंकार-
चिन्तामणि के कर्ता आचार्य अजितसेन से पूर्ववर्ती हैं ।

सौभाग्य से हमें आशाधर के काल निर्धारणार्थ अधिक
नही भटकना होगा उन्होंने अपनी अन्तिम रचना ‘अनगर-

रधर्माभूत की टीका’ वि० सं० १३०० में पूर्ण की थी ।^{१२}
इससे पूर्व वे त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, ‘जिनयज्ञकल्प’, सागार-
धर्माभूत’ की टीका’ आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर
चुके थे । ऐसा उक्त ग्रन्थों की प्रशस्तियों से विदित होता
है । यतः उन्होंने अपनी अन्तिम कृति ‘अनगरधर्माभूत की
टीका’ १३०० वि० सं० (१२४३ ई०) में पूर्ण की थी ।
अतः उनका रचना काल ईसा की १३वीं शताब्दी का
पूर्वाद्धि निश्चित है । अलंकार चिन्तामणि के कर्ता अजित-
सेन का रचनाकाल डा० नेमिचन्द्र^{१३} शास्त्री ने वि० सं०
१३०७-१३१७ तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने १२४०-
१२७० ई० (१२६७-१३२७ वि० सं०) माना है ।

आशाधर और अजितसेन के मध्यवर्ती होने के कारण
अर्हदास का समय १३वीं शताब्दी ई० का मध्य-भाग
मानना समीचीन होगा ।^{१४} (क्रमशः)

अध्याक्ष संस्कृत विभाग, जैन कालेज
बड़ा बाजार खतौली २५१२०१ (उ० प्र०)

संदर्भ-संकेत

१. ‘सकया पायया चैव भणिईओ होति-दोण्णिवा ।
सरमंडलम्मि गिज्जन्ते पसत्था इसिभासिया ॥’
अनुयोग द्वारसूत्र : व्यापार २०१० सत्र १२७
(सन्दर्भ-जैन : संस्कृत काव्य के विकास से जैन कवियों
का योगदान) ।
२. भव्यजनकण्ठाभरण, भूमिका, पृ० ८
३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४३
४. दामो भवाम्यर्हन्तः, (मुनिसुव्रत काव्य १०४६) से भी
यही ध्वनित होता है ।
५. मुनिसुव्रतकाव्य, १०१२
६. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४३
७. जैन साहित्य और इतिहास पृ० १४३
८. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-६, पृ० १४
९. भव्यजनकण्ठाभरण पृ० २३६
१०. सौम्यकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा,

भाग-४, पृ० ५०

११. भव्यजनकण्ठाभरण, प्रस्तावना, पृ० १०
१२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४२
१३. मुनिसुव्रतकाव्य भूमिका, पृ० ख १
१४. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० २४५
१५. गुरु गोपालदास चरैया स्मृतिग्रन्थ पृ० ५०१ तथा
भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अनगरधर्माभूत की
प्रस्तावना ।
१६. मुनिसुव्रतकाव्य, १.२
१७. ‘नलकच्छपुर श्रीमन्नेमि चैत्यालयेसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥’
अनागरधर्माभूत टीका प्रशस्ति, ३१
१८. अलंकार चिन्तामणि, प्रस्तावना, पृ० ३४ भारतीय
ज्ञानपीठ संस्करण ।
१९. व्यक्तिगत पत्र दिनांक २७-६-६२ के आधार पर ।

भगवती आराधना में तप का स्वरूप

□ कु० निशा, विजनौर

कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः अर्थात् कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। यह तप का निरुक्तार्थ है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को जानकर अकर्त्तव्य का त्याग करना चारित्र्य है वही ज्ञान है और वही सम्यग्दर्शन है, उस अकर्त्तव्य के त्यागरूप चारित्र्य में जो उद्योग और उपयोग होता है, उसको जिन भगवान ने तप कहा है अर्थात् चारित्र्य में उद्योग और उपयोग ही तप है। तप शब्द का अर्थ समीचीनतया निरोध करना होता है। रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए इष्ट-अनिष्ट विषयों की आकांक्षा के निरोध का नाम ही तप है। इसके दो भेद हैं—१. बाह्य तप, २. आभ्यन्तर तप। उनमें भी प्रत्येक के छह-छह भेद हैं। अनशन, अवमोदय, रसों का त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशय्या ये छह प्रकार के बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैया-वृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये आभ्यन्तर तप हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर तप—बाह्य जन अन्य मत वाले और गृहस्थ आदि भी इन तपों को जानते हैं, इसी कारण अनशनादि तपों को बाह्य तप कहते हैं तथा जो सन्मार्ग को जानते हैं, उनके द्वारा जिसका आचरण किया जाता है, ऐसे तप आभ्यन्तर तप कहे जाते हैं। प्रायश्चित्त आदि तपो में बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न होकर अन्तरंग परिणामों की मुख्यता रहती है तथा इनका स्वयम् ही सवेदन होता है, ये देखने में नहीं आते तथा इनको अनाहृत लोग धारण नहीं कर सकते, इसी कारण प्रायश्चित्तादि को अन्तरंग तप कहा जाता है। कर्मों की निर्जरा में समर्थ आभ्यन्तर तपो की वृद्धि के लिए अनशनादि बाह्य तप किये जाते हैं। अतः आभ्यन्तर तप ही प्रधान है। यह आभ्यन्तर तप शुद्ध और शुभ परिणामों से युक्त होता है, इसके बिना बाह्य तप निर्जरा में समर्थ नहीं होता है।

आभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि का चित्त अनशनादि बाह्य तप है, जैसे किसी मनुष्य के मन में क्रोध उत्पन्न होने पर उस क्रोध का चित्त भृकुटी चढ़ाना होता है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर तपो में लिङ्ग-लिङ्गी भाव है।

बाह्य तप के भेद—

(१) अनशन—न अशन अर्थात् अशन के न करने को या अन्न भोजन को अनशन^{१०} कहते हैं। यह तप तभी माना जाता है जब कर्मक्षय के लिए किया जाता है। अनशन तप दो^{११} प्रकार का होता है—१. अढाशन २. सर्वानशन।

अढाशन (चतुर्थ उपवास से छह मास का उपवास) गृहणकाल और प्रतिसेवनाकाल में किया जाता है तथा सर्वानशन सन्यास ग्रहण करने से लेकर मरणपर्यन्त तक किया जाता है।

(२) अवमोदय—बत्तीस ग्रास प्रमाण पुरुष के और अष्टादश ग्रास प्रमाण स्त्री के आहार में से एक-दो ग्रास आदि की हानि के क्रम से जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमोदय तप है।^{१२} यह तप उत्तम क्षमा आदि रूप धर्म की, छह आवश्यकों की, आतापन आदि योग की प्राप्ति के लिए, वायु आदि विषमता को दूर करने के लिए निद्रा को जीतने आदि के लिए किया जाता है।^{१३}

(३) रसपारत्याग—दूध, दही, घी, तेल, गुड़, पत्र-शाक, लवण आदि सबका अथवा एक-एक का त्याग रस-परित्याग^{१४} नामक तप है। इसकी चार महाविकृतियां होती हैं—नवनीत, मद्य, मांस और मधु। ये क्रमशः अभिलाषा प्रसंग, दर्प और असंयम को उत्पन्न करने वाली हैं।^{१५} इन्हें महाविकृतियां इसलिए कहा जाता है, क्योंकि ये मन को अत्यधिक विकासयुक्त कर देती हैं।^{१६} अतः जिन भगवान की आज्ञा को धारण करने वाले, पाप से भयभीत तथा तप में एकाग्रता के इच्छुक को इन महाविकृतियों का सर्वथा

त्याग कर देना चाहिए ।^{१८}

(४) वृत्तिपरिसंख्यान—मुमुक्षु को यह तप आशा की निवृत्ति के लिए इन्द्रिय सयम के लिए, तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए सदैव करना चाहिए । श्रमण भिक्षा से सम्बद्ध, दाता, चलना, पात्र गृह आदि विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के सकल्पों के द्वारा शरीर के लिए वृत्ति करता है और यही वृत्तिपरिसंख्यान तप है ।^{१९} उदाहरणार्थ—पूर्व गमन किये हुए मार्ग से लौटते हुए भिक्षा मिलने पर ही ग्रहण कर्हंगा, सीधे मार्ग से जाने पर यदि मिली तो ग्रहण कर्हंगा अन्यथा नहीं आदि मार्ग विषयक ।^{२०} सोने, चाँदी, कांसी अथवा मिट्टी के पात्र द्वारा दी गयी भिक्षा ही ग्रहण कर्हंगा अन्यथा नहीं आदि पात्रविषयक । स्त्री, बालिका, युवती, वृद्धा अथवा अलङ्कार युक्त या अलङ्कार रहित स्त्री से ही ग्रहण कर्हंगा अन्यथा नहीं आदि दाता विषयक ।^{२१} कुल्माष आदि से युक्त भात, चारो ओर व्यञ्जन के मध्य में पुष्पावली के समान रखते चावल आदि^{२२} भोजन मिलने पर ही ग्रहण कर्हंगा, अन्यथा नहीं । इस प्रकार के अनेक भोजन सम्बन्धी नियम लेना वृत्तिपरिसंख्यान है ।

(५) कायक्लेश—कायोत्सर्ग करना, शयन, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहण करना, उनके द्वारा आगमनानुसार शरीर को कष्ट देना ही कायक्लेश नाम का तप है ।^{२३} उदाहरणार्थ—तेज घूप में सूर्य की ओर मुख करके गमन करना, जिस ग्राम में मुनि ठहरे हो उस ग्राम से अन्य ग्राम में भिक्षा के लिए गमन करना और जाकर लौटना, चिकने स्तम्भ आदि के सहारे खड़ा रहना, एक स्थान पर निश्चल स्थित रहना, एक पैर से खड़े रहना, बीरासन आदि आसन लगाना, मृतक के समान निश्चेष्ट सोना, खुले आकाश में शयन करना, न थूकना, न खुजाना, केशलोच, रात्रि-जागरण तथा आतापन आदि योग करना कायक्लेश नामक तप है ।^{२४}

(६) विविक्तशय्या—जिस वसति में मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श के द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते अथवा स्वाध्याय और ध्यान में विघ्न नहीं होता ।^{२५} जो खुले हुए अथवा बन्द द्वार वाली सम अथवा ऊँची-नीची भूमि वाली, बाहर के भाग में स्थित हो । स्त्री, नपुंसक पशुओं से रहित, ठंडी या गर्म^{२६}, उद्गम,

उत्पादन और एषणा दोषों से रहित, शय्या रहित हो ऐसी वसतिका के अन्दर या बाहर खड़ा होना बैठना अथवा शयन करना विविक्तशयनासन नाम का तप है ।^{२७} ऐसे एकान्त स्थान में निवास करने वाले साधु असाधु लोगों के ससर्ग से उत्पन्न होने वाले मोह, राग और द्वेष से सन्तप्त नहीं होते ।^{२८}

बाह्य तप की विशेषता—बाह्य तप के करने से यति में अनेक गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है, जैसे—बाह्य तप से आत्मा, अपना कुल, गण, शिष्यपरम्परा सुशोभित होती है । आलस्य नष्ट हो जाता है । विशेषतः संसार का मूलकर्म नष्ट होता है ।^{२९} बाह्य तप से बहुत से प्राणी समार से भयभीत हो जाते हैं, मिथ्यादृष्टियों में सौम्यता आ जाती है तथा इस तप के करने से मोक्ष मार्ग प्रकाशित होता है । क्योंकि तप के अभाव में कर्मों की निर्जरा सम्भव नहीं है इसके साथ ही जिन भगवान की आज्ञा का पालन हो जाता है ।^{३०} इस तप से शरीर में लघुता और उससे सम्बद्ध रनेह का नाश, रागादि का उपशम होता है ।^{३१} अनशनादि तप से अनर्थकारी सुखशीलता का नाश, शरीर में कृशता, संसार से विरक्ति होती है, इन्द्रियां दान्त होती हैं, वीर्याचार में प्रवृत्ति तथा यति के जीवन के प्रति इच्छा भी समाप्त हो जाती है । बाह्य तप से शरीर, रस और सुख में आपत्ति नहीं रहती तथा कषायों का मर्दन होता है । मरणकाल में जिस समस्त आहार का साधु को त्याग करना पड़ता है, उसका अभ्यास उसे बाह्य तप से ही हो जाता है, वह दुःख-सुख में समभाव को प्राप्त होता है, निद्रा पर विजय प्राप्त कर लेता है और ब्रह्मचर्यको धारण करता है ।^{३२}

आभ्यन्तर तप के भेद—

१ प्रायश्चित्त—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पहले किये हुए पापों से विमुक्त हो जाता है, वह प्रायश्चित्त नामक आभ्यन्तर तप है । यह तप आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप छेद, मूल परिहार और श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है ।^{३३} भगवती-आराधना विजयोदया टीका में आलोचना आदि ६ प्रकार का प्रायश्चित्त तप कहा है ।^{३४} ६ प्रकार इस प्रकार हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन ।^{३५}

आचार्य आदि के समक्ष अपने दोषों का चारित्र आचारपूर्वक निवेदन करना आलोचना नामक प्रायश्चित्त है।^{१८} यह दो प्रकार का है—सामान्य और विशेष। जिस मुनि को मूल नामक प्रायश्चित्त दिया जाता है वह सामान्य आलोचना तथा इसके अभाव में वह विशेष आलोचना करता है।^{१९} अनेक अपराध करने वाला तथा सम्यक्व्रत आदि का घात करने वाला मुनि सामान्य आलोचना करता है। मैं आज से मुनि दीक्षा लेना चाहता हूँ और मैं रत्नत्रय से हीन हूँ। इस प्रकार आलोचना करना ही सामान्य आलोचना है।^{२०} दीक्षा से लेकर सब काल और क्षेत्र में जिस भाव और क्रम से जो दोष दिया गया है, उसकी उसी प्रकार आलोचना करना ही विशेष आलोचना है।^{२१} विशुद्ध परिणाम वाले क्षपक के आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया प्रशस्त क्षेत्र में, पूर्वाह्न अथवा अपराह्न-काल में, शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ समय में होती है।^{२२} सुचारित्र सम्पन्न क्षपक दक्षिण पार्श्व में पीछी के साथ हाथों की अंजलि को मस्तक से लगाकर मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक गुरु की वन्दना करके सभी दोषों से रहित होकर आलोचना करता है।^{२३}

प्रतिक्रमण—ससार से भयभीत और भोगों से विरक्त साधु के द्वारा किये गये अपराध को, मेरे दुष्कृत मिथ्या हो, मेरे पाप शान्त हों। इत्यादि उपायों के द्वारा दूर करने को प्रतिक्रमण^{२४} नामक प्रायश्चित्त कहते हैं। अर्थात् दोषों की निवृत्ति को प्रतिक्रमण कहते हैं। यह नाम प्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण के भेद से छह प्रकार का है।^{२५} भट्टिनी, दारिका आदि अयोग्य नामों का उच्चारण न करना नामप्रतिक्रमण है। लिखित या खोदी हुई आप्तभासों की मूर्ति, त्रस और स्थावरों की आकृतियों को स्थापना शब्द से कहा गया है, उनमें आप्तभासों की मूर्तियों के समक्ष पूजन न करना स्थापना प्रतिक्रमण है तथा त्रस, स्थावर आदि रचनाओं को नष्ट न करना स्थापना प्रतिक्रमण है। गृह, खेत आदि दस परिग्रहों का उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से दूषित वसतिगाहों का, उपकरणों का और भिक्षाओं का, अयोग्य आहारादि का और वृष्णा, मद तथा संक्लेश के कारणरूप द्रव्यों का त्याग

करना द्रव्यप्रतिक्रमण है। जल, कीचड़ और त्रस स्थावर जीवों से युक्त क्षेत्रों में गमन-आगमन का त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है अथवा जिस क्षेत्र में रहने से रत्नत्रय की हानि हो, उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। रात, तीनों सन्ध्या, स्वाध्याय और छह आवश्यकों के काल में गमन-आगमन आदि का व्यापार न करना कालप्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, राग-द्वेष, आहारादि संज्ञा, निदान, आर्त-रोद्र आदि अशुभ परिणामों का तथा पुण्यास्रवभूत शुभ परिणामों का त्याग भावप्रतिक्रमण है।^{२६}

तदुभय—दुःस्वप्न, संक्लेश आदि से होने वाले दोषों के निराकरण के लिए जो आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों प्रायश्चित्त किये जाते हैं, उसे तदुभय^{२७} प्रायश्चित्त कहते हैं।

विवेक^{२८}—संस्कृत अन्नादि में दोषों को दूर करने में असमर्थ साधु जो संस्कृत अन्नादि के उपकरणादि को अलग कर देता है, उसे विवेक प्रायश्चित्त कहते हैं। इसी प्रकार यदि साधु भूल से स्वयं अथवा दूसरों के द्वारा कभी अप्राप्त वस्तु को ग्रहण कर लेता है, तब स्मरण होते ही उसको छोड़ देना विवेक प्रायश्चित्त है, अथवा त्यागी हुई प्राप्त वस्तु भी यदि साधु ग्रहण कर लेता है तो स्मरण होते ही उसका त्याग कर देना विवेक है। यह गणविवेक और स्थानविवेक के भेद से दो प्रकार का है।^{२९}

मूल^{३०}—पार्श्वस्थ, संस्कृत, स्वच्छन्द, अवसन और कुशील भुनियों को अपरिमित अपराध होने से सम्पूर्ण दीक्षा छेड़कर पुनः दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है। जो सुखशील होने से बिना कारण अयोग्य का सेवन करता है वह पार्श्वस्थ कहलाता है अथवा जो निरतिचार संयम का मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता, किन्तु संयम के पार्श्ववर्ती मार्ग में चलता है, वह न तो एकान्त से असंयमी और न निरतिचार से संयमी है, अतः उसे पार्श्वस्थ^{३१} कहते हैं। एक अन्य स्थान पर पार्श्वस्थ के विषय में कहा गया है कुछ साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवों के द्वारा पकड़े जाकर साधु संघ के मार्ग को छोड़कर साधुओं के पार्श्ववर्ती हो जाते हैं, यही कारण है कि यह पासत्य या पार्श्वस्थ कहे जाते हैं।^{३२} संस्कृत साधु-नट के समान अनेक रूप धारण करने वाला होता है वे पार्श्वस्थ के संसर्ग से पार्श्वस्थ, कुशील के संसर्ग

से कुशील, और स्वच्छन्द के संसर्ग से स्वच्छन्द हो जाते हैं अर्थात् वे दूसरे में मिलकर उन जैसे ही हो जाते हैं। इसी कारण संसक्त कहे जाते हैं।^{१५} जो मुनि साधु संघ से निकल कर आगम विरुद्ध मार्ग की इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाछन्द साधु है।^{१६} इन्द्रिय और कषाय-रूपी तीव्र परिणाम होने के कारण सुखपूर्वक समाधि में लगा जो साधु तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी है और चरित्र छष्ट साधु की क्रिया करता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है।^{१७} जिस प्रकार जो कोई कीचड़ में फंस गया या मार्ग में थक गया तब उसको अवसन्न कहा जाता है और वह अवसन्न द्रव्यरूप से है, उसी प्रकार चारित्र अशुद्ध के भावसे अवसन्न होता है। वह उपकरण, वसतिका, स्वाध्याय, विहार करने की भूमि के शोधन में ईर्ष्यासमिति आदि में स्वाध्याय के काल का ध्यान रखने में तथा समिति में तत्पर नहीं रहता, छह आवश्यकों में आलस्य करता है। इस प्रकार चरित्र का पालन करते हुए वह खेद

खिन्न होने के कारण अवसन्न कहा जाता है।^{१८} कुत्सित शील वाले मुनि को कुशील कहा जाता है। यह कौतुक कुशील, यूतिकर्मकुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कक्वकुशील, कुहन कुशील, सम्मूर्छनकुशील, प्रवातन कुशील आदि अनेक प्रकार का होता है।^{१९}

तप—शास्त्रविहित आचरण में दोष लगाने वाला, किन्तु सत्त्व, धैर्य आदि गुणों से युक्त भ्रमण जो प्रायश्चित्त शास्त्रोक्त उपवास आदि करता है, वह तप प्रायश्चित्त है।

छेद—असंयम के प्रति ग्लानि प्रकट करने के लिए दीक्षा काल को कम कर देना छेद प्रायश्चित्त है। अनगार धर्माभूत (गा० ७।५३) में कहा है—जो साधु चिर-काल से दीक्षित है, निर्मद है, समर्थ है और शूर है यदि उससे अपराध हो जाए तो दिन, पक्ष या मास आदि का विभाग करके दीक्षा छेद देने को छेद प्रायश्चित्त कहते हैं।

(क्रमशः)

सन्दर्भ=सूची

१. सर्वार्थसिद्धि ६।६, २. पद्मनन्दपंचविंशतिका १।६८,
३. भगवती आराधना गा० ६-१०, ४. अनगार धर्माभूत गा० ७ २, ५. मूलाचार गा० ३४५, ६. भ० आ० गा० २१०, मू० आ० गा० ३४६, ७ मू० आ० गा० ३६०,
८. भ० आ० गा० १०६ की विजयोदया टीका, ९. अनगार धर्माभूत ७।३३, १०. भ० आ० गा० १३४२ की वि०, ११. भ.आ. गा. १३४४, १२. अं० धर्मा. गा. ७।११ टीका १३. अद्धानसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं।

विहरंतस्स य अद्धानसणं इदं च चरिमंते ॥२११ म.आ.

१४. एगुत्तरसेढीय जावय कवलो वि होदि परिहीणो।

अमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सिच्छं च ॥२१४॥

भ.आ., मू.आ.गा० ३५०

१५. अं.धर्मा. ७।२२, १६. भ. आ. गा. २१७, मू.आ. ३५२

१७. चत्तारि महाविषडीओ होति रावणीदमज्जमंसमहू।

करवापसंगदप्पाइसंजमकारीओ एदाओ ॥२१५॥

भ०आ०, मू०आ० ३५३

१८. अं०धर्मा०पृ० ५०७, १९. भ.आ. २१६, मू.आ. ३५४,

२०. अं. धर्मा. ७।२६, २१. भ० आ० गा० २२०,

२२. भ० आ० गा० २२३, २३. भ० आ० गा० २२२।

२४. ठाणसयणासणेहिं य विवि हेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं।

अणवीचीपरिताओ कायकिलेसो ह्वदि एसो ॥३५६॥

२५. भ०भ० २४४-२३६, २६. भ० आ० गा० २३०,

२७. भ०आ० गा० २३१, २८. भ०आ०गा० २३२,

२९. अं० धर्मा० ७।३१।

३०. आदा कुलं गणो पवयणं च सो भाविदं ह्वदि सव्वं।

अलसत्तणं च विजइं कम्मं च विणिद्धयं होदि ॥२८५॥

३१. बहुगाणं सवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाण।

मग्गो य दीविदो भगवदो य अणुणालिया आणा ॥२४५॥

३२. देहस्स लावव सवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं।

जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥२४६ भ.आ.

३३. भ०आ०गा० २२६-२४२, ३४. मू०आ०गा० २६१।

३५. मू०आ०गा० २६२, ३६. भ०आ०गा० ४ण४ की वि.

३७. उमास्वामी तं सूत्र ६।२२, ३८. मू०आ० पृ० २६३

३९. भ०आ०गा० ५३५, ४०. वही ५३६, ४१. वही ५३७

४२. वही ५५६, ४३. वही ५६३, ४४. अं. धर्मा. गा. ७।४७

४५. भ०आ०गा० ११८ की वि० ४६. वही ११८ की वि.

४७. अं० धर्मा० ७।४८, ४८. वही ७।४६-५०।

४९. मू.आ. गा. ३६२ की आवा. ५०. अं. धर्मा. गा. ७।५५

५१. भ.आ. गा. १६४४ की वि. ५२. भ. आ. गा. १२६०

५३. भ.आ. १६४४ वि. ५४. भ.आ. १३०४, १६४४ वि.

५५. भ.आ. १२८६ ५६. भ. आ. गा. १६४४ ५७. वही।

मुक्ति में करुणा : एक विसंगति

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

सर्व विदित है कि करुणा, अहिंसाधर्म का एक अंग है और करुणा को आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह का चिन्ह कहा है—मोह की सत्ता को इंगित करने का साधन कहा है। तब कर्म-रहित मुक्त आत्माओं में करुणा की पुष्टि करना, उन्हें मोह से आवृत मानना, आसन्न-युक्त मानना कहाँ का न्याय है? ऐसे में मुक्त और संसारियों में अन्तर ही क्या होगा?

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

‘अट्ठे अजघागहणं, करुणाभावो य तिरिय मणुएसु।

विसएसु च पसंगो, मोहसेदाणि लिगाणि ॥’

प्रवचनसार ८५

पदार्थ का अयथार्थ ग्रहण और तिर्यच-मनुष्यों के प्रति करुणा का भाव तथा विषयों का प्रसंग (इष्ट विषयों में प्रीति और अनिष्ट विषयों में अप्रीति) ये तीनों ही मोह के चिन्ह—मोह के अस्तित्व को इंगित करने वाले हैं।

‘अर्षानामपयातथ्य प्रतिपत्त्या, तिर्यङ्मनुष्येषु प्रेक्षाहे-
वपि कारुण्य बुद्ध्या च मोहमभीष्ट विषय प्रसंगेनराग-
मभीष्ट विषयप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिलिङ्गैरधिगम्य क्षणिति
संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः।’

—प्रब० सा० तत्त्वदीपिका ८५

पदार्थों की अयथातथ्यरूप प्रतिपत्ति और प्रेक्षकभाव-योग्य तिर्यचोमनुष्यों में करुणाबुद्धि तथा इष्ट विषयों की आसक्ति से राग और अनिष्ट विषयों की अप्रीति से द्वेष उक्त तीनों चिन्हों से मोह की पहिचान कर मोह को (संभावित भी जानकर) तुरन्त त्याग देना चाहिए।

उक्त गाथा की तात्पर्यवृत्ति में तो आचार्य ने शुद्धा-
त्मोपलब्धि में करुणा को संयमभाव से विपरीत यानी
असंयमभाव तक कह दिया है। तथाहि—

‘शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षा, संयमाद्विपरीतः
करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया
अभावः’।

—ता० वृ० वही

उक्त तथ्य होते हुए भी यदि कोई मुक्त आत्माओं में करुणा के अस्तित्व को स्वीकार करता है तो हम उसके पक्षपाती नहीं और ना ही हम उसे मूल आगम-रक्षक मानने को तैयार हैं।

जैसा कि हम पहिले से लिखते रहे हैं कि हम मूल आगम को प्रमाण मानते हैं, भाषान्तरों की प्रामाणिकता में हमारी सद्मति नहीं, कुछ भाषान्तर सिद्धान्तघातक भी हो सकते हैं; और कुछ जनसाधारण की समझ से बाहर भी। गत दिनों किसी ने हमारा ध्यान एक पोस्टर की ओर खींचा, जिसे पढ़कर हम अवाक् रह गए। पोस्टर में प्रवचन का विषय छाया था—‘करुणा आत्मा और परमा-
त्मा का सभाव है।’ जब हमने छानबीन की तो पता चला कि उक्त शीर्षक का आधार एक श्लोक का भाषा-
रूपांतर है, जिम्ने पोस्टर छानने वालों को भरमा दिया। पाठकों की जानकारी के लिए हम उसे यथावत् दे रहे हैं। प्रसंगमुक्त जीव का है। वहाँ कहा गया है—

‘जानत पश्यतश्चोर्त्तव, जगत्काव्यतः पुनः।

तस्य बन्ध प्रसंगो न, सर्वसिद्धिरिक्षयात् ॥’

भाषान्तरकार का अर्थ—‘मुक्तजीव मुक्त होने के बाद भी करुणा पूर्वक जगत को जानते तथा देखते हैं, पर इससे उनके जंघ का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि उनके सर्व प्रकार के आचरणों का पूर्णरूप से क्षय हो चुकता है।’

विचारना यह है कि क्या उक्त अर्थ पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द और समस्त जैन आगम मुक्त आत्मा में ठीक है? जबकि कुन्दकुन्द करुणा को मोह का चिन्ह मान रहे हैं और समस्त जैन आगम मुक्त आत्मा में कर्मों का सर्वथा अभाव मान रहे हैं। श्लोक में मुक्ति में सर्व आसन्न-क्षय होने का स्पष्ट निर्देश होने से यह भी सिद्ध होता है कि करुणा को मोह का चिन्ह मानने पर ‘करुणापूर्वक’ अर्थ की संगति नहीं बैठती, क्योंकि जहाँ करुणा है वहाँ आसन्न और बन्ध दोनों ही अवश्यभावी हैं। फलतः—

उक्त भाषान्तर से तो ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे भाषान्तरकार की दृष्टि मूल जैन सिद्धान्त को ओझन कर मरल अन्वय और शब्दार्थ पर ही केन्द्रित हो गई हो। स्मरण रहे—आगम का अर्थ करने की कृष्ण सीमाएं हैं। जहाँ मूल-सिद्धान्त का व्याघात होता हो, वहाँ दविड-प्राणायाम करना पड़ता है और शब्द, अर्थ तथा फलितार्थ में पर्वपर मोचना पड़ता है तथा ऐसा अन्वयार्थ करना होता है जो सिद्धान्त का घात न करे। जबकि ऊपर के भाषान्तर से समस्त जैन-सिद्धान्त का ही घात हो गया है। यदि अजैनों—मान्य ईश्वर की भांति जैन-मान्य परमात्मा में भी करुणा की कल्पना की गई, तो हममें मन्देह नहीं कि कालान्तर जैन-परमात्मा में भी जगत्कर्तृत्व, कर्मफलदातृत्व और मुक्ति में पुनरावृत्ति के चक्कर में पड़ जाएंगे। अर्थों की भांति वे भी करुणा-वश सब कुछ करने लगेंगे, आदि।

श्लोकवाचिक में शंका उठाई है कि मुक्त आत्मा करुणा पूर्वक जानते-देखते हैं तो उनके पुनः बन्ध होगा? आचार्य कहते हैं कि उनके सर्व आत्मियों के क्षय होने से पुनः बन्ध नहीं होता। यह भी स्पष्टीकरण देने हैं कि वीतराग में स्नेह की पर्याय रूप करुणा की असंभावना है***। तथाहि—

‘पुनः प्रवर्तनप्रसंगो जानतः पश्यतश्च कारुण्यदिति चेन्न, सर्वास्रव परिक्षयात्। वीतरागे स्नेहपर्यायस्य कारुण्यासंभवाद्भक्ति स्पृहादिवत्।’ —त० श्लो० वा० १०।४.

इसी प्रसंग को राजवाचिक में ऐसे उठाया गया है—
‘स्यादेतत्—व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेषं जानतः पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते ततश्च बन्ध इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वास्रवपरिक्षयात्। भक्ति स्नेहकृपा स्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्गीतरागे न ते सन्ति इति।’ राज० वा० १०।४।५

यदि शंकाकार को ऐसी सम्भावना हो कि व्यसन समुद्र में डूबे समस्त जगत को जानते देखते हुए मुक्त जीवों को करुणा उत्पन्न होगी और उससे उसे बंध होगा? आचार्य समाधान करते हैं कि ऐसी बात नहीं है; (उनके न करुणा होती है और ना ही बंध होता है), क्योंकि उनके सब आत्मियों का क्षय हो गया है, और भक्ति, स्नेह, कृपा, स्पृहा आदि सब राग रूप विकल्प हैं और ये सभी विकल्प वीतरागी में नहीं हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जैसे व्यवहार में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं की वैभाविक—कर्मोदयजन्य होते हुए भी जीव की स्वाभाविक संज्ञाएं कह दिया गया है अथवा जैसे गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि मार्गणाओं को जीव की कह दिया गया है—कोई भी संसारी जीव क्यों न हो सब में ये सब होना स्वाभाविक हैं। और ये सब कथनी संसारी जीवों के लिए और संसारियों में है। वैसे ही आगम में करुणा को वैभाविक होते हुए भी कही-कहीं जीव का स्वभाव कह दिया गया है। पर, यह सब संसारी जीवों तक ही सीमित व्यवहार है। वास्तव में तो करुणा मोहनीय के क्षयोपशम में और अकरुणा मोहनीय के उदय से होती है। यह सब अपेक्षा-भाव के कारण हैं, जब कि शुद्ध-स्वभावी मुक्त आत्माओं में अपेक्षा का सर्वथा अभाव है। यह भी स्मरण रहे कि मूल-स्वभाव सदा पर-निरपेक्ष और सदाकालभावी होता है और विभाव पर-सापेक्ष और सीमित काल भावी होता है और संसारी जीवों में ही होता है।

ये हम इसलिए लिख रहे हैं कि पाठक कहीं धबला १३-५-५ पृष्ठ ३६२ पर आए व्याख्यान ‘करुणाएजीव-सहावस्स’ से ऐसा न मान लें कि करुणा आत्मा और परमात्मा का स्वभाव है। यह उक्त कथन तो संसारी जीवों की मार्गणाओं के व्याख्यान प्रसंग में है और संसारी-जीवों के लिए ही है मुक्तात्मा के लिए नहीं।

प्रश्न होता है कि क्या जीव और आत्मा की परिभाषा जुदा-जुदा है? हाँ, वास्तव में जीव शब्द व्याप्य (मात्र संसारियों तक सीमित) है और आत्मा शब्द व्यापक है। जीव-शब्द कर्म-सत्ता की अपेक्षा मात्र तक सीमित है। जब तक जीवन है, आयु है, प्राण है तब तक इसे जीव कहने का व्यवहार है, पर मूल में तो वह आत्मा ही है। जब इसका संसार से (आयु, प्राण, जीवन से) छुटकारा हो जाता है इसे शुद्धात्मा या ‘परमात्मा’ कहा जाता है। कहीं भी इसे परमात्मा के बजाय ‘परम जीव’ नाम से संबोधित नहीं किया गया। यदि कहीं कर भी दिया गया हो तो उसे व्यवहार कथन ही समझना चाहिए और ऐसा सब अभ्यास दशा से ही हुआ है। कहा भी है—‘आद्य पमाणं जीविदं नाम’ अर्थात् आयु के प्रमाण का नाम

जीवित है। जहाँ तक आयुर्वर्त्म है वहाँ तक जीव, जीवन या जीवित निर्देश है।

जीव और आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में ध्वला पुस्तक १४, ५, ६, १६ पृ० १३ में जो प्रसंग शंका-समाधान द्वारा उठाया है वह दृष्टव्य है। वहाँ जीवत्व को औदयिकभाव तक कह दिया है। तथाहि—

‘सिद्धा ण जीवा जीविदपुच्चा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे ? ण, उवयारस्स सच्चत्ताभावा-
दो। सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुव वत्तीदो जीवत्तं ण पारि-
णामियं किंतु कम्मविवागजं……। तत्तो जीवभावो ओद-
इओ ति सिद्धं।’

—सिद्ध जीव नहीं है, जीवित पूर्व है।

शंका—सिद्धों के भी जीवत्व स्वीकार क्यों नहीं किया जाता ?

समाधान—नहीं, सिद्धों में जीवत्व उपचार से (कहा) है (और) उपचार को सत्य मानना ठीक नहीं। सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता। इसलिए जीवत्व पारिणामिक भाव (स्वभाव-भाव) नहीं है किन्तु कर्मोदय जन्य है……। इसलिए ‘जीव’ (ये) भाव औदयिक है, ऐसा सिद्ध है।

ध्वलाकार ने सिद्धान्त को सुरक्षित रखने की दृष्टि से इस बात को भी खोला है कि तत्त्वार्थ सूत्र में जिस जीवत्व को पारिणामिक भाव कहा है, वह (सांसारिक) प्राणों पर आधारित न होकर आत्मा के चेतना गुण को लक्ष्य कर ही कहा है। भाव ऐसा है उनकी दृष्टि व्यवहार प्ररूपित जीव पर न होकर व्यापक शब्द आत्मा के चेतन गुण पर ही रही है। तथाहि—

‘तच्चत्थे जं जीवभावस्स पारिणामियत्तं परुबिदंत्तं पाण
धारणत्तं पडुच्च ण परुबिद किंतु चेतनगुणमवतंविद्य तत्थ
परुवणा कवा।’ ध्रुव० पु० १४।५।६।१६ पृ० १३

उक्त सभी तथ्यों के प्रकाश में हमें सोचना होगा कि हम ‘मूल’ की सुरक्षा को बढ़ावा दें या भाषान्तरों के प्रचार का सम्मान करें। हमने तो ऐसा देखा है कि कहीं-कहीं अर्थकर्ता अपने भाषान्तर में पद के पद बिना अर्थ के ही छोड़ देते हैं, इससे पाठक वास्तविकता से अज्ञान रह जाते हैं जैसे हमने एक गाथा का अर्थ इस भांति देखा है जो अधूरा है—

‘गोम्मट सगहसुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मटं रइयं।

कम्माण णिज्जरट्ठं तच्चट्ठवधारणट्ठं च ॥

जो यह गोम्मटसार ग्रंथ का सग्रहरूप सूत्र है वह श्री वर्धमान नामा तीर्थंकर देव ने नयप्रमाण के गोचर कहा है और वह ज्ञानावरणादि कर्मों की निर्जरा के लिए तथा तत्त्वों के स्वरूप का निश्चय होने के लिए जानना चाहिए।’

उक्त अर्थ में ‘गोम्मट देवेण गोम्मटं रइयं’ का मूल अर्थ छाड़कर, गाथा में अनिर्दिष्ट शब्दों का अर्थ ‘श्री वर्धमान नामा तीर्थंकर देव ने नय प्रमाण गोचर कहा है’ जोड़ दिया है।

इस प्रकार की विसंगतियाँ इकट्ठी न हो और मूल आगम सुरक्षित रह, इस दृष्टि से हम यद्वा-तद्वा रूप भाषान्तरों के अनुकूल नहीं। हम तो एस सिद्धान्तज्ञा के निमोण के पक्ष में ह जा भविष्य में मूल-आगमों को सुरक्षित रखकर मूल अर्थ का सही प्रतिपादन कर सकें। उक्त प्रसंग में ऊपर आए ‘जानत. पश्यतश्चोर्ध्व’ श्लोक का आगमानुकूल अर्थ भी सोचिए ! हम तो इतना ही प्रार्थना करग कि—

‘देवदेवस्य यश्चक्र, तस्य चक्रस्य या प्रभा।

तयाच्छादित सर्वाणि, विद्वासाध्वन्तु मागमम् ॥’

तीर्थंकर समूह की ज्ञानप्रभा से जिसका सर्वाङ्ग आच्छादित है, एस आगम की विद्वद्गण हत्या न करे।



पतन का कारण : परिग्रह

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

आज विश्व संव्रस्त है, चारों ओर आपा-धारी, मारामारी की भरमार है। भले ही शाकाहारी-पशु मिल-बाँट कर खा लें यह संभव है। पर, यह कदापि संभव नहीं कि अभक्ष्य-भक्षी मानवरूपी क्रूर दानव मार-घाड़ और छीना-झपटी से विराम ले सके, जबकि साधारण और शाकाहारी व्यक्ति भी परिग्रह लालसा और एक छत्र राज्य की चाह में दूसरे के अस्तित्व को ही समाप्त करने की चाह में देखे जाते हैं। आज इस विसंगति को दूर करने के लिए अहिंसा, कठ्णा, दया जैसे पुण्यों के संचय और हिंसा, निर्दयता तथा क्रूरता जैसे पापों के परिहार पर जोर दिया जा रहा है, चारों ओर मासाहारी और शाकाहारियों द्वारा इनके प्रचार की धूम मची है। किसी अंश में मासारिक-निविधन जीवन के लिए यह शुभ संकेत है। हम चाहते हैं—लोगों का ध्यान और भी गहराई पर जाए और वे इस अनर्थ ताण्डव की जड़ को पकड़ें। जब तक इसके मूल पर प्रहार नहीं किया जाता, आत्म-तोष और पर—परिग्रह-संचय की मर्यादा नहीं बांधी जाती, परिग्रह-निर्वृत्ति को लक्ष्य नहीं बनाया जाता तब तक चाहे जैसी भी, जितनी भी शोर मचाएँ—सुख-शान्ति सर्वथा ही असंभव है।

हम कहते रहे हैं कि सब पापों का मूल परिग्रह है। जैन-तीर्थंकरों ने दिगम्बर—निष्परिग्रही होकर ही सर्व-पापों के परिहार-रूप धर्म का मार्ग प्रशस्त किया। हम यह मानने को कदापि तैयार नहीं कि परिग्रह के होते हुए अन्य कोई व्रत अणु या महाव्रत रूप में पूर्णता को प्राप्त हो सकता हो। यदि ऐसा संभव होता तो वस्त्र या राग-द्वेषरूप परिग्रह की बढ़वारी में भी ग्रहिणा, सत्य आदि महाव्रतपूर्ण फलित हो जाते और सबस्त्र धातक भी महाव्रती बन सकते थे—परिग्रह में भी मुक्ति हो जाती; पर, ऐसा नहीं है। इसी भाँति आज दुनियां में जो अनर्थ हैं और जो गहिले होते रहे हैं वे सब परिग्रह-भावना के ही फल हैं।

उन अनर्थों को अपरिग्रह धर्म के प्रचार से ही दूर किया जा सकता है। लोगों की विस्तार-लालसा जैसे जैसे म्यून होती जायगी वैसे वैसे उन अंशों में सुख-शान्ति होती जायगी। क्या कहें? आज महान परिग्रही व्यसनसेवी व्यक्ति तक अहिंसा का नारा लगाकर दूसरों को जगाने का दम्भ भरने में लगा है। राज-चोर भी अधिक पूजा-पाठ और अधिक स्वाध्याय में लीन तक देखा जाता है; पर, इससे उसके चोर-कर्म या संचय-भाव में शायद ही कोई कमी आती हो। दूसरे शब्दों में वह पराए-अंश को आत्मसात् करने के कारण पर-दुखदायी होने से महान हिंसक भी है। नीतिकारों ने कहा है—जैसे शुद्ध जल से सागर नहीं भरते वैसे कोई एक व्यक्ति भी शुद्ध-न्याय-नीति से उपाजित धन से धनी नहीं हो सकता। अति परिग्रही बनने के लिए ही अनेक पाप-पुंजों के साधन अपनाने पड़ते हैं; फिर भी खेद है कि यह मानव अपने में समाहित दानवपन छोड़ने के लिए मूल-अपरिग्रह धर्म को नहीं अपनाता। अपितु अपनी दानवता को छुपाने के लिए भ० महावीर की अहिंसा आदि जैसे बचकाने नारे लगाकर अन्य लोगों को भरमाता है और स्वयं में महान हिंसक बना रहता है, झूठ बोलता है, चोरी आदि दुष्कर्म करता रहता है। यहाँ तक कि कई लोग बाह्य छोड़ने का दिखावा कर परांपरों के उपकार के बहाने धन के सग्रह में लगे तक देखे जाते हैं। हालाँकि उद्देश्य की पूर्ति होना, न होना भवितव्याधीन है। हाँ ऐसे लोग परोपकार के बहाने प्रत्यक्ष में अपना अपकार अवश्य कर लेते हैं। वे स्वयं भगवद् भजन से वंचित रह जाते हैं। कहा भी है—

‘आए थे हरिभजन को ओटन लगे कपास।’

वर्षों पहिले एक चर्चा के मध्य हमने काशी में चन्दा इकट्ठा करने वाले, भभूतघारी एक गैरक संन्यासी से कहा—महाशय, जब आपने गैरकबाना धारण कर भगवद् भजन का श्रेय बना लिया, तब आपको पराई चिन्ता का

प्रश्न ही कहाँ रह गया ? जो आप घर-घर, दुकान-दुकान घूमकर इस गैरक थैली में पैसा इकट्ठा कर रहे हैं। बोले—हम पैसा छूते नहीं—भवतों को ही दे देते हैं वे ही धर्मशाला का निर्माण कार्य कराते हैं—इस काम से लोगों को लाभ होगा। हमने कहा—आपने संन्यास भगवद् भजन को लिया है या धर्मशाला निर्माण कराने को ? बोले—हम कृतघ्न तो नहीं, जो प्राण-दान देने वालों का प्रत्युपकार न करें। लोग अन्नदान देकर हमारे प्राणों की रक्षा करते हैं और शास्त्रों में अन्न को प्राण कहा गया है। यदि लोग हमें अन्न न दे तो हम मर जाएंगे और तब—जिसके लिए हमने संन्यास ग्रहण किया है वह भगवद् भजन ऐसे ही रखा रह जायगा। हमने कहा—यदि प्राण रक्षा ही मुख्य है तो वह तो आप गृहस्थों में ही भली-भाँति कर रहे होंगे; संन्यासी क्यों बने ? वे बोले—हमारा जीवन चरित्र आपको मालूम नहीं है, इसी लिए आप ऐसी बातें कर रहे हैं। हम तो 'नारि मुई घर संपति

नासी। मूढ़ मुझाय भए संन्यासी।' के चक्कर में संन्यासी हुए हैं।' हमने सोचा कि आज न जाने कितने संन्यासी इस श्रेणी के होंगे ?

हमने पढ़ा है—राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) को वैराग्य तब हुआ जब उन्होंने अर्थी (मुर्दे के जनाजे) को देखकर 'अर्थ' (पदार्थ) स्वभाव का चिन्तन किया। पर, आज का वातावरण बदला हुआ है। अब तो लोग अर्थी (धनिक) को देखकर अर्थ (धन) का चिन्तन करते हैं और इसी भाव में वे धनिकों को प्रथम दर्जा देते हैं। जैसा कि नहीं होना चाहिए। हमारे जैनाचार्यों ने परिग्रह और परिग्रही दोनों से दूर रहने का सदेश दिया है। हमारे यहाँ जब परिग्रह त्याग का प्रसंग आया, तब आचार्यों ने स्पष्ट कहा कि तिल-तुल्य मात्र परिग्रह भी ससार का बीज है—अतः वही कल्याण कर सकेगा जो सब कुछ (अन्तरंग-बहिरंग) परिग्रह छोड़कर परम दिगम्बर बन जायगा और वही कर्म-बन्धन को काटने में समर्थ हो सकेगा। ●

(पृ० १५ का शेषांश)

मध्यम ग्रैवेयक सख्या कही,
पटल तीन तहं सो है सही।
विमान एक सौ सात विराजै,
देवि निसग विवर्जित राजे ॥१३८॥
ऊपर ग्रैवेयक सो है जहाँ,
पटल तीन पुनि कही तह जानि।
विमान एकानवै तहं जु वखान।
दो कर देह कही तहं जान ॥१३९॥
सागर तीस आयु अधिकाई,
अथर भेद को कहै बढ़ाई।
नव निमतरं नो जु विमान,
एक पटल तह कहऊ प्रमाण ॥१४०॥
भर तहं डेढ़ शरीर सुख देह,
सागर इकतीस आयु तहं लेह।
पषराग मय छबि तह लीन,
पंचपंचोत्तरे कहऊ प्रवीन ॥१४१॥
पटल एक तहं छबि अधिकाई,
पंच विमान कहै समुसाई।
सागर आयु तहां तेतीस,
कर इक देह कही जगदीश ॥१४२॥

दोहा—त्रेसठ पटल जुगन कहे, सकल सुखनि की खानि।
पुण्य जोग तै पाइए, उत्तम करनी जानि ॥१४३॥
ऊपर सोलह स्वर्ग तै, मोक्ष स्थान पर्यन्त।
ऊचो राजु एक सब, इह विधि गनि जै सत ॥१४४॥
चौपाई—अब सुनिए देविन आयु जु सही,
पल्ल पांच सोधम जु कही।
सात पल्ल ईशान बताई,
दो दो बड़स बार है जाई ॥१४५॥
सात सात पुनि ऊपर कहीजै,
सोलह पचपन पल्ल जु लही जै।
यह सक्षेप समुच्चय कही,
अन्य भेद ग्रन्थनि में सही ॥१४६॥

दोहा—कर्म विपाक सब विधि कही, सुनी जु श्रेणिक भूप।
मिथ्या धर्म जु छोड़िके, धरो धर्म दुढ़ रूप ॥१४७॥
बीतराग जिनदेव जू, सकल कीर्ति मुनि धीर।
पंडित शिरोमणिदास को, करहु कर्म सब दूरि ॥१४८॥
इति श्री धर्मसार ग्रंथे भट्टारक श्री सकल कीर्ति उप-
देशात् पंडित शिरोमणिदास विरचिते कर्मविपाक कथन
नाम चतुर्थे संक्षिप्त समाप्तः।

६८, विश्वास रोड, विश्वास नगर,

शाहदरा दिल्ली-११००३२

जरा सोचिए !

१. धार्मिक शिक्षा के कम्प्यूटर :

यह कम्प्यूटर युग है और विश्व तथा अपने देश भारत ने इस दिशा में पर्याप्त प्रगति की है। जो कार्य पहिले महीनों और सालों में पूरा किया जाता था, वह अब कम्प्यूटरों द्वारा त्वरित संपन्न कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया में समय और द्रव्य दोनों की बचत है। यद्यपि थोड़ी हानि भी है और वह है—ब्लकों आदि की छंटनी के आसार की, उनके बंकार हो जाने की संभावनाओं की। पर, सरकार बड़ी समझदार है। जब वह सरकार बनती है, तो वह प्रजा के हितों का मार्ग भी खोजेगी। यह उसका कार्य और फर्ज है; 'हमें इससे क्या लेना-देना। अस्तु।'

हम तो इस समय धर्म-क्षेत्र में बैठे हैं और धर्म की बात कर रहे हैं। स्मरण होगा कि पहिले समय में जीवन का तिहाई-अंश व्यय कर—वह भी बड़े परिश्रम से शिक्षा ग्रहण का जाती थी और फिर भी निष्णात हानि में सदह रह जाता था और वष-दो वष द्वांनग-सन्तर क चक्कर लगाकर उस सन्देश का दूर किया जाता था—तब कहीं सताप हाता था। आज तक क समा निष्णात विद्वान् बुजुर्गों का इसी मार्ग से गुजरना पड़ा है। ऐसी स्थिति और आज की स्थिति का मुकाबला करने से अब तो ऐसा स्पष्ट हानि लगा है कि वास्तव में आज धर्म-क्षेत्र में शिक्षा का साधन में कम्प्यूटर का निमाण हो चुका है। जो कार्य दीर्घकाल में सम्पन्न होता था वह कार्य अब साप्ताहिक या पाक्षिक शिक्षण-शिविरों द्वारा अल्प समय में पूरा होन लगा है। नेताओं का शब्दा में इस चमत्कार तक कह दिया जाय तो भी सन्देश नहीं! ठाक भी है वह नेता हो क्या जो कोई चमत्कार न करे। अस्तु,

हमने ऐसे कम्प्यूटराइज्ड कई शिक्षण-शिविरों को देखा है और आश्चर्यान्त—उद्घाटन से विसर्जन पर्यन्त देखा है। व्यवस्थापकों, शिक्षकों और शिक्षार्थियों को भी देखा है। हमने किसी शिक्षण-शिविर के उद्घाटन में नेताओं का स्टेज पर विराजमान देखा, उन्हें मालाएँ पहनते देखा और

'परस्पर प्रशंसन्ति' का अनुमरण करते हुए देखा। यह सब हमारे मन्तव्य के अनुकूल न हो ऐसी बात भी नहीं। परन्तु हमें दुख तब होता है जब किसी बारात में वर को पीछे फेंक स्वयं बाराती पहिले से मालाएँ पहिनने लग जायें और यश लूटने लग जायें। एक शिविर-उद्घाटन में हमने देखा कि शिविर में निमन्त्रित शिक्षक विद्वान् नीचे जन सधारण में मौन से नीचा मुख किए बैठे थे (मानो वे अपनी अव-हलता के दर्द में हों) और आयोजक तथा नेता ऊँची स्टेज पर विराजमान थे। हमारा शिर शर्म से नीचे झुक गया। एक शिक्षक ने हमें इसका इशारा भी किया। इससे ऐसा न समझे कि हम किसी के सम्मान के पक्षपाती नहीं। हम सम्मान देना चाहते हैं पर लक्ष्मी से पहिले सरस्वती को। और ऐसा करना-देखना हमारी धर्मानयो और रक्त में समाया हुआ है। हम तब भी पीड़ा होती है जब कोई विद्वान् व्याक्त कभी अमुक किसी धन या धनों का सम्मान न करे; उसका खुशामद करे। यतः हमारी दृष्टि में सम्मान और खुशामद दोनों क्रमशः उठे और गिरे, दो भिन्न स्तर हैं।

हाँ, तो कम्प्यूटर की बात है। हम तो ऐसे शिक्षण-सत्रों का कम्प्यूटर और कम्प्यूटर तैयार करने की फँकटरी हो कहेंगे, जिनसे अल्पकाल में ही शिक्षक रूपी-कम्प्यूटर नए कम्प्यूटरों का तैयार करते हैं और तैयार नये कम्प्यूटर अन्य नए कम्प्यूटरों का। इनसे एक लाभ यह भी होगा कि हम स्वयं आचार-विचार पालकर बच्चा का कोई आदर्श उपस्थित करने के कष्ट से छुटकारा भी मिलेगा रहेंगा कम्प्यूटर, कम्प्यूटरों का निमाण सस्ते में ही करते रहेंगे। अस्तु; इस विषय में हम तो बाद में लिखेंगे। पहिले आप ही साँचिए, कि यह उपाय धर्म-शिक्षा में कितना कारगर रहेगा? कहीं ऐसा तो नहीं कि जैसे सरकारी कम्प्यूटर कभी-कभी प्रायः गलत बिजली बिल बनाते हैं, वैसे अध-कचरे धर्म-कम्प्यूटर जैन धर्म की गलत तस्वीर खींच धर्म को विकृत करने में सहायी सिद्ध हो। सोचिए

इससे ऐसा भी न समझें कि हम सत्रों के प्रतिकूल हैं, अर्थात् हम तो चाहते हैं—मत्र लम्बे चलें। जिन्हें समय हो उनके रंगूल चलें। हमें खशी होगी। यदि कुछ प्रशिक्षणार्थी लम्बे समय तक, निगमित 'वीर सेवा मन्दिर' का सहयोग लेने की दिशा में मोचें। वीर सेवा मन्दिर उनके शिक्षण की संपत्ति ठानेगा ऐसा हमारा विग्रह है। कपरा वम संबंध में मोचें और 'महासचिव' से संपर्क कर मार्ग प्रशस्त करें।

एक बान और समान में चारों ओर जोर है कि विद्वान नहीं मिलने। इसलिए भी शास्त्र धर्म पढ़ाने के लिए शिक्षक तैयार किए जा रहे हैं। बड़ी खशी की बान है कि काम आगे बढ़े और सभी जगह कल न कल धार्मिक शिक्षा चलनी रहे। स्कूलों में अन्य विषयों के अध्यापकों को शिक्षित कर उन्हें अनिश्चित अल्पराशि देकर काम चलाया जाने की स्कीम ठीक हो। पर इस पर मोचने हैं कि कभी ऐसा न हो जाय कि हमसे हिन्दी स्कूलों में जमे हुए धार्मिक शिक्षण विद्वानों को जानि पढ़ानी पड़ जाय। क्योंकि यह अर्थ-युग है, हर व्यक्ति पैसा उगादा चाहता है, और देने वाला भी पैसा बचाना चाहता है। ऐसे में सही विद्वानों को कौन रखेगा? जब उसे मन्त्र में शिक्षक मिलने हों। इस दिशा में यदि प्रवन्धकों की दृष्टि सही रहे और वे विद्वानों को (जो जहां हैं) जमे रहने दें और पहिले पूर्ण निष्ठा विद्वानों को स्थान दें और पैसा का लोभ न करें तभी ठीक होगा। अन्यथा, अर्थ की दृष्टि में संकुचित लोग, पैसा बचाने के छयाल में, लगे हुए विद्वानों तक को जवाब देकर यह नारा और बलन्द न कर दें कि—विद्वान मिलने ही नहीं हैं। आगे क्या होगा इसे तो हम नहीं जानते, समय ही बतायेगा कि विद्वानों को ठोकरें खानी पड़ेगी या उनका सम्मान रहेगा या धर्म की पढाई ठीक चलेगी भी या नहीं? हों सकता है कही ये धर्म-वृद्धि के सस्ते बहाने, धर्म-हास का ही श्रीगणेश न हो! जरा सोचिए।

२. अपरिग्रह ही क्यों?

ऊँचे स्वर में अहिंसा का जयकारा देने वाले तथा अपनी सत्यवादिता, ईमानदारी और सुशीलपने का दावा करने वाले किसी व्यक्ति के घर चोरी हो जाय, डाका पड़ जाय, या कोई आयकर अधिकारी व विक्रीकर अधिकारी

छाया डाल दे, तो ऐसी घटनाओं के घटन को आप उस व्यक्ति का दुर्भाग्य कहकर घटना के सूत्रधार चोर, डाकू व सम्बन्धित राज्याधिकारियों को कोमेंगे तथा जिसके साथ ऐसी घटनाएँ घटी हों उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करेंगे। ऐसा क्यों? इसीलिए न कि वह आपका हमसफर है—आप भी उसी श्रेणी के हैं जिसमें रहकर वह लोगों में जीवित है। आप सोचते हैं कि कल को हमारे साथ भी ऐसी ही घटना हो सकती है। हम सब एक ही धनी के चट्टे-बट्टे ही तो हैं। यदि नहीं ऐसा हमारे साथ घट गया तब हमें कौन पड़ेगा? कोई साम्बना भी न देगा और न कोई हमारी सहायता ही करेगा। वम, आप उसके हमदर्द हो जाते हैं।

अब जरा संबंधित व्यक्ति की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए। गद्यविद्वद अहिंसा का प्रचारक, सत्यवादी, लोगों में प्रामाणिक और सदाचारी भी है फिर भी उसके छापा पड़ गया, चोरी हो गई। इसमें आप आश्चर्य न करें क्योंकि अहिंसक सत्यवादी आदि के साथ ऐसी घटनाओं का कोई विरोध नहीं—अहिंसक सत्यवादी, प्रामाणिक और सदाचारी व्यक्तित्व में घन हो सकता है और घन होने पर चोरी भी हो सकती है, डाका भी पड़ सकता है और छापा भी पड़ सकता है। हां यदि उसके पास धन (परिग्रह) न होना तो ऐसी जीवन की संभावना से अवश्य बचा जा सकता था। और इसी धन आदि पर-वस्तु को हम परिग्रह के नाम से संबोधित कर रहे हैं। जो समस्त संकटों का कारण बनता है।

शायद आप हमारी दृष्टि से सहमत हो सकें, इसीलिए हम उसका संकेत दे रहे हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि कोई भी व्यक्ति हिंसा आदि पाप करने को कब और क्यों मजबूर होता है? वह हिंसा आदि पाप तभी करता है जब उसमें मिथ्यात्व, क्रोध-मान माया, लोभ की मात्रा हो और इनकी मात्रा तभी होगी जब उसमें राग-द्वेष हों और राग-द्वेष के कारण ही उसमें हास्य, रति-अरति, शोक भय, जुगुप्सा और वेद भी होंगे। इन सभी बातों को जैन-दर्शन में अन्तरंग-परिग्रह कहा गया है और इन्हीं के कारण बहिरंग-परिग्रह की तर-तम मात्रा भी होती है। अतः सब पापों का मूल-परिग्रह है ऐसा मानना चाहिए और पंच-

परमेष्ठी का पद भी परिग्रह के बिना अर्थात् अपरिग्रह में ही होता है। कोई भी परिग्रही, परमेष्ठी पद में नहीं पहुँचा और कोई भी परिग्रही अन्य चार पापों का त्याग भी पूर्ण न कर सका। फिर भी आश्चर्य है कि लोग अहिंसा को ही बढावा क्यों दे रहे हैं और अहिंसा के मूल अपरिग्रह की उपेक्षा कर रहे हैं ?

आए दिन घटनाएँ घट रही हैं। एक जैनी ने किमी परिवार के आठ सदस्यों को मोन के घाट उतार दिया। अमुक किसी अन्य ने मंदिर से लाखों की चोरी कर ली और किसी ने किमी राजकीय कार्यालय में जाकर वहाँ के स्टाफ के साथ अभद्र व्यवहार किया। इन सभी काण्डों की जड़ में हिंसा की भावनाएँ प्रमुख नहीं थीं अपितु ये सब घटनाएँ परिग्रह को लेकर घटित हुईं। परिग्रह की लालसा ने हत्या कराई, परिग्रह की लालसा ने चोरी कराई और तीव्र-राग, तीव्रकषाय व मूर्च्छा रूपी परिग्रह ने ही अभद्र व्यवहार की प्रेरणा दी।

जैन आगमों में जहाँ जो और जितना भी उपदेश है, सभी मोह रूपी परिग्रह के त्याग पर विशेष बल देने के प्रसंग में है और मोहनीय कर्म आठों कर्मों का राजा है। इसी कर्म के उदय से सब पाप होते हैं। मोह को हम मूर्च्छा भी कहते हैं और मूर्च्छा ही परिग्रह है। इस मोह की महिमा त्रिचित्र है। यदि किमी का भाई, भनीजा या बेटा कुव्ययनी है और वह संकट में है तो मोह ही संरक्षकों को उसकी बुराइयों को छिपाकर, उसकी सहायता और उपचार में लाखों-लाखों द्रव्य व्यय करने को मजबूर करता है। कहीं-कहीं ऐसी कुव्ययनी, क्लेशकारी और अबहेलना करने वाली सन्तान को भी मरता-पिना आदि छाती से लगाकर रखते हैं और स्वयं संकट मोन लेते हैं। जब कि धार्मिक जगन की दृष्टि में वे सभी त्याज्य होते हैं। भला, पापी में अपनापन कैसे न्याय्य हो सकता है ? तत्वज्ञ की दृष्टि में जो बुरा है वह बुरा ही है—हेय है। यदि मानव ऐसा दृढ़ हो और ऐसे में मोह—परिग्रह को जड़-मूल से काटने का यत्न करे तो वह शेष चारों पापों का सहज ही परिहार कर सकता है। पर, दिक्कत यह है कि हम मोही ने परिग्रह की चाह में अहिंसा आदि को संग्रह का मार्ग बना रखा है। आज अहिंसा का नारा देने वाला कहीं

अधिक परिग्रही भी हो सकता है—अपेक्षाकृत जन-साधारण के। आज अधिक परिग्रही (यदि वह मोही है तो) दया के नाम पर अधिक दानी बनकर लोगों में यश लट्टने और दूसरों पर अपनी थोपी निःस्वार्थता की धाक जमाने की कोशिश करे तो भी आश्चर्य नहीं। ऐसा मनुष्य अवसर बिना चूके अनकल समय आने पर आने घन और यश के भण्डार भरता गढ़े तो भी कोई बड़ी बात नहीं।

वे दानी, जो परिग्रह-त्याग के भिम किसी अनुष्ठान या किमी निर्माण आदि के निमित्त लाखों-हजारों का दान देते हैं। क्या वास्तव में वे सभी स्व-द्रव्य का सही मायनों में उत्तमग करने हैं ? क्या सभी दान की परिभाषा जानते हैं ? या सभी को धर्म में उपादा लगाव होता है ? नहीं। हाँ, कुछ लोग जानने वाले होने होंगे। अधिकांश में कोई देखा-देखी, कोई लिहाज या शर्मा-शर्मी ही देने होंगे। उनमें भी अधिकांश यश के लिए पैसा देने हों या कोई अकाम-निर्जरा जैमी करने हों तब भी आश्चर्य नहीं। ये सभी चिह्न परिग्रह के हैं और इनसे पर-वस्तु के प्रति अपनत्व ही पृष्ठ होता है—छूटता कुछ नहीं। और जब तक पर से छुटकारा नहीं होता तब तक जिन या जैन नही बना जाना। फलतः जैन बनने के लिए हमें मन-वचन काया से सही मायनों में परिग्रह का त्याग करना होगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कोई भी बन नहीं पल सकता और ना ही जैन सुरक्षित रह सकता है—यह निश्चय समझिए।

३. कुन्दकुन्द भारती : एक श्रम्युवय :

जैन मुनि और जैन श्रावकों में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम बड़ी आदर-भक्ति से लिया जाता है और शास्त्र प्रवचन से पूर्व सभी उन्हें मंगल रूप में स्मरण करते हैं। आज दिगम्बरों में धर्म-विषयक जो और जितना ज्ञान, आचार विचार है वह सब भी कुन्दकुन्द आम्नाय की देन कहा जाता है। शास्त्र पढ़ने से पूर्व सभी लोग 'मंगलं कुन्द-कुन्दायो' तथा 'कुन्दकुन्दाम्नायी विरचित' आदि बोलते हैं। आज भी कुन्दकुन्दाचार्यकृत शास्त्रों के अपूर्व भण्डार हैं केवल उन्हें पढ़ने और तदनुरूप आचरण करने की आवश्यकता है; बिना इनके लोग भटक रहे हैं। हम आशा करें कि कुन्दकुन्द-भारती इन प्रसंगों की भटकन को दूर करेगी।

स्मरण रहे कि कुछ वर्षों पूर्व मुनि श्री विद्यानन्द जी का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने 'कुन्दकुन्द-भारती' नामक सस्या की योजना बनाई। उनकी भावना रूप आज दिल्ली में विशाल-भवन तैयार है और भावी कार्यक्रम के लिए अर्थ-संग्रह भी मुनि श्री के लिए साधारण सी बात है। हम आश्वस्त हैं कि इस दिशा में मुनि श्री का लक्ष्य पूरा होगा।

रही बात कुन्दकुन्द कृत आगमों के शुद्ध रूप में विधिवत् सृजन, पठन-पाठन और तदनु रूप आचरण की। सो मुनि श्री की लगन से ये विधियाँ भी सहज संपन्न होंगी। ऐसा हमें विश्वास है। हाँ, हमें इतनी चिन्ता अवश्य है कि जैनियों में विद्वान् कहाँ मिलेंगे? पर, हम आश्वस्त भी हैं कि जब महावीर भगवान के समय में कोई जैन न मिला तो गौतम ब्राह्मण ने जैनी दीक्षा लेकर मार्ग प्रशस्त किया—शर्त जैन होने की जरूरी थी और वह इस लिए कि बिना तद्रूप श्रद्धान और आचरण के इस धर्म का प्रकाश करना सर्वथा असंभव था और वह बधन अब भी यथावत् स्थित है। अस्तु, जब महाराज श्री की इतनी लगन है तब वे कुन्दकुन्द के अनुरूप जैनी-नीति, जैनाचार अनुसर्ता, जैनत्व में दृढ़ कोई पात्र खोज चके होंगे या उनकी दृष्टि उधर जमी होगी ऐसा हमें विश्वास है। हम सस्या के अभ्युदय की कामना करते हैं। —सपादक

ज्ञान-स्तम्भ को नमन :

दुखद-समाचार मिला, एक स्तम्भ गिरने का—श्री पंडित मूलचन्द्र शास्त्री, श्री महावीर जी वाले नहीं रहे। वे विद्वत्ता के गौरव थे और सभी भाँति वृद्ध। हम उन्हें आयुवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और जीवनभर अभाव-वृद्ध मानते रहे

(पृ० १६ का मेवांश)

करमि सुयण संभावउ. करवल सतावउ,
हुउ कव्वमउ सरोरवि ॥ (हरि० पु० १-२)
महाकवि ने अपने पुराण को नाना पुष्प-फलो से अलंकृत और बद्धमूल महातरु कहा है। इसी प्रसंग में कवि ने आत्मविनय प्रदर्शित किया है। सज्जन-दुर्जन स्मरण और आत्मविनय के पश्चात् ही कथारम्भ होती है।

'हरिवंशपुराण' की कथा का क्रम स्वयंभू आदि प्राचीन कवियों की परम्परा के अनुकूल है। ग्रंथ में स्थान-स्थान पर अलंकृत और सुन्दर भाषा में अनेक काव्यमय वर्णन उपलब्ध होते हैं। पञ्चटिका, अलिललह, सोरठा, बत्ता, विला-सिनी सीमराज प्रभृति छंदों का प्रयोग ग्रंथ में हुआ है।

है। आर्थिक दृष्टि से भी हमने उन्हें कभी सन्तोष की साँस लेते नहीं देखा—समाज से सर्वथा असन्तुष्ट। जब भी मिलते अपनी व्यथा सुनाते। कहते—“हमने दिगम्बरों में जन्म लिया, पढ़ा-लिखा और आजीविका के निमित्त श्वेताम्बरों में भी रहे। जब कही आत्म-सन्तोष न हुआ तो अब श्री महावीर की शरण में आ पड़े। अब हमें विश्वास हो गया कि हमने दिगम्बर रूप में जन्म लिया और दिगम्बरत्व में ही कूच करेंगे।”

उपर्युक्त शब्द उनकी अन्तर्वेदना-सूचन में पर्याप्त हैं। अब समाज को सोचना है कि उसने पंडित जी की विद्वत्ता का क्या लाभ लिया और बदले में क्या दिया और ज्ञान लेने में आगे कौनसा मार्ग अपनाएगा? जरा सोचिए!

अन्तिम बार वे जुलाई ८६ में, दिल्ली चिकित्सार्थ आए और अहिंसा मन्दिर में श्री प्रेमचन्द जैन के पास ठहरे, तब मैंने उन्हें 'मुष्ति में कष्टना : एक विसंगति' लेख सुनाया, तो बड़े सन्तुष्ट हुए। उन्होंने लेख को पुनः पुनः स्वयं पढ़ा और बोले—‘आप बड़ी निर्भीकता से लिखते रहते हैं; यह लेख भी सर्वथा युक्ति-संगत और अकाट्य है।’ जब वे चले गये तो अगले दिन श्री प्रेमचन्द जैन ने मुझे एक श्लोक दिया और कहा पण्डित जी जाते जाते दे गए हैं और कह गए हैं कि इसे अपने लेख के अन्त में प्रार्थनारूप में जोड़ दें।’ हमने उसे लेख में जोड़ दिया है। फिर भी पाठको के स्मरणार्थ पुनरावृत्ति कर रहे हैं। पण्डित जी द्वारा प्रदत्त यह अन्तिम और अपूर्व निधि है।

देव देवस्य यश्वक्रं तस्य चक्रस्य या प्रभा।

तयाच्छादित सर्वाणि, विद्वांसो धनन्तु मागमम् ॥’

उक्त अमूल्य-तथ्य प्रदानता के लिए हम स्वर्गीय पंडितात्मा के प्रति नत-मस्तक हैं। —सपादक

शृंगार, वीर, कष्टना और शांत रसों का परिपाक भी उल्लेखनीय है। महाकवि ने नगर, वन, पर्वत आदि का महत्त्वपूर्ण चित्रण किया है। इस काव्यकृति में प्रकृति के उद्दीपन रूप का सुन्दर वर्णन हुआ है। मधुमास के द्वारा मदन के उद्दीप्त होने का मोहक स्वरूप प्रभावकारी बन पड़ा है।

इस प्रकार महाकवि धवल विरचित 'हरिवंश पुराण' अपभ्रंश काव्य की निरुपमेय निधि है।

मंगलकलश

३६४, सर्वोदयनगर, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००६ (ड० प्र०)

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द ।	...	४-५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	...	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	...	१५-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	...	५-५०
बवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकुण्ठ जैन	...	३-००
न्याय-दीपिका : भा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ।	...	१०-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द ।	...	७-००
कसायपाहुडमुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	...	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	...	७-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	...	१२-००
भावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया	...	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग	४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राकथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	...	२-००
मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	...	२-००
Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942)	Per set	600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्स., डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३
से मुद्रित ।

धीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० ४

अक्टूबर-दिसम्बर १९८६

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	णमोकार-महिमा	१
२.	तीर्थंकर पार्श्वनाथ की केवलज्ञान भूमि : अहिच्छन्ना— डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	समवशरण सभा के १२ कोठे —रतनलाल कटारिया, केकड़ी (अजमेर)	५
४.	नेमि शीर्षक हिन्दी साहित्य —डा० कु० इन्दुराय जैन	८
५.	महाकवि अर्हदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व —डा० कपूरचन्द जैन, खतौली	१६
६.	भगवती आराधना में तप का स्वरूप —डा० कु० निशा, बिजनौर	१८
७.	नीतिवाक्यामृत में राजकोष की विवेचना —चन्द्रशेखर एम० ए० (अर्थशास्त्र)	२३
८.	शिरोमणिदास कृत धर्मसार सतसई —श्री कुन्दनलाल जैन दिल्ली	२७
९.	जरा सोचिए : —सम्पादकीय	२९
१०.	अनेकान्त पर लोकमत—	आ०पृ० २

प्रकाशक :

धीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अनेकान्त पर लोकमत

श्री पं० फूलचन्द्र जैन सिद्धांताचार्य :

हस्तिनापुर

‘और पढ़ू या समय न मिले तो न पढ़ू, पर, आपके विचार अवश्य पढ़ता हूँ। आप हो कि किसी की चिन्ता न करके तथ्यपूर्ण लिखते हो। यह प्रवृत्ति सराहनीय है। २७-६-८६

श्री डा० जिनेन्द्र कुमार शास्त्री पी-एच. डी. :

सासनी

‘आगम और सिद्धान्त की ऐसी ऐतिहासिक खोज, बिना लाग-लपेट के प्रस्तुत करना, समाज की आंखें खोलना है। वीर सेवा मन्दिर अब सार्थक हो रहा है। समाज में अनेकान्त जैसी पत्रिका की आवश्यकता है—जिसकी पूर्ति वीर सेवा मन्दिर कर रहा है।’ २६-६-८६

डा० कच्छेदीलाल शास्त्री :

सह-सम्पादक, ‘जैन-सन्देश’ (शहडोल)

अनेकान्त मिला : आपके ‘मुक्ति’ में करुणा एक विसंगति, पतन का कारण परिग्रह, जरा सोचिए’ तीनों शब्दशः पढ़ें ? आपके तर्क एवं युक्तियाँ आगम के परिप्रेक्ष्य में भी तथा लौकिक दृष्टि से भी उचित हैं। वीतराग के करुणा कहाँ ? राग-द्वेष की तरह करुणा व कठिणता परस्पर सबद्ध है। श्री पं० मूलचन्द्र जी प्रतिभा-शाली संस्कृत कवि थे। उनके अभाव की जानकारी मुझे नहीं थी। फिर भी वे ‘विद्वानो धनन्तु मागमम्’ लिख कर दे गए। लक्ष्मी का सम्मान ही समाज करती है। सरस्वती भी लक्ष्मी का सम्मान करती है, यह आश्चर्य की बात है। आपने दो टूक बात लिखी है। ३-१०-८६

डा० ज्योति प्रसाद जैन : लखनऊ

‘आपके लेख बड़े ज्ञान-वर्द्धक, बोधक एवं सामयिक भी हैं’—चाव से पढ़ता हूँ, लिखे जाइए। ६-१०-८६

श्री पं० भंवरलाल ग्यायतीर्थ : सम्पादक-वीरवाणी, जयपुर-३

आप दिगम्बरत्व के लिए लिखते हैं—खूब लिखते हैं। वास्तविक धर्म जो जीवन में अपनाया जाना चाहिये उस पर आपकी लेखनी कमाल रखती है। मैं आपके लेखों को वीरवाणी में स्थान देने में अपना अहोभाग्य मानता हूँ। आप लिखते रहिये, भेजते रहिए। ३-४-८६

डा० नन्दलाल जैन : (रीवां म० प्र०)

श्री पद्मचन्द्र शास्त्री के माध्यम से अनेकान्त की दिशा व्यापक और विकसित हो रही है। इसके स्तर को बनाये रखने में पण्डित जी महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं—उनके स्पष्टवादी लेखों से जागरूकता आ रही है। ७-४-८६

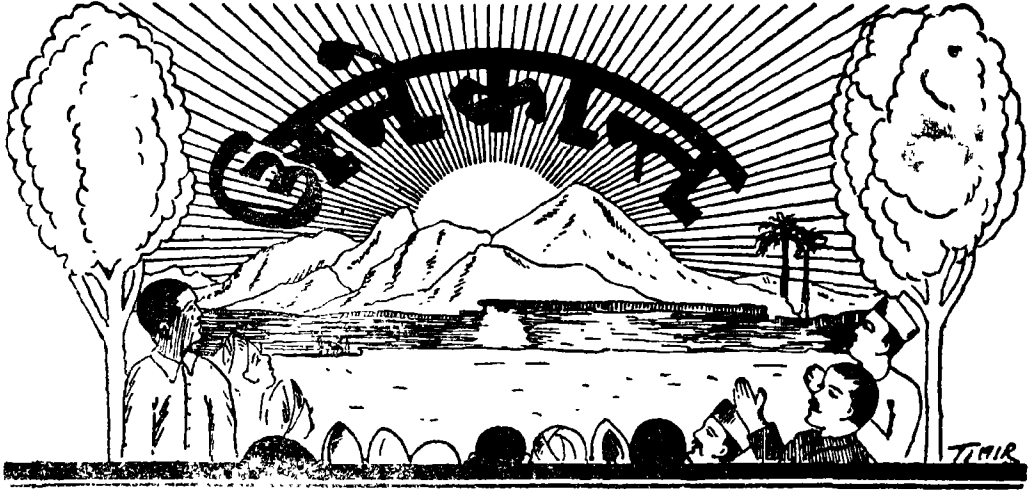
श्री पं० रतनलाल कटारिया : केकड़ी

“जानतः पश्यतश्चोर्ध्वं जगत्कारुण्यतः पुनः। तस्य बन्ध प्रसंगो न, सर्वाश्रय परिक्षयात्॥”

इसका अर्थ इस प्रकार है—

जानते देखते भी (मुक्त जीव) सासारिक करुणा से ऊपर हैं—ऊपर उठ गए हैं अतः उनके कर्म-बन्ध का पुनः प्रसंग नहीं होता क्योंकि सब आस्रवों का पूर्ण क्षय हो गया है। यहाँ ऊर्ध्व को ‘जगत्कारुण्यतः’ के साथ लगाना चाहिए। अर्थात् संसार के प्रति करुणा से ऊँचे हो गए हैं। ४-१०-८६

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमयनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६
किरण ४

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५१३, वि० सं० २०४३

{ अक्टूबर-दिसम्बर
१९८६ }

णमोकार-महिमा

घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तण्डा ।

अरिहा अग्रान्तणाणी, अणुबमसोक्खा जयंतु जए ॥१॥

अट्टविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्टसंसारा ।

दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ॥२॥

पंचमहव्वयनुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा ।

णाणागुणगणमरिया, आइरिया मम पसीदंतु ॥३॥

अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिडमाण्णा ।

भवियाणणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमादि देंतु ॥४॥

थिरधरियसीलमाला, बवगयराया जसोहपडिहत्था ।

बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥५॥

भावार्थ—सघन-घाति कर्मों का आलोडन करने वाले, तीनों लोकों में विद्यमान भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य अनंतज्ञानी और अनुपम सुखमय अरहंतों की जगत् में जय हो ।

अष्टकर्मों से रहित, कृत्यकृत्य, जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त तथा सकलतत्त्वार्थ के दृष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें ।

पंचमहाव्रतों से समुन्नत, तत्कालीन स्व-समय और पर-समयरूप श्रुत के ज्ञाता तथा नानागुण-समूह से परिपूर्ण आचार्य मुझे पर प्रसन्न हों ।

जिसका ओर-छोर पाना कठिन है, उस अज्ञानरूपी घोर अंधकार में भटकने वाले भव्यजीवों के लिए ज्ञान का प्रकाश देने वाले उपाध्याय मुझे उत्तम मति प्रदान करें ।

शीलरूपी माला को स्थिरतापूर्वक धारण करने वाले, संगरहित, यशःसमूह से परिपूर्ण तथा प्रवर विनय से अलंकृत शरीर वाले साधु मुझे सुख प्रदान करें ।

□□□

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की केवलज्ञान भूमि : अहिच्छत्रा

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

श्रमण-जैन परम्परा के तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ (ईसा पूर्व ८७७-७७७) की ऐतिहासिकता आधुनिक इतिहासज्ञों द्वारा भी प्रायः सर्वमान्य तथ्य के रूप में स्वीकृत हो चुकी है। वह काशी-वाराणसी के काश्यपगोत्री उरगवंशी नरेश अश्वसेन और उनकी सद्गमिणी वामादेवी के सुपुत्र थे। बाल्यावस्था से ही वह अत्यन्त निर्भय, शर-वीर, मेधावी एवं प्रतिभासम्पन्न, ससार-भोगों से प्रायः उदासीन, कष्टनामूर्ति एवं विन्तमशील व्यक्तित्व के धनी थे। अपने मातुल, कुशस्थलपुर (कन्नौज) नरेश के आव्हान पर एक दुर्दान्त विदेशी आक्रान्ता से उनके राज्य की रक्षार्थ राजकुमार पार्श्व वहाँ पहुँचे और उक्त आक्रमणकारी को पूर्णतया पराजित करने में सफल हुए। वही वन-विहार करते एकदा उन्होंने कतिपय हठयोगि तपस्वियों से एक मरणासन्न नाग-नागि-युगल की रक्षा की। इस घटना के परिणामस्वरूप पार्श्वकुमार का चित्त संसार से विरक्त हो गया। और उन्होंने समस्त सांसारिक बंधनों को तोड़कर, निःस्पृह, निष्परिग्रही एवं अकिञ्चन हो वन की राह ली। साधक चार मास की आत्मशोधनार्थ की गई तपः साधना के मध्य विचरते हुए कुरु जनपद की महानगरी हस्तिनापुर (गजपुर) पहुँचे। वहाँ पारणा करके, गंगा के किनारे-किनारे विहार करते हुए वह भीमाटवी नामक महावन में योग धारण कर कायोत्तम मुद्रा में ध्यानमग्न हो गए। इस अवस्था में वहाँ उन पर शबर (अपर नाम मेघमाली एवं कमठ) नामक दुष्ट असुर ने भीषण उपसर्ग किये। नागराज धरणेन्द्र और यक्षेश्वरी पद्मावती ने उक्त विविध भयंकर उपसर्गों का निवारण करने का यथाशक्य प्रयास किया। नागराज (अहि) ने भगवान के सिर के ऊपर अपने सहस्र फणों का वितान या छत्र बना दिया। स्वयं योगिराज पार्श्व तो शुद्धात्मस्वरूप में लबलीन थे; उक्त उपसर्गों का उन्हें कोई भान ही नहीं

था, बल्कि उन्हें तभी केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, वह अर्हत् जिनेन्द्र बन गए। वन के बाहर आसपास के क्षेत्रों के निवासी लोगों की अपार भीड़ वहाँ एकत्र हो गई। भगवान की अर्चना-वन्दना-स्तुतिगान हुआ। उनकी समवसरण सभा जुड़ गई और लोग उनके सर्वकल्याणकारी दिव्य उपदेश को सुनकर कृतार्थ हुए। इस पुनीत स्थल से नातिदूर भीमाटवी वन के बाहिर, उत्तर पांचाल जनपद की राजधानी पांचालपुरी, अपर नाम परिचक्रा एवं शंखावती, अवस्थित थी। इस अभूतपूर्व घटना के कारण वह स्थान ही नहीं, वह नगरी भी छत्रावती या अहिच्छत्रा नाम से लोकप्रसिद्ध हुई।

जैन पुराणों एवं पौराणिक काव्यों आदि में वर्णित तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित्र के अन्तर्गत गहन वन में ध्यानस्थ उन योगिराज पर असुर द्वारा किये गए भीषण उपसर्ग का तथा उसके निवारणार्थ नागराज धरणेन्द्र एवं पद्मावती देवी द्वारा किये गए फणच्छत्र लगाने आदि प्रयासों का और वही उनी समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्ति का सर्वत्र उल्लेख है। ११वीं शती ई० में अश्वश भाषा में निबद्ध आचार्य पद्मकीर्ति के 'पासाणाह-चरित' में तो इस घटना का अति विस्तृत एवं स्पष्ट वर्णन है। वहाँ उपसर्ग-स्थान का नाम भीमाटवी नामक महावन दिया है, जहाँ तपस्वी पार्श्व गजपुर (हस्तिनापुर) में पारणा करने के पश्चात् विचरण करते हुए पहुँचे थे, किन्तु पांचाल, शंखावती या अहिच्छत्रा नामों का कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, ११वीं शती ई० के हरिषेणीय 'बृहत्कथाकोष', प्रभाचन्द्रिय 'आराधना-मत्कथा-प्रबन्ध' तथा कई उत्तरवर्ती कथा कोषों—'पुण्यासत्र-कथाकोष', 'आराधना-कथाकोष', आदि में भी अहिच्छत्रा के पार्श्व जिनालय में पद्मावती देवी के प्रभाव से ब्राह्मण विद्वान पात्रकेसरि स्वामी के मत परिवर्तन, अर्थात् जिनेन्द्र के स्याद्वाददर्शन की श्रद्धानी

बन जाने की कथा प्राप्त है। पात्र केसरी स्वामी का समय छठी शती ई० के लगभग अनुमानित है। इसके अतिरिक्त, अ चारांग-निर्युक्ति में भी पार्श्व-उपसर्ग की घटना का प्रायः उपरोक्त पुराणों जैसा ही वर्णन है, विशेष इतना है कि उस क्षेत्र का नाम कुरुजांगल देग किया है और नगरी का नाम शखावती, जिसके निकट-कर्त्ती निर्जन वन में यह घटना घटी थी। यह भी लिखा है कि कालान्तर में उक्त स्थान में भक्तजनों ने एक उत्तम जिनालय बनाकर उसमें भगवान पार्श्व की नागफणालकृत प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी यह तीर्थ अहिच्छत्रा-पार्श्वनाथ नाम से लोक प्रसिद्ध हुआ और निकटवर्ती सखावती नगरी का नाम भी तभी से अहिच्छत्रा पड़ा। जिन प्रभूपुरि ने अपने 'विविध-तीर्थ-कल्प' (ल० १३३० ई०) के अंतर्गत 'अहिच्छत्रा नगरी कल्प' में आचारागनिर्युक्ति के उपरोक्त कथन का प्रायः अक्षरशः समर्थन किया है, साथ ही उन्होंने अहिच्छत्रा के दुर्ग एवं प्राचीर के भग्नावशेषों, कुण्डों, कूपों, वानस्पतिक महोषधियों; खनिजों, धरणेन्द्र पद्मावती समन्वित पार्श्व-जिनालय, स्तूपों, अन्य जैनार्जन देवालयों आदि का भी विस्तृत वर्णन किया है। १७वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में (ल० १६३० ई० में) पं० बनारसीदासजी ने अहिच्छत्रा की यात्रा की थी, और १७८४ ई० में कवि आसाराम ने क्षेत्र पर ही 'अहिच्छत्रा पार्श्वनाथ स्तोत्र' (भाषा) की रचना की थी। प्राकृत निर्वाण काण्ड के अतिशय क्षेत्र काण्ड में भी 'महुराए अहिच्छत्ते वीरं पास तहेव वदामि' पाठ द्वारा भगवान पार्श्वनाथ के साथ अहिच्छत्रा का सम्बन्ध सूचित किया है।

इस अहिच्छत्रा की पहचान, गत लगभग डेढ़ सौ वर्षों में विभिन्न देशी-विदेशी विद्वानों ने, ऐतिहासिक, साहित्यिक, पुरातात्विक, शिलालेखीय, मुद्रगल शास्त्रीय आदि विविध पुष्ट साक्ष्यों के आधार पर वर्तमान उत्तर प्रदेश राज्य के बरेली जिले की आंवला तहसील में स्थित राम-नगर (या राम नगर किला) नामक कस्बे के बाहर घने बन में फैले एक प्राचीन दुर्ग के अवशेषों एवं टीलों आदि से की है। कई पुरातात्विक सर्वेक्षणों एवं उत्खननों के फलस्वरूप यहां से विविध एवं विपुल सामग्री प्राप्त हुई है। लगभग दूसरी शती ई० की एक यक्ष मूर्ति पर, जो

इन खड्हरों में मिली है, स्थान का अहिच्छत्रा नाम स्पष्ट लिखा मिला है। उससे भी लगभग ३०० वर्ष पूर्व के कौशाम्बी के निकट पभोसा की पहाड़ी पर के एक गुहा-लेख से प्रकट है कि उसका निर्माण कौशाम्बी-नरेश बह-सतिमित्र के मातुल, अहिच्छत्रा-नरेश आषाढ़सेन ने वहां जाकर मुनियों के निवास के लिए कराया था—पभोसा कौशाम्बी में जन्मे छठे तीर्थकर पद्मप्रभु का तप एवं ज्ञान कल्याणक स्थल है। इससे अहिच्छत्रा एवं कौशाम्बी के तत्कालीन राजाओं का जैन धर्मानुयायी होना भी सूचित होता है। दूसरी शती ई० के अन्तिम पाद में इसी अहिच्छत्रा के राजा पद्मनाभ के दक्षिण एवं माधव नामक पुत्रद्वय ने दक्षिण देश में जाकर सिंहनन्दि के आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन में मैसूर के सुप्रसिद्ध गंगवाडी राज्य की स्थापना की थी, जो साधक एक सहस्र वर्ष पर्यन्त स्थायी रहा जिसमें जैन धर्म की प्रवृत्ति प्रायः निरन्तर बनी रही। गुप्त सम्राट समुद्र गुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से प्रकट है कि चौथी शती ई० के पूर्वार्द्ध में अहिच्छत्रा का राजा अच्युत नाग था। तदनन्तर गुप्तों आदि के सामन्तों के रूप में अहिच्छत्रा पर नागवंशी राजे राज्य करते रहे। यवन भूगोलवेत्ता टालेमी (२री शती ई०) की 'आदिमुद्रा' तथा चीनी यात्री युवान च्वांग (७वीं शती ई०) की 'ओहिचितालो' का समीकरण इसी अहिच्छत्रा से किया गया है और महाभारत में उल्लिखित उत्तर पांचाल राज्य की राजधानी अहिच्छत्रा का अभिप्राय भी इसी स्थान से है। कुरु राज्य (हस्तिनापुर) के उत्तर में, गंगा के पार फैला हुआ हिमालय की तराई का विस्तृत अरण्य कुरु-जांगल क्षेत्र कहलाया तथा उसके पूर्वी भाग में उत्तर पांचाल राज्य था, जिसकी राजधानी यह पांचालपुरी या अहिच्छत्रा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं शती ई० के आसपास अहिच्छत्रा की राज्यसत्ता समाप्त हो गई, परन्तु नगर व उसका महत्त्व हो गया, परन्तु नगर व उसका महत्त्व कम से कम ११वीं शती पर्यन्त बना रहा। यहां से प्राप्त अन्तिम शिलालेख १००४ ई० का है; और प्रायः उसी काल में शायद इसी अहिच्छत्रा में महाकवि वाग्भट्ट ने अपने 'नेमि-निर्वाण' काव्य की रचना की थी। तदुपरान्त यह नगर विधटित होता तथा बन खण्ड में

परिणत होता चला गया। तथापि पूरे मध्यकाल में, विशेषकर आसपास के जिलों के निवासी जैन अपने पवित्र तीर्थ के रूप में इसकी यात्रा एवं कथंचित् सरक्षण भी करते रहे। उन्होंने अहिच्छत्रा का नाम और स्मृति सुरक्षित बनाए रखी। अस्तु, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि पार्श्वनाथीय जनश्रुति का पावन जैन तीर्थ अहिच्छत्रा यही उ० प्रदेश के बरेली जिले का रामनगर किला है।

इधर कुछ वर्षों से एक विवाद चल पड़ा है कि अहिच्छत्रा यह नहीं, वरन् राजस्थान में जोधपुर के निकट स्थित नागौर अथवा अजमेर के निकट बिजौलिया पार्श्वनाथीय प्राचीन अहिच्छत्रा है। इसका आधार यह बताया जाता है कि उक्त बिजौलिया के सन् ११६६-७० ई० के शिलालेख में शाकम्भरी (सपादलक्ष) के चाहमान (चौहान) नरेशों का जो इतिहास दिया है, उसके अनुसार वंश का प्रथम पुरुष बाडमान था, जिसका पुत्र वासुदेव और पौत्र सामन्त था, तथा वह सामन्त अहिच्छत्रपुर में जन्मा वत्सगोत्री ब्राह्मण था। उसका पुत्र पुर्णतल्ल शाकम्भरी के चौहान राज्य का संस्थापक था। उसी की सन्तति में आगे चलकर विग्रहराज पृथ्वीराज, अणोराव, सोमेश्वर, पृथ्वीराज तृतीय (दिल्लीपति) आदि राजा हुए। पण्डित गौरीशंकर हरीचन्द ओझा ने उक्त अहिच्छत्रा की पहचान जोधपुर के निकट स्थित नागौर (संस्कृतरूप नागपुर) से की, जिसे उन्होंने किसी समय जांगल् या जांगलदेश की राजधानी रहा बताया। किन्तु पं० भगवानलाल इन्द्रजी तथा डा० डी० आर० भण्डारकर के मतानुसार शाकम्भरी का अपर नाम सपादलक्ष (सवालाख) है और यह उत्तर प्रदेश के मेरठ कमिश्नरी के उत्तर में स्थित सिवालिक

(सवालाख) पर्वत मालाओं का द्योनक है, अतएव वह अहिच्छत्रा, जहां से अजमेर के चौहान (बाडमान) वंश का पूर्वज सामन्त आया था, गंगा-यमुना के ऊपरी भाग में कही होना चाहिए। अर्थात् वह स्थान कुरुजांगल क्षेत्र में स्थित उत्तर पांचाल राज्य की प्राचीन राजधानी अहिच्छत्रा ही हो सकती है।

यों पुराण प्रसिद्ध प्राचीन नगरों के अनुकरण पर देश के अन्य भागों में कई तन्नाम नगर कालान्तर में प्रसिद्ध हो गए हैं। अयोध्या, मथुरा, काशी ही ऐसे अकेले उदाहरण नहीं हैं। हस्तिनापुर के अपरनाम गजपुर और नागपुर रहे हैं, और नागपुर नाम के जितने अन्य नगर बसे वे अनुकरण पर ही बसे। विजय नगर साम्राज्य की सुप्रसिद्ध राजधानी का नाम भी हिरेआवलां से प्राप्त १३६५ ई० के एक शि० ले० में 'श्रीमदराय-राजधानी हस्तिनापुर विजयानगर' लिखा है। (ए० क० १११, सौर ता०, न० १०३) और दमवी शती ई० के एक शिलालेख से दक्षिणापथ के कर्नाटक प्रदेश में भी एक अहिच्छत्रा रहे होने का पता चला है। बृहत्तर भारत के बर्मा, स्याम, कम्बुज आदि भारतीयकृत राज्यों में भी अयोध्या, मथुरा आदि नामों के नगर रहे पाए गये हैं। पुराणप्रसिद्ध मूल स्थानों के अनुकरण पर परवर्ती कालों में स्थापित उक्त तन्नाम नवीन नगरों आदि की विद्यमानता से मूल स्थानों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अस्तु, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की केवलज्ञान भूमि, उत्तर-प्रदेश बरेली जिले की रामनगर वाली अहिच्छत्रा ही है; नागौर, बिजौलिया, अथवा अन्य कोई तथाकथित अहिच्छत्रा नहीं।

सन्दर्भों के लिए देखिए लेखक कृत—

१. रूहेल खण्ड-कुमायूं और जैन धर्म, लखनऊ, १९७०
२. रूहेल खण्ड-कुमायूं जैन डायरेक्टरी, काशी श्रृं १९७०, पृ० १२३
३. उत्तरप्रदेश और जैनधर्म, लखनऊ, १९७६, पृ. ४७-४८
४. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, द्वि० सं०, दिल्ली १९६६, पृ० ४५-४६, १३६
५. प्रमुख ऐतिहासिक जन पुरुष और महिलाएँ, २५७

- दिल्ली १९७५-७६, पृ० ५६-६० ७१
६. बरेली जिले का नवीन गजेटियर, अध्याय २ (इतिहास) अ० १९ पृ० ३६३-३६६
७. जिन प्रभूसंस्कृत 'विविध तीर्थ कल्प', अनु० अगरचंद भंवर लाल नाहटा, बालोतरा १९७८: पृ० ३०-३२
८. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयीकृत 'अहिच्छत्रा', लखनऊ १९५६
९. जैनाबिबलियोग्राफी (दिल्ली १९८२), न० २८, १७१, ४६१, ७००

समवशरण सभा के १२ कोठे

□ रतनलाल कटारिया, केकड़ी (अजमेर)

निर्ग्रन्थ कल्पवनिता व्रतिकाभभौम,
नाग स्त्रियो भवन भौम भ कल्पदेवाः ।
कोष्ठ स्थिता नृपशवोऽपि नमन्ति यस्य,
तस्मै नमस्त्रिमुवन प्रभवे जिनाय ॥४॥ (नदी० भक्ति)

पहले कोठे में—निर्ग्रन्थ मुनि । दूसरे कोठे में—कल्प-
वासी देवियाँ । तीसरे कोठे में—आयिकादि सब स्त्रियाँ ।
चौथे कोठे में—ज्योतिष्क देवियाँ । पाँचवें कोठे में—व्यंतर
देवियाँ । छठे में—नाग (भवनवासी) देवियाँ । सातवें
में—भवनवासी देव । आठवें में—व्यंतर देव । नवमे में—
ज्योतिष देव । दशवें में—कल्पवासी देव । ग्यारहवें में—
सर्व मनुष्य (चक्रवर्ती, विद्याधर, क्षुल्लक-ऐलकादि) ।
बारहवें में—तिर्यच (पशु-पक्षी) ॥

ऐसा ही सब प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है, देखो—

१. महापुराण (जिनसेनाचार्य कृत) पर्व २३,
श्लोक १९३-१९४ ।
२. हरिवंशपुराण (जिनसेन कृत) सर्ग २ श्लोक ७६
से ८८, सर्ग ५७ श्लोक १५७-१६१ ।
३. अतिशय भक्ति—निर्वाण भक्ति ।

ऋषिकल्पज वनिताया, ज्योतिर्वनभवन युवति भावनजाः ।
ज्योतिवन कल्पदेवा, नरतिर्यचो वसन्ति तेष्वनुपूर्वम् ॥

४. जयसेन प्रतिष्ठा पाठ—

बुद्धीशामर नायिकार्यमहती ज्योतिष्क सद् व्यंतर,
नागस्त्री भवनेश किं पुण्य सज्ज्योतिष्के कल्पामराः ।
मर्त्या वा पशवश्च यस्य हि सभा आदित्य संख्या वृष,
पीयूषं स्वमतानुरूपं मखिलं स्वादन्ति तस्मै नमः ॥८८॥

५. तिलोय पण्णत्ती (यतिवृषभाचार्य कृत) अधि-
कार ४ गाथा ८५६ से ८६३ ।

६. समवशरण स्तोत्र—संस्कृत (विष्णुसेन कृत)

७. धर्मसंग्रह श्रावकाचार (पं० मेधावी कृत) अधि-
कार २—

तेषु मुन्यप्सरः स्वार्था द्योति भौमा सुरास्त्रियः ।

नागव्यन्तर चन्द्राद्याः स्वर्भनृपशवः क्रमात् ॥७९॥

सौधमैन्द्र की आजा से कुबेर समवशरण की रचना
करता है । इसमें ११ भूमियाँ होती हैं । आठवी सद्गण
भूमि है इसी के मध्य में तीन पीठ पर श्री मङ्ग है । बीच
में गङ्गकुटी पर भगवान् विराजमान रहते हैं उनकी
प्रदक्षिणा रूप से १२ सभा-कोठे होते हैं जो निर्मल स्फटिक
मणि की १६ दीवारों से युक्त होते हैं ।

देव मनुष्य तिर्यच (पचेन्द्रिय) के इन कोठों की क्रमिक
व्यवस्था बड़ी बुद्धिमानी शालीनता के साथ आदर्शरूप में
की गई है ।

सर्वप्रथम भगवान् के सामने निर्ग्रन्थ मुनियों का
कोष्ठक रखा है जिसमें केवली गणधर मनःपर्यय ज्ञानी
अवधि ज्ञानी ऋद्धिधारी ऋषि मुनि यति अनगार बैठते
हैं जो सर्व प्राणियों में श्रेष्ठ हैं । अतः इनका प्रथम कोष्ठक
रखा है । “Ladies First” सभा में महिलाएं आगे रहती
हैं, इस भारतीय नियमानुसार दूसरे से छठे कोठे में देवियों
और स्त्रियों को रखा है । इनमें भक्ति भी विशेष होती है
इसलिए भी इन्हें आगे रखा है ।

स्त्रियों को दूसरे कोठे में न रखकर तीसरे में रखने
का कारण उनसे मुनीश्वरों के सानिध्य का अभाव करना
है ताकि शालीनता बनी रहे और कोई लोकापवाद उत्पन्न
न हो । देविया मनुष्यगति की न होने से उन्हें दूसरे कोठे
में रख दिया है । शालीनतादि की दृष्टि से ही देव और
देवियों तथा मनुष्य और स्त्रियों के कोठे पास-पास नहीं
रखे हैं । छठा एवं सातवा कोठा एक ही जाति के देवी-
देव का होने पर भी छठे कोठे के आगे डबल दीवाल होने
से कोई दोष नहीं रहता ।

प्रश्न—आयिका गृहत्यागी साध्वी हैं उसे मुनियों के
साथ पहले कोठे में न रखकर सामान्य स्त्रियों के साथ

तीसरे कोठे में क्यों रखा ?

उत्तर—वह उपचार से साधवी हैं, वस्तुतः नहीं। सवस्त्र होने से उसका गुणस्थान शास्त्रों में पांचवा ही बताया है वह संयत नहीं है इसी से उसे पंच परमेष्ठी में स्थान नहीं है। जिस वेश से और पर्याय से मुक्ति हो सकती है उसे ही पूज्य होने योग्य माना है। आयिका इसमें नहीं हैं। अतः परमेष्ठियों के प्रथम कोष्ठ में उसे नहीं रखा है। दूसरा कारण यह है कि उसका और मुनि-रत्नों का सानिध्य आचार शास्त्र से निषिद्ध है।

प्रश्न—ऐलक क्षुल्लक तो गृहत्यागी और कुमार श्रमण है आचार शास्त्र से भी मुनियों के साथ रहने में कोई दोष नहीं है। फिर उन्हें प्रथम कोठे में न रखकर सामान्य मनुष्यों के साथ ११वें कोठे में क्यों रखा ?

उत्तर—ऐलक क्षुल्लक भी वस्त्रधारी होने से पचम-गुणस्थानी है। परमेष्ठी, पूज्य-देव नहीं है। अतः इन्हें प्रथम कोठे में स्थान न देकर ११वें में दिया है। प्रथम कोठे में केवली-गणधर-उपाध्याय-साधु ये चार परमेष्ठी ही होते हैं।

प्रश्न—आयिका के कोठे में सब स्त्रियों को रख दिया तो मुनियों के कोठे में सब मनुष्यों को क्यों नहीं रखा ?

उत्तर—आयिका पचमगुणस्थान से ऊपर नहीं हो सकती जबकि मुनि षष्ठादि गुण स्थानी होते हैं। आयिका की तरह अन्य व्रती श्राविकाएँ भी पचमगुणस्थानी हो जाती हैं जबकि मुनियों की तरह ऐलक क्षुल्लकादि कभी षष्ठ गुणस्थानी नहीं हो सकते। अतः आयिका और मुनि के पद में महान् अन्तर होने से इनके कोठों की योग्यता-पात्रता में भी महान् अन्तर है। इससे आयिका के कोठे में तो पचमगुणस्थान की तत्प्राप्ति से सब स्त्रियाँ आ गई किन्तु मुनि के कोठे में सब मनुष्य नहीं आये क्योंकि उनके कुछ न कुछ वस्त्र-परिग्रह है।

प्रश्न—चार प्रकार के देवों के दो दो कोठे रखे तो मनुष्यों के दो कोठे न रखकर तीन कोठे क्यों रखे गये।

उत्तर—देवों में देव देवी के रूप में दो ही पद होते हैं संयत (पूज्य) पद नहीं होता जबकि मनुष्यों में नर-नारी के रूप में दो पद के सिवा एक संयत (पूज्य-परमेष्ठी) पद और होता है अतः देवों में दो-दो कोठे ही रखे गये और

मनुष्यों में तीन कोठे रखे गये।

इस तरह चतुर्णिकाय के देवों के दो-दो कोठे होने से कुल ८ कोठे देवगति के और ३ कोठे मनुष्यगति के तथा १ कोठा तिर्यंच गति का कुल १२ ही कोठे रखे हैं न कम और न ज्यादा। नरकगति के नारकी न अन्यत्र जा सकते हैं न कोई उन्हें ला सकता है अतः तीन गतियों के आधार पर ये १२ ही कोठे होते हैं।

ये कोठे भगवान् के चारों ओर गोलाकार होते हैं। अतिशय के कारण एक ही भगवान् चारों दिशाओं में चतुर्मुख दिखाई देते हैं। वे सिंहासन पर चार अगुल ऊँचे अधर पद्मासन से चिराजमान होते हैं सब जीव उन्हें हाथ जोड़े अपने-अपने कोठों में बैठे हुए दिव्य ध्वनि का असृत-पान करते हैं।

प्रश्न—देवों को पुरुषों से पहिले क्यों रखा ?

उत्तर—(क) गोल वस्तु का कही से भी आदि और कही पर भी अंत किया जा सकता है। समवशरण के कोठे भी गोलाकार होने से उनमें कोई भी पहिले पीछे कल्पित किये जा सकते हैं।

(ख) गुणस्थान की अपेक्षा भी आगे पीछे का क्रम नहीं है क्योंकि देवों में चार गुणस्थान तक ही संभव है जबकि तिर्यंचो तक में भी पचम गुणस्थान संभव है। मनुष्यों में तो सर्व ही गुणस्थान है।

(ग) देवों में मनुष्यों की अपेक्षा विशेष भक्ति होती है नियोग ड्यूटी भी विशेष होती है। इसी से कल्याणकों में स्वर्गों के समस्त देव और इन्द्र आते हैं जबकि सर्व मनुष्य नहीं आते। देव ही भगवान् के चमर डोरते हैं—वृष्टि करते हैं, सिंहासन छत्र भामंडलादि अष्ट प्रातिहार्य करते हैं मनुष्य नहीं। मूर्ति में भी यक्ष गंधर्व किन्नरादि का यह सब करते हुए अंकन है, मनुष्य का नहीं।

(घ) कोई भी देवता भगवान् का कभी अवर्णवाद नहीं करता सब देवता जैन होते हैं। कोई अन्य धर्मी मनुष्य ही या मिथ्यात्वी जैनी मनुष्य ही कभी भगवान् का अवर्णवाद करते हैं जैसे पोते मरीचि ने भगवान् ऋषभनाथ का किया था।

(ङ) देवियों के बाद देवों को एक ही गति वाले होने की वजह से रखा गया बीच में मनुष्यों के आने पर

गतिभिन्नता हो जाती और स्त्री सानिध्य से शालीनता में भी दोष आता ।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पं० सदासुखदास जी कृत हिन्दी वचनिका में १२ कोठों के क्रम में एक अन्तर इस प्रकार है । (देखो षष्ठम अधिकार के उपान्त्य में)

“भगवान् गंध कुटी में पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा के संमुख तिष्ठे है उनकी प्रदक्षिणा रूप संमुख पहली सभा में गणधरादि मुनीश्वर तिष्ठे है, दूसरी सभा में कल्पवासी देवियां तीसरी में आर्यिका अर मनुष्यणी चौथी में चक्रवर्त्यादि सहित मनुष्य पांचवी में ज्योतिष देवियां छठी में व्यंतरिया सातवी में भवनवासी देविया आठवी में भवनवासी देव नवमी में व्यंतरदेव दशवी में ज्योतिष्क देव ग्यारहवी में कल्पवासीदेव बारहवी में तिर्यच है ।”

सब शास्त्रों में मनुष्यों का कोठा ११वाँ दिया है किन्तु यहाँ उसे चौथे स्थान पर रख दिया है । इससे यहाँ से सब क्रम भंग हो गया है । पांचवें देवी और तीसरे मनुष्यणी के कोठे के बीच चौथा मनुष्य कोठा रखने से शालीनता में भी दोष आया है । ऐसा क्यों किया गया ? शायद पंडित जी को मनुष्य जाति की उच्चता ने ऐसा करने को बाध्य किया हो । यह कथन सापेक्ष है । कोई सैद्धान्तिक भूल नहीं है फिर भी विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए । यहाँ पंडित जी ने १२ कोठों को १२ सभा कहा है किमी ने १२ गण कहा है । यह सब शब्द भेद है अर्थ भेद नहीं । महापुराण में १२ गण और १२ कोष्ठ कहा है एव जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में १२ सभा कहा है ।

समवशरण पाठ (पं० भगवानदासजी कृत) पृ० १४८ में—पहले मुनि कोष्ठक में ही आर्यिकाओं को भी रख दिया है और तीसरे कोष्ठक में सिर्फ सामान्य स्त्रियों को रहने दिया है । यह स्पष्टतः सैद्धान्तिक भूल है इससे संयत असंयत एक होकर गुड़ गोबर हो गया है शालीनता और आचार शास्त्र का भी हनन हुआ है । मूल पद्य इस प्रकार है :—

शुभ दिशा आग्नेय विषे कही, लसत कोठा तीन भलें तहीं ।
मुनि आर्या कल्पवासनी, तिया, मनुषणी तिसरे यह बैठिया ॥

(चारों दिशाओं में तीन-तीन कोठे के हिसाब से १२ कोठे बताये हैं । प्रथम आग्नेय दिशा (पूर्व दक्षिण कोण) में तीन कोठे इस प्रकार हैं—१. मुनि और आर्यिका, २. कल्पवासी देवियां, ३. मनुष्यणी—सामान्य स्त्रियां ।) शेष कथन प्राचीन शास्त्रानुसार ही है । सिर्फ स्त्रियों के तीसरे कोठे से आर्यिकाओं को निकालकर मुनियों के प्रथम कोठे में रख दिया है यह गलती है ।

छद्मस्थतादि की वजह से, अपेक्षाभेद से, आचार्य आम्नाय की दृष्टि से, मुद्रण-लेखन प्रति लेखन की भूल से शास्त्रों में विभिन्न कथन हो जाते हैं । जिस तरह हम अनाज के ककरादि को शोध बीन कर पानी को छान कर फिर काम में लेते हैं उसी तरह शास्त्रों को भी पूर्वापर मिलाकर युक्तिपूर्वक शोधकर सम्यक् अध्ययन करना चाहिए । धवल जयधवल में भी अनेक जगह इन बातों का उल्लेख है । ये सब स्वाभाविक हैं संभाव्य हैं इन्हीं के आधार पर किन्हीं शास्त्रों को मंदिर बाहर करना जल प्रवाहित करना अग्नि समर्पण करना धोर मूढ़ता और अविवेक है । कषाय और अनुदारता से यह सब अपनी निधि का अपने ही हाथों बरबाद करना है । ऐसी प्रवृत्ति में बचना चाहिए । कोई चीज अभी हमें समझ नहीं आई हो तो उसे आगे के लिए छोड़ देना चाहिए इस दूरदर्शिता को तो हमें कम से कम अंगीकार करना ही चाहिए ।

जैनधर्म लह मद बढे, वैद न मिलि है कोई ।

अमृत पान विष परिणवे, तांहि न औषधि होई ।

जो चरचा चित में नहीं चढ़े, सो सब जैन सूत्र सो कढ़े ।

अथवा जे श्रुत मरमी लोग, तिन्हें पूछ लीजे यह जोग ॥

इतने पर सशय रह जाय, सो सब केवल ज्ञान समाय ।

यो निःशत्य कीजे निजभाव, चरचा में हठ को नहीं दाव ॥

केकडो (अजमेर) ३०५४०४

नेमि शीर्षक हिन्दी साहित्य

□ डा० कुमारो इन्दुराय जैन

जैन परम्परा के बाईमर्वे तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिक प्रामाणिकता भले ही मिद्ध न हो सकी हो परन्तु यह निर्विवाद है कि उनका व्यक्तित्व जैन साहित्यकारों को अधिक प्रिय रहा है। वर-वेश में सुगज्जिन नेमिकुमार का पशुओं का करुण क्रन्दन सुनने मात्र पर वाग्दत्ता राजुन (राजीमती) को विवाह मण्डप में बिगड़ दग्ध छोड़कर अक्षय वैराग्य धारण कर लेना तथा रैवतक पर्वत पर दुर्धर तपश्चर्या द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करना, साथ ही राजुन के संयम, अनन्य निष्ठा एवं अन्त में वैराग्यपूर्वक मुक्तिलाभ की घटनाओं ने कवियों को कितना अधिक प्रभावित किया है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं उनके जीवन पर लिखी गयी विपुलात्मक कृतियां।

यूँ तो आगम ग्रन्थों जैसे कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, अन्तर्कृद्शा, ऋषिभाषित आदि, विभिन्न पुराणों में यथा हरिवंश पुराण, महापुराण, नेमिनाथ पुराण, पाण्डवपुराण, उत्तर पुराण आदि तथा अन्य काव्य ग्रन्थों यथा त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित, चउपन महापुरुष चरित्र, प्रद्युम्न-चरित्र, सौरचरित्र, श्रीचिह्न काव्य, द्विसंधान काव्य, वसुदेव हिण्डी जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं में तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन वर्णित है परन्तु प्रस्तुत लेख में विस्तारभय से, केवल हिन्दी भाषा में विरचित नेमि शीर्षक कृतियों का परिचय देना अभीष्ट है। १४वीं १५वीं शताब्दी तक उत्तर भारत में अपभ्रंश भाषाओं का प्रसार और प्राचुर्य रहा तदपि खड़ी बोली हिन्दी तथा अन्य स्थानीय बोलियों का स्वरूप लिखना प्रारम्भ हो गया था अतः नेमि शीर्षक रचनाओं में जो हिन्दी भाषा की सर्व प्राचीन रचना मिली है वह 'नेमिनाथ फागु' है जिसके रचयिता राजशेखर सूरि हैं तथा कृति का रचनाकाल सवत् १४०७ लगभग है अतएव लेख में इस कृति से लेकर बीसवीं शताब्दी तक की रचनाओं का कालक्रमानुसार संक्षिप्त उल्लेख प्रस्तुत

है—

नेमिनाथ फागु—इसके रचयिता राज शेखर सूरि हैं जो हर्षपुरीय गच्छ के कोटिक गण से सम्बन्धित मुनि तिलक सूरि के शिष्य थे।

२७ पद्यों वाले इस फागु की रचना कवि ने वि० सं० १४०५ के लगभग की थी। काव्य भक्ति प्रधान है तदपि राजुन के सौन्दर्य चित्रण सम्बन्धी पद दृष्टव्य हैं—

किम किय राजल देवि तणऊ सिणगार भणैवऊ,
चपइ गोरी अइधोइ अगि चन्दन लेवउ।
खुं पु भरविड जाइ कुसुम कस्तूरी सारी,
सोमतइ सिदूर रे मोति सरि सारी ॥

नेमिनाथ नव रस फागु—इसके रचयिता सोम सुन्दर सूरि हैं तथा फागु की भाषा पर प्राकृत एवं गुजराती का पर्याप्त प्रभाव है कवि ने तीर्थंकर नेमिनाथ के प्रति अपनी अनन्य भक्ति को निवेदित किया है।

नेमिनाथ विवाहलो—उपाध्याय जयसागर रचित इस कृति का परिचय डा० प्रेम सागर जैन ने 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' पुस्तक में पृष्ठ ५२ पर दिया है। काव्य का रचना काल वि० सं० १४७८ लगभग है।

नेमीश्वर का बारह मासा—विवेच्य काव्य कृति के रचनाकार बूचराज विक्रम की १६वीं शती के अन्तिम चरण के प्रमुख कवियों में से थे। इनके बूचा, वल्ह, वील्ह वन्हव नाम भी लोकप्रिय रहे तथा ये भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे। 'नेमीश्वर का बारहमासा' में राग बड़हंसु निबद्ध कुल १२ पद्य हैं तथा प्रारम्भ श्रावण मास से करके आषाढ पर समाप्त किया है। इसके अतिरिक्त बूचराज ने 'नेमिनाथ बसन्तु' तथा 'वील्हव नाम से 'नेमीश्वर गीत' गीत की रचना की थी। 'कवि बूचराज एवं उनके समकालीन कवि' नामक पुस्तक में लेखक, सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'नेमीश्वर का बारहमासा' तथा 'नेमिनाथ बसन्तु' का मूल पाठ प्रस्तुत किया है। 'नेमी-

श्वर गीत' में कुल १५ पद्य हैं तथा भाषा अपभ्रंश प्रधान है और इसकी हस्तलिखित प्रति बघीचन्द जी के मन्दिर के शास्त्र भण्डार गुटका नं० २५ में तथा एक प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है।

नेमिनाथ रास—इसके रचयिता आचार्य जिनसेन भट्टारक यशःकीर्ति के शिष्य थे। 'राम' की रचना इन्होंने संवत् १५५८ में जवाहर नगर में की थी। नेमिनाथ के जन्म, कुमार अवस्था, विवाह हेतु प्रयाण, तोरण द्वार से लौट आने, वैराग्य, कैवल्य प्राप्ति तक की घटनाओं को कवि ने ६३ छन्दों में वर्णित किया है। भाषा राजस्थानी-गुजराती मिश्रित है तथा विवेच्य रास की एक पूर्ण प्रति जिसका लिपिकाल सं० १६१३ है दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरापथियो का, जयपुर वेष्टन ६२४ में उपलब्ध है।

नेमीश्वर को उरगानो—श्रावक चतरुमल अथवा चवरुमल विरचित यह एक मात्र 'उरगानो' संज्ञक रचना है। कवि ने स्पष्ट किया है कि गुणों को विस्तार से कहने वाले काव्य को उरगानो कहते हैं। कृति की रचना संवत् १५७१ में की थी। कवि ने तीर्थ नेमि द्वारा विवाह मंडप से विरक्त हो लौट आने और वैराग्य धारण की मार्मिक कथा को ४५ पदों में प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया है। 'कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन' कवि शीर्षक पुस्तक में डा० कामलीवाल ने 'नेमीश्वर को उरगानो' का मूल पाठ प्रकाशित किया है साथ ही उन्होंने चतरुमल कृत 'नेमचरित्र' अथवा 'नेमि राजुल गीत' का भी उल्लेख किया है।

नेमि राजमती बेलि—इसके रचयिता ठक्कुरसी हैं। ये राजस्थान के ढूंठाहण क्षेत्र के १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कवि थे। 'नेमि राजमती बेलि' को 'नेमीश्वर की बेली' भी कहा गया है। कृति की हस्तलिखित प्रतियां जयपुर के विभिन्न शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत हैं परन्तु २० छन्दों वाली इस बेलि को डा० कामलीवाल ने 'कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि' पुस्तक में प्रकाशित करवा दिया है। अन्त निम्न प्रकार है—

जर जनमु मरणु करि द्वारे, हुउ सिद्ध गुणहुं परि पूरे
करि घेह सुतन ठाकुरसी किये नेमि राजमती सरसी
नर नारि जाको नित गावे जो चित्त सो फल पावै ॥२०॥

नेमि रंग रत्नाकर छन्द—प्रस्तुत कृति के रचयिता कवि लावण्य समय हैं इनके बचपन का नाम लघु-राज था और ये १६वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवियों में से एक हैं। 'नेमिरंग रत्नाकर छन्द' जिसे 'नेमि जिन प्रबंध' भी कहा गया है, की रचना संवत् १५४६ में की थी। भाषा पर अपभ्रंश का काफी प्रभाव है। इसकी १७ पत्रों वाली प्रति आमेर शास्त्र भण्डार (जो अब श्री महावीर जी में स्थानान्तरित हो गया है) में संग्रहीत है। लावण्य समय कृत 'राजुल विरह गीत' अथवा 'राजुल नेमि अबोला' की प्रति भी उक्त शास्त्र भण्डार में है।

नेमिनाथ स्तवन—इसके रचनाकार कवि धनपाल हैं। जो प्रसिद्ध कवि देल्ह के पुत्र तथा ठक्कुरसी के अनुज थे। इनका समय संवत् १५२५ से १५६० तक माना जाता है। नेमिनाथ स्तवन अथवा नेमि जिन वन्दना ५ छन्दों की लघु कृति है जिसमें नेमिनाथ के तोरणद्वार से लौटने, राजुल का त्याग, गिरनार पर्वत पर तप एवं नेमि निर्वाण का सुन्दर वर्णन हुआ है।

नेमीश्वर रास—इसके रचयिता ब्र० जिनदास हैं। जिनदास नाम के कई कवियों का उल्लेख मिलता है, परन्तु विवेच्य जिनदास भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य एवं अनुज थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे और पहले नेमिनाथ पुराण (या हरिवंश पुराण) की रचना संस्कृत भाषा में की थी परन्तु बाद में बहु जन हिताय, संवत् १५२० में स्वयं ही 'नेमिश्वर रास' की रचना हिन्दी में की। इस कृति को हरिवंश रास भी कहते हैं। कवि ने नेमिनाथ के गर्भ चयन से लेकर निर्वाण तक की कथा कही है और प्रासंगिक रूप में कृष्ण और पांडवों की कथा भी अनुस्यूत है। डा० प्रेमचन्द रावका ने 'महाकवि ब्रह्म, जिनदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' नामक पुस्तक में 'नेमीश्वर रास' के कुछ अंश प्रस्तुत किये हैं।

नेमिनाथ रास—मुनि पुण्य रतन ने राजस्थानी मिश्रित हिन्दी भाषा में प्रस्तुत नेमिनाथ रास की रचना संवत् १५८६ में की थी। इस कृति की एक पूर्ण प्रति भट्टारकीय दिगम्बर जैन मन्दिर, अजमेर के शास्त्र भण्डार वेष्टन ७३६ में बद्ध है। कुल पद्य संख्या ६६ है तथा प्रारम्भ निम्न प्रकार से है—

सारदा पय प्रणमी करि नेमि तणा गुण हीय घरेवि ।

रास भणु रत्नीया गुण गरु वड गइ सु सुख संखेवि ॥

पुण्य रतन कवि विरचित 'नेमिनाथ फागु' का भी उल्लेख मिलता है जिसकी प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर विजयराम पांड्या, जयपुर के शास्त्र भण्डार में गुटका नं० १४ वेष्टन १०२ में सकलित है ।

नेमिनाथ गीत—१६वीं शताब्दी के प्रख्यात कवि ब्रह्म० यशोधर ने 'नेमिनाथ गीत' नाम से तीन सर्जनाएँ की थीं । प्रथम 'नेमिनाथ गीत' की संरचना संवत् १५८१ में बांसवाडा नगर में की थी । इस गीत में २८ अन्तरे हैं पर इसकी कोई पूर्ण प्रति अभी उपलब्ध नहीं हो सकी है । दूसरा गीत राग सोरठा में निबद्ध है तथा गीत में कुल पांच छन्द हैं । तीसरा नेमिनाथ गीत अपेक्षाकृत बड़ी रचना है । इसमें कुल ७१ छन्द हैं जो राग गौड़ी में बद्ध हैं । गीत की भाषा राजस्थानी है तथा इसका मूल पाठ 'आचार्य सोमकीर्ति एव ब्रह्म यशोधर' संस्थापक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल कृत में प्रकाशित हो गया है । काव्य का टेक निम्न प्रकार है—

सामला ब्रण वीनवी राजिल नारि

पूरव भव नेह संभारि

दयाल राय वीनवी राजिल नारि ॥

नेमिनाथ स्तवन—भट्टारक शुभचन्द्र (प्रथम) जो १६वीं शताब्दी के मूर्धन्य भट्टारक रहे तथा जिन्होंने 'पांडव पुराण' जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा उन्होंने ही हिंदी भाषा में नेमिनाथ स्तवन की रचना की थी । स्तवन में कुल २५ छन्द हैं और इस कृति को 'नेमिनाथ छन्द' भी कहते हैं । कृति का उल्लेख 'जिन रत्नकोश' में हुआ है ।

वस्तुतः नेमिनाथ के जीवन पर सर्वाधिक रचनाएँ सत्रहवीं शताब्दी में लिखी गयी जैसा कि आगामी पृष्ठों से स्वतः स्पष्ट हो जाएगा ।

नेमीश्वर गीत—प्रस्तुत गीत के रचयिता जयसागर भट्टारक रत्नकीर्ति के प्रमुख शिष्यों में से थे परन्तु इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं मिलती । 'नेमीश्वर गीत' की भी कोई प्रति उपलब्ध नहीं तदपि इनके द्वारा रचित 'चुनडी गीत' प्रकाशित हो गया है । जिसे 'चारित्र चुनडी' भी कहते हैं । इस रूपक गीत में

नेमिनाथ के वैराग्य ले लेने पर राजुन ने चारित्र चुनरी को किस प्रकार धारण किया इसका १६ पद्यों में मार्मिक वर्णन हुआ है ।

नेमीश्वर चन्द्रायण—इसके कृतिकार भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति थे जो आमेर गादी के संस्थापक भट्टारक देवन्द्रकीर्ति के शिष्य थे । नेमीश्वर चन्द्रायण की रचना संवत् १६६० में की थी और इसकी प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है ।

नेमीश्वर रास—रासकार ब्रह्म रायमल्ल १७वीं शताब्दी के प्रतिनिधि कवियों में हैं । नेमीश्वर रास की रचना इन्होंने संवत् १६१५ के लगभग की थी । कृति में कुल १४५ कड़क छन्द हैं जिनमें नेमिनाथ के गर्भ से निर्वाण तक की घटनाएँ वर्णित हैं । बघीचन्द जी के मंदिर, जयपुर से लेखिका को प्राप्त प्रति के अन्त में लिखा है—

अहो सोलह सै पंद्रारह रच्यो,

रास सांवलि तेरसि सावण मास ।

वार ती बुधवार भलो अहो,

जैसी जी मति दीने अवकास ।

पंडित कोई जी मति हसो,

तैसी जी बुधि कीयो परगास ॥

नेमीश्वर रास के अतिरिक्त ब्रह्म रायमल्ल 'नेमि निर्वाण' काव्य भी लिखा था यह एक अत्यन्त लघु कृति है जिसमें तीर्थंकर नेमि की भक्ति पूर्वक वन्दना की है इसको प्रति भट्टारक दिगम्बर जैन मन्दिर, अजमेर के भण्डार में है ।

नेमि गीत—इस गीत की रचना बाई अजीतमनी ने की थी । ये भट्टारक वादिचन्द्र की प्रमुख शिष्या थी । इन्होंने कई स्फुट पदों और गीतों की रचना की 'नेमिगीत' राग वसन्त में निबद्ध है और कुल छन्द सख्या छः है । गीत का प्रथम छन्द प्रस्तुत है—

श्री सरस्वती देवी नमीय पाय,

गाए सुं गुण श्री नेमि जिन राय ।

जेह नामि सोस अनत थाय,

भूरि पातिग भर दुरे पलाय ॥१॥

नेमि जी को मंगल—इसके रचयिता श्री विश्व-बलात्कार गण की अटेर शाखा के ख्याति प्राप्त भट्टारक

थे। नेमि जी को मंगल रचना आपने संवत् १६६८ में की थी। कृति की एक पूर्ण प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी का, जयपुर, गु० न० १२ में सकलित है। कवि विश्वभूषण कृत 'लक्ष्मीर नेमीश्वर की' की प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर विजयराम पाड़्या, जयपुर के भण्डार में गुटका नं० ४ में संग्रहीत है।

नेमिनाथ रास—यूँ तो रूपचन्द नाम के अनेक कवि हुए हैं परन्तु आलोच्य कृति के रचनाकार पाण्डे रूपचन्द भगवानदास के पुत्र थे। नेमिनाथ रास की रचना संवत् १६६० के लगभग की थी। रूपचन्द कवि विरचित 'राजुल विनती' (गुटका नं० ८१ शास्त्र भण्डार, श्री महावीर जी) तथा 'नेमिनाथ स्तवन' (गुटका नं० ७६ भट्टारकीय दि० जैन मन्दिर, अजमेर) का भी उल्लेख मिला है।

नेमि जिनंद व्याहलो—इसके रचनाकार खेतसी अथा खेतसिंह हैं। ये सादू शाखा के चारण कवि और जांधपुर नरेश के आश्रित थे। 'व्याहलो' का सृजन इन्होंने संवत् १६६१ में किया था। कविता में खेतसी अपना 'सहि' या 'साहि' नाम प्रयुक्त करते थे। नेमि जिनंद व्याहलो की प्रतियुक्त (१) गुटका नं० ६५ पाटोदी का मन्दिर जयपुर, (२) गुटका नं० ६ दिगम्बर जैन मन्दिर पार्श्वनाथ, जयपुर (५) गुटका नं० ४२ शास्त्र भण्डार श्री महावीर जी में उपलब्ध हैं।

नेमीश्वर के दश भवान्तर—रचयिता ब्रह्म० धर्मरुचि अभयचन्द प्रथम के शिष्य थे और इनका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध रहा था। प्रस्तुत कृति में तीर्थंकर नेमिनाथ के पूर्व जन्मों का विस्तृत वर्णन है। काव्य की प्रतियां, गुटका नं० १३६ बघीचन्द जी का मन्दिर, जयपुर तथा गुटका नं० ८८ का नं० ८५ गोघों का मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत है।

नेमीश्वर को डोरडो—विवेच्य काव्य के कवि हर्षकीर्ति हैं। ये सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजस्थान के व्याप्त सत रहे। नेमीश्वर को डोरडो में कुल २१ पद्य हैं और काव्य भाषा राजस्थानी प्रधान है। इसकी प्रति शास्त्र भण्डार श्री महावीर जी में है। हर्षकीर्ति ने ही 'नेमिनाथ का बारहमासा', (गुटका नं० १६२ वघीचन्द जी का मन्दिर जयपुर) तथा नेमिराजुल की भक्ति विषयक ६६ स्फुट पदों की रचना की थी।

नेमीश्वर राजुल विवाह—इसके रचनाकार ब्रह्म० ज्ञान सागर के विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी। कृति की एकमात्र प्रति गुटका नं० ५० (पत्र संख्या २६ से ३१ तक पाटोदी के मन्दिर जयपुर के शास्त्र भण्डार में है अन्त इस प्रकार है—

राजमती प्रबोध के सुध भाव समय लीयो।

ब्रह्म ज्ञान सागर कहे वाद नेमि राजुल कीयो ॥

नेमिनाथ फाग—कृतिकार भट्टारक रत्नकीर्ति सत्रहवीं शताब्दी के मूर्धन्य सत एव साहित्यकार थे। भट्टारक अभयनन्दी ने संवत् १६३० में भट्टारक पद पर इनका महाभिषेक किया था। नेमिनाथ भाग की रचना गुजरात के हासोट नगर में हुयी थी। इस कृति में कुल ६६ पद्य हैं जो राग केदारमें निबद्ध हैं। भट्टा. रत्नकीर्ति ने गुजरात के ही घोषा नगर में 'नेमिनाथ बारहमासा' लिखा था। यह २४ पद्यों की सुन्दर लघु कृति है जिसमें राजुल की व्यथा सशक्त रूप में व्यंजित है। इनके अतिरिक्त सत कवि ने नेमिराजीमती से सम्बन्धित अनेक स्फुट गीतों की रचना की थी। ये गीत विभिन्न रागों में यथा मल्हार, केदार मारुणी, सारंग, आसावरी आदि में निबद्ध हैं। फाग, बारहमासा तथा कुछ गति डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल लिखित पुस्तक 'भट्टारक रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र : व्यक्तित्व एवकृतित्व' में प्रकाशित हुए हैं।

राजुल का बारहमासा—इसके रचयिता सत्रहवीं शताब्दी के ही कवि पद्मराज हैं। संभवतः ये ही पद्मराज 'अभयकुमार प्रबोध' के रचयिता हैं और ये खतरगच्छीय आचार्य जिनहस के प्रशिष्य और पुष्पसागर के शिष्य थे। विवेच्य रचना की एक प्रति बघीचन्द जी के मन्दिर, जयपुर के शास्त्रभण्डार में गुटका नं० ६२ वेष्टन १०६८ में है।

नेमिनाथ रास—रचनाकार मुनि अभयचन्द भट्टारक कुमुदचन्द्र के योग्य शिष्य थे और ये संवत् १६८५ में गादी पर विराजमान हुए। नेमिनाथ रास का सृजन सत्रहवीं सती के उत्तरार्ध में किया था और इसकी प्रति गुटका नं० ५३ वेष्टन ५६२ में भट्टारकीय दिग० जैन मन्दिर अजमेर के शास्त्रभण्डार में है। कवि की एक अन्य प्रसिद्ध कृति 'चन्द्रागीत' है जिसमें कालिदास के मेघदूत की विरही यक्ष की भाँति राजुल भी अपना संदेश चन्द्रमा के माध्यम

से नेमिनाथ के पास भेजती है। यह गीत डा० कासलीवाल संपादित, अखित पुस्तक 'महा० रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में प्रकाशित किया गया है।

नेमीश्वर रास—भट्टारक वीरचन्द्र सत्रहवीं शती के प्रतिभा सम्पन्न कवि और भट्टारक लक्ष्मीचन्द के शिष्य थे नेमीश्वर रास एक लघु कृति है जिसमें केवल नेमिनाथ के विवाह की घटना का वर्णन है तथा इसकी रचना संवत् १६३३ में पूर्ण हुई थी। वीरचन्द्र ने ही नेमिराजुल के जीवन वृत्त पर १३३ पद्यों का एक खण्ड काव्य 'वीर विलास फाग नाम है लिखा था।

नेमिनाथ द्वादशमासा—इसके रचयिता सुमति सागर (संवत् १६००-१६६५) भट्टा० अभयनन्दी के शिष्य थे। प्रस्तुत बारहमासे में १३ पद्य हैं प्रथम १२ पद्यों में विरहिणी राजुल की व्यथा व्यजित है और अन्तिम पद में कवि प्रशस्ति है। सुमति सागर ने ही एक सुन्दर 'नेमि गीत' की रचना की थी जिसमें बड़े मार्मिक ढंग से वर्णित है कि स्वामी के अभाव में अबला नारि राजुल स्वयं को कैसा निरीह, अनाथ, परिमल विहीन पुष्प, कमल रहित सरोवर, प्रतिमा विहीन मन्दिर जैसा अनुभव करती है। गीत 'भट्टा० रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' पुस्तक में प्रकाशित हुआ है।

नेमिनाथ हमची—रचनाकार भट्टा० कुमुदचन्द्र (संवत् १६५६-१६८५) प्रसिद्ध भट्टा० रत्नकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे। नेमीश्वर हमची में कुल ८७ छन्द हैं और भाषा राजस्थानी-मराठी मिश्रित है। कुमुदचन्द्र कृत 'अण्यरति गीत' एक विरहात्मक गीत है जिसमें तीन प्रमुख ऋतुओं में प्रिय वियोग जनित, राजुल की मनोव्यथा का बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण है। इसी प्रकार ३१ छन्दों वाले 'हिन्दोल गीत' में कवि ने विरह विदग्ध राजीमती के सन्देश विभिन्न वाहकों के माध्यम से नेमिनाथ तक पहुँचाए हैं। 'नेमिनाथ का द्वादशमासा' भी कुमुदचन्द्र रचित १४ छन्दों की लघु कृति है अषाढ़ से सावन मास तक प्रसारित इस गीत में राजुल के उद्गारों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुयी है। इनके अतिरिक्त कवि ने नेमिभक्ति विषयक विभिन्न रागों में बद्ध, स्फुट पदों की भी रचना की। उक्त सभी रचनाओं का मूल पाठ 'भट्टा० रत्नकीर्ति एवं

कुमुदचन्द्र व्यक्तित्व' (लेखक डा० कासलीवाल) में प्रकाशित हुआ है।

नेमिगीत—रचयिता ब्रह्म० सयम सागर भट्टा० कुमुदचन्द्र के शिष्य थे। कवि की कोई बड़ी रचना प्राप्त नहीं हुयी है। नेमिगीत का सृजन सत्रहवीं शताब्दी के दूसरे चरण में किया था इसके अतिरिक्त इन्होंने नेमि विषयक स्फुट पद रचे जो विभिन्न गुटकों में संकलित हैं।

नेमिनाथ रास—खतरगच्छीय शाखा में नयकमल के शिष्य और जयमन्दिर के शिष्य कनककीर्ति ने नेमिनाथ रास की रचना १६३५ ई० में की थी रास की भाषा गुजराती प्रधान है और इसकी प्रति विनयचन्द्रज्ञान भण्डार, जयपुर में उपलब्ध है।

सत्रहवीं शताब्दी में ही कवि सिंहनन्दि विरचित **नेमीश्वर राजमती गीत** (गुटका न० २६२ भट्टारकीय दि० जैन मन्दिर, अजमेर) एवं 'नेमीश्वर चौमासा' तथा साधुकीर्ति रचित 'नेमिस्तवन' एवं नेमिगीत का उल्लेख मिलता है। रचनाक्रम अविकल रूप से अठारहवीं शती में भी प्रवहमान रहा।

नेमीश्वर रास—इसके रचयिता मलूक पुत्र भाऊ हैं जो अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के ख्यात कवि रहे। प्रस्तुत रास में कुल १५५ चौपाई छन्दों में नेमि के वैराग्य, राजुल के संयम और नेमिनाथ के निर्वाण का मार्मिक निरूपण हुआ है। इसकी प्रतिया गुटका न० ६५ पाटोदी का मन्दिर जयपुर तथा गुटका न० २३२ भट्टारकीय दिगम्बर जैन मन्दिर अजमेर में संग्रहीत हैं।

नेमिराजुल बारहमासा—रचनाकार जिनहर्ष 'जसरारज' नाम से प्रख्यात थे और इसी नाम के आधार पर 'जसरारज बावनी' भी लिखा था। नेमिराजुल बारहमासा जिसे नेमिराजीमती बारहमास सबैया भी कहा गया है की रचना संवत् १७१५ के लगभग की थी। काव्य में कुल १२ सबैया छन्द हैं और इसकी प्रतियाँ अभय जैन ग्रथालय बीकानेर तथा शास्त्र भण्डार श्री महावीर जी में उपलब्ध हैं। जिनहर्ष कवि ने ही 'नेमीश्वर गीत' (वेष्टन १२४५, बघीचन्द जी का मन्दिर जयपुर) एवं 'नेमिराजुल-स्तवन' गुटका नं० ६७ गेलियों का मन्दिर, जयपुर) की रचना की थी।

नेमीश्वर गीत—रचयिता ब्रह्म० धर्मसागर अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध के संत कवि और ये भट्टारक अभयचन्द द्वितीय के संघ में थे। नेमीश्वर गीत में कुल १२ छन्द हैं जिसमें राजुल के सौन्दर्य और विरह का सुन्दर निरूपण हुआ है। यह गीत डा० कासलीवाल सम्पादित पुस्तक 'भट्टा० रत्नकीर्ति एवं कुमुदचन्द्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में दिया गया है। कवि ने इसके अतिरिक्त भी स्फुट गीत लिख कर नेमि प्रभु के प्रति अनन्य भक्ति का प्रदर्शन किया है।

नेमिनाथ का बारहमासा—इसके कृतिकार विनोदीलाल (वि० सं० १७५०) तीर्थंकर नेमि के एक-निष्ठ भक्त थे अतः इनकी अनेक रचनाएँ नेमि राजुल से सम्बन्धित हैं। इनकी कृतियाँ अत्यधिक लोकप्रिय हुयीं कारण कई शास्त्र भण्डारों में एकाधिक प्रतियाँ भी संग्रहीत हैं। यह बारहमासा 'जैन पुस्तक भवन कलकत्ता' से प्रकाशित हो चुका है। विनोदीलाल कृत 'नेमि व्याह' सुन्दर खण्ड काव्य है, 'राजुल पञ्चोत्ती' २५ छन्दों की लघु कृति है 'नेमिनाथ के नव मंगल' में ६ छन्दों में नेमि कथा वर्णित है, 'नेमि राजुल रेखता' उर्दू फारसी मिश्रित हिन्दी भाषा की रचना है तथा नेमिेश्वर राजुल सवाद में शीर्षक के अनुरूप सवाद शैली में नेमि के वैराग्यपूर्ण उत्तर और विरहिणी राजुल के प्रश्न मार्मिक रूप से प्रस्तुत हैं।

नेमिनाथाष्टक—रचयिता भूधरदास अठारहवीं शताब्दी मूर्धन्य साहित्यकारों में से हैं। 'नेमिनाथाष्टक' आठ छन्दों की एक स्वतन्त्र लघु कृति है जिसकी प्रति, गुटका न० ३६५ शास्त्र भण्डार श्री महावीर जी में है। कवि भूधरदास ने 'भूधर विलास' नामक पद संग्रह में नेमि राजुल पर अनेक पद लिखे हैं जिनका परिचय डा० प्रेमसागर जैन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में दिया है।

नेमिनाथ चरित्र—कवि अजयराज पाटणी ने सवत् १७६३ में नेमिनाथ चरित्र की रचना की थी। काव्य-सृजन की प्रेरणा इन्हें अम्बावती नगर के जिन मन्दिर में स्थापित तीर्थंकर नेमिनाथनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा को देख कर मिली। प्रस्तुत काव्य में कुल २६४ पद्य हैं और

इसकी संवत् १७६२ में लिपिबद्ध प्रति गुटका न० १०८ ठोलियों का मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भण्डार में प्राप्य है।

नेमि राजुल बारहमासा—रचनाकार लक्ष्मी वल्लभ खतर गच्छीय शाखा के उपाध्यक्ष लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। प्रस्तुत बारहमासा इन्होंने अठारहवीं शताब्दी के दूसरे चरण में लिखा था। काव्य में कुल १४ पद्य हैं जो सभी सवैया छन्द में निबद्ध हैं अतः गेयात्मकता सराहनीय बन पड़ी है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

उमड़ी विकट घनघोर घटा चिहं,—

ओरनि मोरनि सोर मचायो।

चमके दिवी दामिनी यामिनी कुपंथ,

भामिनी कुं पिय संग भायरे।

लिव चातक पीउ ही पीड़ लइ भई,

राजभती भुइं देह छिपायों।

पतिया वैन पाइ री प्रीतम की अलि,

श्रावण आयो पै नेम न आयो।

नेमि राजमती जखड़ी—हेमराज नाम के चार कवि हो चुके हैं। विवेच्य कृति के रचनाकार पाण्डे हेमराज हैं। डा० कासलीवाल ने अपनी पुस्तक 'कविवर बुलाहीदास, बुलाकीदास एवं हेमराज' में पाण्डे हेमराज रचित जखड़ी की जिस प्रति का परिचय दिया है उसे तिलोकचन्द पटवारी चाकसू वाले ने सवत् १७८२ में दिल्ली में लिपिबद्ध किया था। इस लघु रचना की एक प्रति बधीचन्द जी के मन्दिर, जयपुर गुटका न० १२४ में भी है।

नेमिकुमार की चूदड़ी—एक मुनि हेमचन्द्र रचित 'नेमि कुमार की चूदड़ी' देखने का लेखिका को अवसर मिला। यह कुल ६ पृष्ठों की लघु कृति है और इसकी पूर्ण प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरापथियों के शास्त्र-भण्डार के वेष्ठन ६१५ में संकलित है। गीत की टेक है "मेरी सील सूरगी चूदड़ी"।

नेमीश्वर रास—कवि नेमिचन्द्र ने नेमीश्वर रास की रचना सवत् १७६६ में की थी लेखिका को बधीचन्द जी के मन्दिर, जयपुर (वेष्ठन १००८) से जो प्रति प्राप्त हुई उसका लेखन काल स० १७८२ है। वस्तुतः यह एक सुन्दर बारह मासा है और कुल १२ छन्दों में राजुल की

व्यथा का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। रास का प्रारम्भ मंगसिर मास से किया है तथा गीत की टेक पक्ति है—

‘ऊ तो मोहि साहिब सांवला,
राणी राजल इमि पर वीन वै।’

नेमि राजुल गीत—१८वीं शताब्दी के भट्टा० शुभचन्द्र (द्वितीय) जो कि अभयचन्द्र के शिष्य थे ने भी नेमि-राजुल के जीवन घटनाओं पर आधारित भक्तिपरक गीतों की सृष्टि की थी। एक गीत की दो पक्तियाँ प्रस्तुत है—

कोन सखि सुधि लावे श्याम की।

मधुरी धुनि मुखचन्द विराजति राजमती गुण गावे ॥

नेमिनाथ रास—इसके रचयिता विजयदेव सूरि है। रास की एक पूर्ण प्रति जिसकी पत्र सख्या ४ तथा लिपिकाल सवत् १८२६ है। पाटोदी के मन्दिर, जयपुर (वेष्ठन न० १०२६) में एवं दो प्रतिया श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार (गुटका न० ३५ और २-६) में संग्रहीत है।

नेमिनाथ का बारह मासा—रचनाकार श्यामदास गोधा है और काव्य-रचना सवत् १७८६ में की थी। बारह मासे की पूर्ण प्रति बंधीचन्द जी के मन्दिर जयपुर के शास्त्र भण्डार गुटका न १६१ में है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी में कवि भवानीदास ने ‘नेमिनाथ बारह मासा’, नेमि हिण्डोलना; राजमती हिण्डोलना, और नेमिनाथ राजमती, गीत’ लिखे तथा कवि विनय विजय ने ‘नेमिनाथ भ्रमर गीत स्तवन’ और ‘नेमिनाथ बारह मासा’ की थी। इनका उल्लेख डा० प्रेमसागर जैन ने ‘हिन्दी जैन भक्ति काव्य कवि’ शीर्षक पुस्तक में किया है। नेमि विषयक साहित्य की रचना उन्नीसवीं शताब्दी में भी रुकी नहीं पर प्रमाण में अवश्य कमी आ गई। इस शती की रचनाओं का परिचय निम्नलिखित है।

नेमि चन्द्रिका—१९वीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियों में मनरगलाल विरचित ‘नेमि चन्द्रिका’ है। इसकी रचना सवत् १८८० में हुई थी। लेखिका को दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरापयियों का जयपुर (वेष्ठन ६१६) से जो प्रति मिली उसका लिपिकाल सवत् १८८३ व लिपिकार खुशालचन्द पत्नीवाल है। पत्र सख्या १६ तथा कुल

छन्द सख्या ८६ है। कन्नौजी भाषा प्रभावित इस खण्ड काव्य को कवि ने दोहा, चौपाई, सोरठा आदि छन्दों में निबद्ध किया है। इस कृति पर समीक्षात्मक लेख डाक्टर नेमिचन्द शास्त्री ने ‘हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन’ पुस्तक के भाग १ में लिखा है।

नेमि-चरित्र—जयमल कवि विरचित इस कृति का रचनाकाल सवत् १८०४ है और इसकी प्रतियाँ श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार, जयपुर में संग्रहीत है।

नेमिनाथ के दश भव—इसकी रचना सेवण कवि ने की थी। इस सधु कृति की संवत् १९१८ में लिपिबद्ध प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर विजयराम पांडया, जयपुर के शास्त्र भण्डार (वेष्ठन ३५४) तथा एक प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार के गुटका न० १६० में उपलब्ध है।

नेमि जी का चरित्र—आणंद कवि विरचित ‘नेमि जी का चरित्र’ का रचनाकाल सवत् १८०४ है। इसकी सवत् १८५१ में लिखी गई प्रति पाटोदी के मन्दिर, जयपुर (वेष्ठन २२५७) तथा एक श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार (गुटका न० १४ में है।)

नेमि जी राजुल ब्राह्मलो—कवि गोपीकृष्ण कृत सवत् १८६३ की रचना है। इसकी अपूर्ण प्रति पाटोदी के मन्दिर, जयपुर में है जिसकी प्रारम्भिक पक्तियाँ हैं—

श्री जिन चरण कमल नमो नमो अणगार।

नेमिनाथ रठाल तणे व्याहलो कहुं सुखदाय।

नेमि ब्राह्मलो—इसकी सवत् १८४८ में कवि हीरा ने लिखा था। काव्य की एक पूर्ण प्रति जिसकी कुल पृष्ठ सख्या ११ है बंधीचन्द जी के मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भण्डार, वेष्ठन ११५० में है।

नेमिनाथ पुराण—भागचन्द लिखित यह एक मात्र गद्य कृति है। इसकी पत्र सख्या १६६ तथा रचनाकाल सवत् १९०७ है। लेखिका ते जिस प्रति का अध्ययन किया वह गोधा के मन्दिर, जयपुर के भण्डार में (वेष्ठन १५३) संग्रहीत है। कृति के प्रारम्भ में ही लेखक ने स्पष्ट किया है “जो पुराण पूर्वं गुण भद्रादि आचार्य निकरि कह्या ताही में अल्पज्ञानी कहूंगा।” अतः कथ्य की दृष्टि से तो नहीं परन्तु खड़ी बोली हिन्दी की गद्य भाषा के

विकास क्रम को जानने की दृष्टि से यह पुराण महत्वपूर्ण है।

बीसवीं शताब्दी के विवेच्य विषय से सम्बन्धित केवल एक कृति का परिचय मिला है वह है कवि बालचन्द्र जैन रचित 'राजुल' खण्ड काव्य। यह काव्य साहित्य साधना समिति काशी से सन् १९४८ में प्रकाशित हुआ था। कथा में नवीनता यह है कि कवि ने विवाह सम्बन्ध निश्चित होने से पूर्व ही नेमि कुमार और राजुल का साक्षत्कार द्वारिका की वाटिका में कराया है। वहाँ नेमिनाथ एक मतवाले गज से उग्रसेन-कन्या राजीमती की रक्षा करते हैं। इस प्रकार पूर्व राग से राजुल की विरह-व्यथा की मर्मस्पर्शिता और भी बढ़ गई है। एक अंश प्रस्तुत है...

किया समपित हृदय आज तन भी मैं गीवू।

जीवन का सर्वस्व और धन उनको सौपू॥

रहें कही भी किन्तु सदा वे मेरे स्वामी।

मैं उनका अनुकरण करूँ वन पथ अनुगामी॥

अनेक ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनके रचनाकाल के सम्बन्ध में अभी जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी है। उक्त संक्षिप्त उल्लेख अभीष्ट है। हाँ! उन कृतियों का, जिनकी संख्या भी कुछ नहीं, उल्लेख नहीं किया जा रहा जिनके रचनाकार और रचनाकाल का भी पता नहीं।

नेमिनाथ रास—कवि ऋषि रामचन्द्र कृत पत्र-संख्या ३। पूर्ण प्रति, पाटोदी का मन्दिर, जयपुर, वेष्टन २१४०।

नेमि स्तवन—ऋषि शिव, पत्र संख्या २। पूर्ण प्रति पाटोदी का मन्दिर, जयपुर वेष्टन १०८८।

नेमि स्तवन—जित सागर गणि। कुल पृष्ठ संख्या १। पूर्ण प्रति उक्त भण्डार वेष्टन १२१५।

नेमि गीत—कवि पामचन्द्र। उक्त भण्डार, वेष्टन १८४७।

नेमि राजमती गीत—कवि हीरानन्द। उक्त भण्डार, वेष्टन २१७४।

नेमि राजमती गीत—छीतरमल। पत्र संख्या १। उक्त शास्त्र भण्डार वेष्टन २१३५।

राजुल सज्जाय—पं० जिनदास कृत ३७ पदों की रचना। दिगम्बर जैन मन्दिर विजयराम पाडया, जयपुर

का शास्त्र भण्डार गुटका ५५ वेष्टन २७२।

नेम व्याह पञ्चीसो—कवि वेगराज। पूर्ण प्रति, दिगम्बर जैन मन्दिर वोरमली, कोटा काशास्त्र भण्डार गुटका न० ३ वेष्टन ३५२।

नेमिनाथ स्तवन—पं० कुशलचन्द्र। इसकी प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार में गुटका नं० ५६ में है।

नेमिनाथ का व्याहला—नाथ कवि। एक प्रति बघीचन्द जी का मन्दिर जयपुर वेष्टन ६७ तथा एक प्रति दिगम्बर जैन दीवान जी का मन्दिर, गुटका नं० ११ वेष्टन ३६।

राजुल नेम का बारह मामा—कानिबिजय रचित इस कृति की प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है।

नेमि जी की लहर—पं० डूंगो। इसकी प्रति श्री महावीर जी के भण्डार में 'नेमिनाथ फावु' नाम से है तथा बघीचन्द जी के मन्दिर जयपुर में 'नेमि जी की लहर' शीर्षक से (वेष्टन १२७८)।

नेम राजुल गीत—बुगरमी बैनाडा। प्रति बघीचन्द जी का मन्दिर, जयपुर वेष्टन १२७६।

नेमिनाथ की विनती—चद कवि आमेर शास्त्र-भण्डार, श्री महावीर जी, गुटका २५।

नेमि शीत—लब्धि विजय कृत। ढोलियों का मन्दिर जयपुर, गुटका नं० ६७।

नेमिनाथ मंगल—लालचन्द कवि। एक प्रति ढोलियों का मन्दिर, जयपुर गुटका १२४ एक प्रति पाटोदी का मन्दिर, जयपुर गुटका नं० ४१ तथा एक प्रति दिगम्बर जैन अग्रवाल पचायती मन्दिर, अलवर, गुटका नं० ६ में संग्रहीत।

बारहमासा राजुल—कवि हरदेवदास। शास्त्र-भण्डार श्री महावीर जी गुटका नं० ४६१।

नेमि जी की डोरी—ब्रह्म नाथु। पूर्ण प्रति, दि० जैन पचायती मन्दिर, बयाना के शास्त्र भण्डार गुटका नं० १, वेष्टन १५० में सकलित है।

नोट—विद्वानों की आलाचनात्मक सम्मतियाँ आमन्त्रित है।

३, सदर बाजार

लखनऊ-२२६००२।

महाकवि अर्हदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

□ डा० कपूर चन्द जैन, खतोली

पुरूदेव चम्पू

महाकवि अर्हदास की प्रतिभा का चरम निदर्शन 'पुरूदेव चम्पू' है। इसमें आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की कथा वर्णित है। आरम्भ के तीन स्तवकों में ऋषभदेव के पूर्व भवों का सातिशय वर्णन है। बाद के ७ स्तवकों में ऋषभ देव, भरत एवं बाहुबली का चरित्र चित्रित है।

इसका कथा भाग अत्यन्त रोचक है, जिस पर अर्हदास की नवनबोन्मेष शालिनी प्रतिभा से सम्पृक्त नई-नई कल्पनाओं तथा श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारों के पुट ने इसके सौन्दर्य को ओर अधिक वृद्धिगत कर दिया है। यही कारण है कि अजितसेन जैसे काव्य-शास्त्रियों ने पुरूदेव चम्पू के पद्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

इसकी कथावस्तु महापुराण से ली गई है जिसमें अनेक परिवर्तन किये गए हैं। इसका अंगीरस शात है। रसानुकूल माधुर्य गुण की मधुरता यत्र तत्र विद्यमान है। अनेक गद्य वाणमट्ट की टक्कर लेते हैं। कुल २३ छन्दों का प्रयोग पुरूदेव चम्पू में हुआ है। अर्हदान का प्रिय अलंकार श्लेष है इसमें भरत बाहुबलि के युद्ध का सुन्दर चित्रण हुआ है। संक्षिप्त कथा वस्तु निम्न है—

प्रथम स्तवक में मंगलाचरण के उपरान्त कहा गया है कि राजा अतिबल के पुत्र महाबल के मन्त्री का नाम स्वयंबुद्ध था। महाबल २२ दिन की सल्लेखना के साथ मरकर ललितांग देव हुआ। वही स्वयं प्रभा नाम की देवी उत्पन्न हुई। (द्वितीय स्तवक) ललितांग का जीव वज्रजंघ और स्वयं प्रभा का चोब श्रीमती राजपुत्री हुआ। पण्डिता धाय के माध्यम से दोनों का मिलन हुआ। (तृतीय स्तवक) वज्रजंघ और श्रीमती ने पचास युगल पुत्रों को उत्पन्न किया और आर्य दम्पती हुए, इसके बाब श्रीधर तथा स्वयंप्रभदेव हुए। श्रीधर का जीव

सुविध राजा बाद में अच्युतेन्द्र तदनन्तर ब्रजनाभि राज-पुत्र और अन्त में अहमिन्द्र हुआ। (चतुर्थ स्तवक) महाराज नाभिराज और रानी मरुदेवी से उक्त अहमिन्द्र वृषभ नामक राजपुत्र हुआ। तीर्थंकरोचित गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक मनाये गए। (पंचम स्तवक) इसमें भगवान् के अभिषेक और बाल-क्रीड़ाओं का सुन्दर वर्णन हुआ है।

(षष्ठ स्तवक) इसमें ऋषभदेव की विवाह और उनके १०१ पुत्र तथा ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो कन्याओं के जन्म का वर्णन है भरत की वाल्यावस्था का सुन्दर चित्रण यहां हुआ है। (सप्तम स्तवक) ऋषभदेव ने पुत्र पुत्रियों को विभिन्न शास्त्रों और कलाओं का उपदेश दिया। ऋषभदेव के राज्याभिषेक के बाद नीलांजना का नृत्य और भगवान् के वैराग्य तथा दीक्षा कल्याणक का सुन्दर वर्णन हुआ है। (अष्टम स्तवक) इसमें ऋषभदेव की तपस्या और राजा श्रेयांस द्वारा इक्षुरस के आहार का वर्णन है। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को भगवान् को केवल-ज्ञान हुआ। देवताओं ने दीक्षा कल्याणक मनाया। (नवम स्तवक) इसमें भरत की दिग्विजय और अयोध्या लौटने का वर्णन है। (दशम स्तवक) में भरत और बाहुबलि के तीन युद्धों, बाहुबलि की दीक्षा, केवल ज्ञान, मुक्ति तथा भरत की दीक्षा और मुक्ति का वर्णन है। माघ कृष्ण चतुर्दशी को भगवान् ऋषभदेव निवाण को प्राप्त हुए। अन्तिम मंगलाचरण के साथ काव्य समाप्त हो जाता है—

जयतां मृदुगम्भीरैर्वचनैः परिनिवृत्तेर्हेतुः।

सुरसार्थं सेवितपदः पुरूदेवस्तत्प्रबन्धश्च॥

मुनि सुव्रत काव्य :

अर्हदास की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति मुनिसुव्रतकाव्य है। स्वयं कवि ने इसे 'काव्य रत्न' कहा है। यह दस सगों का महा काव्य है जिसमें बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी

का जीवन चरित्र अंकित है। कथा मूलतः महापुराण से ली गई है। कवि ने कथानक को मूलरूप में ग्रहण कर प्रासंगिक और अवांतर कथाओं की योजना नहीं की है। इस पर एक प्राचीन सस्कृत टीका प्राप्त है जिसे ग्रंथ के सम्पादक पं० हरनाथ द्विवेदी ने अर्हदास कृत होने की सम्भावना प्रकट की है। टीका में वर्णनानुसार सर्गों के नाम दिये गए हैं। काव्य में कुल ४०८ श्लोक हैं। डा० श्यामशरण दीक्षित इसे पौराणिक महाकाव्य मानते हैं। इसमें धार्मिक भावनाओं का प्राधान्य है। स्वयं अर्हदास ने इसे जिन स्तुति कहा है। इसके नायक तीर्थंकर मुनि सुव्रत-नाथ धीर प्रशान्त है। महाकाव्य के लक्षणानुसार इसमें मंगलाचरण, सज्जन प्रशंसा तथा दुर्जन निन्दा है। अंगीरस शान्त है। अंग रसों में शृंगारादि पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुए हैं।

इसका कथानक ऐतिहासिक है तथा चार पुरुषार्थों में से धर्म और मोक्ष-प्राप्ति इसके फल हैं। संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय ऋतु आदि का विस्तृत वर्णन यहां हुआ है। सभी काव्यात्मक गुणों से विभूषित इस काव्य की सर्गानुसार कथा वस्तु निम्न है—

‘भगवद्भिजन वर्णन’ नामक प्रथम सर्ग में मंगलाचरणोपरान्त कहा गया है कि जम्बूद्वीपस्थ आर्यखंड में मगध नाम का एक देश है। ‘भगवज्जननी जनक वर्णन’ दूसरे सर्ग में राजगृह के शासक सुमित्र और उसकी रानी पद्मावती का सौन्दर्य चित्रण है। ‘भगवत् गर्भावतार वर्णन’ नामक तीसरे सर्ग में कहा गया है कि रानी पद्मावती ने सोलह स्वप्न देखे अनन्तर श्रावण कृष्ण द्वितीया को श्रावण नक्षत्र तथा शिव योग में गजाकरा से मुनि सुव्रतनाम तीर्थंकर ने पद्मावती के शरीर में प्रवेश किया देवताओं ने गर्भ कल्याणक मनाया।

‘भगवज्जननोत्सव वर्णन’ में देवताओं द्वारा पौराणिक और जैन परस्पर प्राप्त जन्म कल्याणक में इन्द्राणी द्वारा जिनेन्द्र को लेने के लिये अन्तःपुर में जाने का वर्णन है। ‘भगवन्मन्दरानयन वर्णन’ नामक पाचवें सर्ग तथा ‘भगवज्जन्माभिषेक वर्णन’ में सुमेरु पर्वत की पाण्डुक शिला पर अभिषेक का तथा ‘भगवत्कीमारधौवनदारकर्म साम्राज्य वर्णन’ सर्ग में नामानुरूप कुमारवस्था और साम्राज्य का वर्णन है।

‘भगवत्परिनिष्क्रमण वर्णन सर्ग’ में भगवान् के केश-

लेंच पञ्चाश्चर्य, आहारदान आदि का वर्णन है यहीं दीक्षा कल्याणक का भी वर्णन है। नवम सर्ग का नाम भगवत्तपो वर्णन है जिसमें मुनिसुव्रत नाथ की तपस्या का वर्णन है अन्तिम दशम सर्ग से भगवान् की जीवन और विदेह मुक्ति का वर्णन में इसी कारण इसका नाम ‘भगव-दुभय-मुक्ति वर्णन’ है। इस प्रकार तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ का समग्र चरित्र अत्यन्त मनोरम शैली में उक्त महाकाव्य में चित्रित है।

तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में से २०वें तीर्थंकर हैं। ‘मुनि सुव्रत काव्य’ के अतिरिक्त अन्य कोई महाकाव्य उनके चरित्र पर लिखा सम्भवतः उपलब्ध नहीं है।

भव्यजनकण्ठाभरण :

महाकवि अर्हदास की प्रतिभा का तीसरा निदर्शन ‘भव्यजनकण्ठाभरण’ है जो सचमुच में भव्यजीवों के द्वारा कण्ठ में आभरण रूप से ही धारण करने योग्य है। महाकवि ने २४२ पद्यों में देव, शास्त्र, गुरु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्दान, सम्यक्चारित्र्य का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया है। भव्यजनकण्ठाभरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कहीं भी व्यर्थ विस्तार नहीं है, हां जितना आवश्यक है, उतना छोड़ा भी नहीं गया है। संक्षेप में आवश्यक बात को निबद्ध करना अर्हदास की अपनी विशेषता है। अन्तिम पद्य में ‘अर्हदास’ नाम आने से इसमें कोई संशय नहीं कि यह कृति अर्हदास की ही है। इसके साथ ही, जैसा कि हम पीछे बता चुके हैं, पुरुदेव चम्पू तथा मुनि सुव्रत काव्य की तरह भव्यजनकण्ठाभरण के पद्य २३६ में भी आशाधर का नाम बड़े सम्मान के साथ अर्हदास ने लिया है। भव्यजनकण्ठाभरण पर समन्तभद्र के रत्नकरण्ड आचकाचार का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

काव्य के प्रथम पाँच पद्यों में कवि ने पंच परमेष्वी को नमस्कार करने के बाद भव्यजनकण्ठाभरण के निर्माण की प्रतिज्ञा की है। आगे काव्य का प्रारम्भ करते हुए एक ही पद्य के द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से ग्रन्थ में वर्ण्य विषय का निर्वेश कर दिया है। तदनन्तर तर्कपूर्ण शैली में आप्त की परिभाषा दी गई है। १२वें पद्य में कहा है कि यदि सब देशों और कालों को जानकर आप कहते हैं कि आप्त नहीं (शेष पृ० २६ पर)

गतांक से आगे :

भगवती आराधना में तप का स्वरूप

□ कु० निशा, विज्नौर

परिहार—आगम में कथित विधान के अनुसार दिवस आदि के विभाग से अपराधी मुनि को संघ से दूर कर देना परिहार प्रायश्चित्त है। यह निजगुणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान और पारंरिक के भेद से तीन प्रकारका है।

व्युत्सर्ग—मलोत्सर्ग आदि में अतीचार लगने पर प्रशस्त ध्यान का अवलम्बन लेकर अन्तर्मुहूर्त आदिकाल-पर्यन्त कायोत्सर्ग पूर्वक अर्थात् शरीर से ममत्व त्यागकर खड़े रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

श्रद्धान—जिसने अपना धर्म त्यागकर मिथ्यात्व को स्वीकार कर लिया है, उसे पुनः दीक्षा देने को श्रद्धान प्रायश्चित्त कहते हैं। उसको उपस्थान प्रायश्चित्त भी कहा जाता है।

विनय—विनयतीति विनयः 'विनय' वि उपसर्गपूर्वक 'नी नयने' धातु से बना है। यह विनय का निरुक्त्यर्थ है। विनयति के दो अर्थ हैं—दूर करना और विशेष रूप से प्राप्त करना। अर्थात् जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है और विशेष रूप से स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराती है वह विनय है। इसी प्रकार क्रोधादि कपायो और स्पर्शन आदि इन्द्रियों का सर्वथा निरोध करने को या शास्त्र-विहित कर्म में प्रवृत्ति करने को या सम्यग्दर्शन आदि और उनसे सम्पन्न साधकों पर अनुग्रह करने वाले राजाओं का यथायोग्य उपकार करने को विनय कहते हैं। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और तप विनय और उपचार विनय के भेद से विनय पांच प्रकार की होती है। तत्त्वार्थ शास्त्र के विचारकों ने दर्शन ज्ञान, चारित्र और उपचार ये चार भेद विनय के कहे हैं।

ज्ञान विनय—काल, विनय, उपधान, बहुमान, निहृष, व्यञ्जन शुद्धि; अर्थशुद्धि उभय शुद्धि ये ज्ञान सम्बन्धित विनय आठ प्रकार की हैं। सागार धर्माभूत में लिखा है—शब्द, अर्थ और दोनों की शुद्धतापूर्वक गुरु

आदि का नाम न छिपाकर तथा जिस आगम का ग्रह्ययन करना है उसके लिए विशेष तप अपनाते हुए, आगम में तथा उसके ज्ञाताओं में भक्ति रखते हुए, स्वाध्याय के लिए शास्त्रविहित काल में, पीछी सहित हाथ जोड़कर, एकाग्रचित्त से मन; वचन, काय की शुद्धिपूर्वक जो युक्ति-पूर्वक आगम का अध्ययन, चिन्तन, व्याख्यान आदि किया जाता है वह ज्ञानविनय है, वह आठ प्रकार का है।

दर्शन विनय—उपगूहन आदि तथा भक्ति आदि गुणों को धारण करना और शका जादि का त्याग करना ही दर्शन विनय है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवाद का नाश करना आसादना को दूर करना दर्शन विनय है। अनगार धर्माभूत में दर्शन विनय को द्वादश प्रकार कहा है—शका, कांक्षा आदि अविचारों को दूर करना दर्शन विनय है। इसी प्रकार उप-गूहन, स्थितिकरण आदि गुणों से युक्त करना भी दर्शन विनय है। तथा अर्हन्त आदि के गुणों में अनुरागरूप शक्तिपूजा, विद्वानों की सभा में युक्ति बल से जिन शासन को यशस्वी बनाना और उस पर लगे मिथ्या दोषों को दूर करना, अवज्ञा भाव दूर करके आदर उत्पन्न करना ये सभी दर्शन विनय हैं।

चारित्र विनय—इन्द्रिय और कषाय रूप से आत्मा की परिणिन न होना गुणित्यां और समितियां संक्षेप रूप से पालना चारित्र विनय है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है—कर्मों के ग्रहण में निमित्त क्रियाओं को त्यागना ही चारित्र विनय है। इन्द्रियों के रुचिकर और अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष को त्यागकर, उत्पन्न हुए क्रोध, मान, माया और लोभ का छेदन करके, समितियों में उत्साह करके, शुभ मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों में आदर रखते हुए तथा व्रतों की सामान्य और विशेष भावनाओं के द्वारा अहिंसा आदि व्रतों को निर्मल करता हुआ पुण्यात्मा साधु

स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी के पोषक चारित्र्य विनय को करता है ।

तप विनय—उत्तर गुण अर्थात् समय में उद्यम, सम्यक् रीति से भूख-प्यास आदि को सहन करना, तप में श्रद्धा, उचित छह आवश्यकों में न्यूनता या आधिक्य न होना, तपोधिक साधु में और तप में भक्ति तथा अपने से तप में हीन मुनियों का तिरस्कार न करना यह आगमानुसार आचरण करने वाले मुनि की तप विनय है । रोग आदि होने पर अथवा रागादि को दूर करने के लिए जो पूर्वोक्त आवश्यकों को पालता है, परिग्रहों को सहता है, उत्तर गुणों में अथवा ऊपर के गुण स्थानों में जाने का इच्छुक है, जो तपोवृद्धों और अतृप्त आदि तपो का सेवन करता है तथा जो तपोहीन की अवहेलना न करके यथायोग्य आदर करता है, वह साधु तप विनय का पालक होता है ।

उपचारविनय—पाँचवी औपचारिक विनय कायिक, वाचनिक और मानसिक के भेद से तीन प्रकार की है और वह तीनों विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार की है ।

कायिक विनय—खड़े होना, वन्दना करना, शरीर को नम्र करना, दोनों को जोड़ना, सिर को नवाना, गुरु के बैठने अथवा खड़े होने पर उनके सामने जाना, जाते हुए के पीछे-पीछे गमन करना, नीचा स्थान, नीचा गमन, नीचा आसन, नीचे सोना, आसन देना, उपकरण देना और अवकाश दान ये उपचार विनय के प्रकार हैं । इसी प्रकार गुरु आदि के अनुकूल स्पर्शन, अवस्था के अनुरूप वैयावृत्य करना, आज्ञा का पालन करना, तृण आदि का संधारा करना, उपकरणों की प्रति लेखना करना इसी प्रकार और भी जो उपकार यथायोग्य अपने शरीर द्वारा किया जाता है वह कायिक विनय है । कायिक विनय के सात भेद हैं । ७ भेद इस प्रकार हैं—अभ्युत्थान, सन्नति, आसनदान, अनुप्रदान, प्रतिरूप क्रियाकर्म, आसन, त्याग और अनुग्रजन । अनगर धर्माभूत में कहा है—सिद्धि के इच्छुक साधुओं को गुरुजनों के उपस्थित होने पर सात प्रकार की काय सम्बन्धी औपचारिक विनय करनी चाहिए । उनका

विवरण इस प्रकार है—उनके आने पर आदर पूर्वक खड़े होना, उनके योग्य पुस्तक आदि देना, ऊँचे आसन पर नहीं बैठना, जाते हुए के साथ कुछ दूर तक जाना, उनके लिए आसनादि लाना, काल भाव और शरीर के योग्य कार्य करना और प्रणाम करना है ।

वाचिक विनय—पूजापूर्वक वचन, हितकारी, मित भाषण, मधुर भाषण, गृहस्थों के सम्बन्ध से रहित वचन, सूत्रानुसार वचन, अनिष्टुर और अकर्कश वचन, उपशान्त वचन, क्रिया से रहित वचन, अवज्ञा से रहित वचन बोलना वाचिक विनय है । यह वाचिक विनय यथायोग्य करने योग्य होती है । वाचिक विनय चार प्रकार की है—हित वचन, मित वचन, परिमित वचन और सूत्रानुसार वचन । अनगर धर्माभूत में भी विनय के इन्हीं चार भेदों का उल्लेख किया गया है ।

मानसिक विनय—पाप को लाने वाले परिणामों को न करना, प्रिय और हित में ही परिणाम लगाना संक्षेप में यही मानसिक विनय है । मानसिक विनय के दो भेद हैं—अशुभ मन की निवृत्ति तथा शुभ मन की प्रवृत्ति, अनगर धर्माभूत में कहा है कि अशुभ भावों को रोकता हुआ और धर्मापार के कार्यों में तथा सम्प्रज्ञानादि विषय में मन को लगाता हुआ मुमुक्षु दो प्रकार की विजय को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, तथा गुरु के अभाव में भी आज्ञा निर्देश का आचरण करने पर परोक्ष विनय होती है । अतः मुनि को प्रमाद रहित होकर यह विनय गुरु के अतिरिक्त अपने से उत्कृष्ट तथा अपने से हीन मुनि में आधिकाओं में, गृहस्थों में भी करनी चाहिए ।

विनय का महत्त्व—विनय मोक्ष का द्वार है । विनय से समय और ज्ञान की प्राप्ति होती है ! उसके द्वारा आचार्य और सर्वस्य आराधित होता है । विनय से ही मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा सफल है । विनय शिक्षा का फल है । और विनय का फल सर्वकल्याण है । आचार, जीवो गुणों का प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्य का अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुत्व, भक्ति, अपने और दूसरों को प्रसन्न करना, कीर्ति, मित्रता, मान का नाश, गुरुओं

का बहुमान, तीर्थकरों की आज्ञा का पालन और गुणों की अनुमोदना ये सब वित्त के गुण हैं।

वैयावृत्य—सोने बैठने के स्थान और उपकरणों की प्रति लेखना करना, योग्य आहार, योग्य औषध का देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनि के शरीर का शोधन करना तथा एक करवट से दूसरी करवट लिटाना आदि उपकार वैयावृत्य है। मार्ग के श्रम से थकित, चोरो हिंस्र-जन्तुओं, नदी रोधकों और भारी रोग से जो मुनि पीड़ित है तथा दुर्भिक्ष में फसे है, ऐसे मुनियों को धैर्य आदि देना तथा उनका संरक्षण करना वैयावृत्य कहा जाता है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, श्लान, गुण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ के भेद से वैयावृत्य दस प्रकार का है। आचार्य आदि इन दस प्रकार के मुनियों के क्लेश और संक्लेश को दूर करने में जो साधु मन, वचन और काय का व्यापार करता है, वह वैयावृत्य है और उसे करना चाहिए। वैयावृत्य के गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धान, तप, धर्म तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि आदि अनेक गुण हैं। वैयावृत्य से सर्वश की आज्ञा का पालन, आज्ञा का समय, वैयावृत्य करने वाले का उपकार, निर्दोष रत्नत्रय का दान, संयम में सहायता, श्लानि का विनाश, धर्म की प्रभावना तथा कार्य का निर्वाह होता है।

निन्दनीय वैयावृत्य—अपने बल और वीर्य को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के द्वारा कथित क्रमानुसार यदि वैयावृत्य को नहीं करता तब वह मुनि धर्म से बहिष्कृत होता है। वैयावृत्य न करने से तीर्थकरों की आज्ञा का भंग, श्रुत में कथित धर्म का नाश, आचार का लोप तथा आत्मा, साधु वर्ग और प्रवचन का त्याग होता है।

वैयावृत्य का फल—वैयावृत्य से साधु गुणपरिणामादि कारणों के द्वारा तीनों लोकों को कम्पित करने वाले तीर्थकर नामक पुण्यकर्म का बन्ध करता है। वैयावृत्य से अपना और दूसरों दोनों का ही उपकार होता है। अन्यत्र कहा है कि जिस साधु या श्रावक का हृदय मुक्ति में तत्पर साधुओं के गुणों में आसक्त होने के कारण उन

साधुओं पर मुक्ति मार्ग का घात करने वाली कोई भी विपत्ति आने पर, उसे अपने ही ऊपर आई हुई जानकर शारीरिक चेष्टा से अथवा समय के अविरुद्ध औषधि, आहारादि द्वारा शान्त करता है अथवा मिथ्यात्वादि—विष को प्रभावशाली शिक्षा के द्वारा दूर करता है वह महात्मा इन्द्र, अहमिन्द्र तो क्या तीर्थकर पद के योग्य होता है। इससे एकाग्रचिन्ता, ध्यान, सनायता, श्लानि का अभाव, साधर्मिवात्सल्य आदि साधे जाते हैं।

स्वाध्याय—ज्ञानावरणादि कर्मों के विनाश के लिए तत्पर मुमुक्षु को नित्य स्वध्याय करना चाहिए। क्योंकि 'स्व' अर्थात् आत्मा के लिए हितकारक परमागम के 'अध्याय' अर्थात् अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं अथवा 'सु' अर्थात् सम्यक् श्रुत के अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं। इस प्रकार स्वाध्याय की दो निरुक्तियां हैं। वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से स्वाध्याय के पांच भेद हैं। निर्दोष ग्रन्थ के पढ़ने को वाचना कहते हैं। सन्देह निवारण के लिए अथवा निश्चित को दृढ़ करने के लिए सूत्र और अर्थ के विषय में पूछना प्रश्न है। जाने हुए अर्थ का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। कष्टस्थ करना आम्नाय है। आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं के करने को धर्मोपदेश कहते हैं। मूलाचार में स्वाध्याय के परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, और धर्मकथा भेद कहे हैं। अन्यत्र वाचना आदि स्वाध्याय के सम्बन्ध में कहा है—वित्त गुणों से युक्त पात्र को शुद्ध ग्रन्थ और अर्थ प्रदान करना वाचना स्वाध्याय है। प्रय और अर्थ के विषय में 'क्या ऐसा है या नहीं' इस सन्देह के निवारण के लिए अथवा 'ऐसा ही है' इस प्रकार के निश्चित को दृढ़ करने के लिए प्रश्न करना पृच्छना है। अध्ययन की प्रवृत्ति में होने के कारण प्रश्न को भी अध्ययन कहा जाता है अतः वह भी स्वाध्याय है। जाने हुए या निश्चित हुए अर्थ का मन से बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है इसमें भी स्वाध्याय का लक्षण पाया जाता है 'ग्रन्थ के शुद्धतापूर्वक पुनः पुनः उच्चारण को आम्नाय कहते हैं। देव वन्दना के साथ मंगल पाठपूर्वक धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश है।

स्वाध्याय का माहात्म्य—स्वाध्याय तप को सभी तपों से विशेष बताते हुए कहा गया है कि सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट बाह्य और आभ्यन्तर रूप बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान कोई तप नहीं है और न होगा। जो मुनि विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करते हैं वे उस समय पचेन्द्रियो के विषय व्यापार से रहित हो जाते हैं और शास्त्र का अध्ययन करने, चिन्तन करने में एकाग्रचित्त वाले हो जाते हैं। स्वाध्याय भावना से मुनि की सभी गुप्तियाँ भावित होती हैं और गुप्तियों की भावना से मरते समय रत्नत्रयरूप परिणामों की आराधना में तत्पर होती है। सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाखों, करोड़ों भवों में नष्ट करता है उसी कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों में युक्त होकर क्षण भर में नष्ट कर देता है। स्वाध्याय से मुमुक्षु की तर्कशील बुद्धि का उत्कर्ष होता है। परमागम की बुद्धि का पोषण होता है। मन, इन्द्रिया और सज्ञा अर्थात् भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा का निरोध होता है। सन्देह का छेदन होता है, क्रोधादि कषायों का भेदन होता है, प्रतिदिन तप में वृद्धि होती है, संवेग भाव बढ़ता है। परिणाम प्रशस्त होते हैं समस्त अतीचार दूर होते हैं। अन्यवादियों का भय नष्ट होता है तथा मुमुक्षु जिनागम की भावना करने में समर्थ होता है।

ध्यान—राग-द्वेष और मिथ्यात्व से अछूते, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले और अन्य विषयों में संचार न करने वाले ज्ञान को ध्यान कहते हैं। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का जो ज्ञान निश्चल होता है वही ध्यान तत्त्वार्थ सूत्र में उत्तम सहन करने वाले के एकाग्रचित्तानिरोध को ध्यान कहते हैं। यह आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान के भेद से चार प्रकार का है। इनमें प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त और शेष दो ध्यान प्रशस्त हैं।

आर्त ध्यान—कषाययुक्त आर्तध्यान के चार भेद हैं—अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, परीषह और निदान। ज्वर, शूल, शत्रु आदि अनिष्ट से मेरा वियोग कब होगा इस प्रकार से चिन्तन करना अनिष्ट संयोग नामक आर्त ध्यान है। पुत्र-पुत्री आदि इष्टजनों के साथ संयोग होने

पर कदाचित् भी वियोग न हो, इस प्रकार चिन्तन करना इष्टवियोग आर्त ध्यान है। क्षुधा, तृषा आदि परिषह के आने पर उनको दूर करने के लिए चिन्तन करना तीसरा आर्त ध्यान है। इस लोक में पुत्रादि की प्राप्ति और परलोक में देवादि होकर मुझे स्त्री, वस्त्रादि सभी प्राप्त हो जाएंगे। इस प्रकार का चिन्तन करना चौथा निदान नामक आर्त ध्यान है।

रौद्र ध्यान—कषाययुक्त रौद्र ध्यान भी चोरी, झूठ, हिंसा का रक्षण तथा छह आवश्यकों के भेद से चार प्रकार का होता है। परद्रव्य के हरण करने में तत्पर होना चोरी नामक प्रथम रौद्र ध्यान है। दूसरों को पीड़ा देने वाले असत्य वचन बोलने में यत्न करना झूठ नामक रौद्र ध्यान है। पशु, पुत्रादि के रक्षण के विषय में चोर, दायद अर्थात् भागीदार आदि के मारने में प्रयत्न करना तीसरा रौद्र ध्यान है। छह प्रकार के जीवों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस) के मारने के आरम्भ में अभिप्राय रखना चौथा रौद्र ध्यान है।

धर्म ध्यान—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागम में स्वाभाविक रुचि ये धर्म ध्यान के लक्षण हैं। एकाग्रतापूर्वक मन को रोक कर धर्म में लीन होना ही धर्मध्यान है। यह अज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय के भेद से चार प्रकार का होता है।

अज्ञाविचय—पाँच आस्तिकाय, छह जीवनिकाय और कालद्रव्य तथा अन्य कर्म बन्ध मोक्ष आदि को जो सर्वज्ञ की आज्ञा से गम्य है। अज्ञाविचय नामक धर्मध्यान के द्वारा विचारा जाता है। अच्छे उपदेष्टा के न होने से, अपनी बुद्धि मन्द होने से और पदार्थ के सूक्ष्म होने से जब युक्ति और उदाहरण की गति न हो तब ऐसी अवस्था में सर्वज्ञ के द्वारा कहे गए आगम को प्रमाण मानकर गहन पदार्थ का श्रद्धान करना कि 'यह ऐसा ही है' अज्ञाविचय है।

अपाय विचय—जिन भगवान के द्वारा कथित उपदेश के अनुसार कल्याण को प्राप्त कराने वाले उपाय का विचार अथवा जीवों के शुभ और अशुभ कर्म विषयक

अणुओं का विचार करना अपायविचयक है। मोक्ष के अभिलाषी होते हुए भी जो कुमार्गगामी है उनका विचार करते रहना कि वे मिथ्यात्व से किस तरह छूटे—यही विचय है।

विपाक विचय—जीवों के एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्य कार्य और पाप कर्म के फल का तथा उदय, उदीरण, संक्रमण, बन्ध और मोक्ष का चिन्तन करना ही विपाक विचय नामक धर्म है।

संस्थान विचय—पर्याप्त अर्थात् भेद रहित तथा वैरासन, झल्लरी और मृदग के समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का चिन्तन करना संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान है और इसी से संबधित अनुप्रेक्षाओं का भी विचार किया है। लोक के आकार तथा उसकी दशा का विचार करना ही संस्थानविचय है।

शुक्ल ध्यान—धर्म ध्यान पूर्ण कर लेने के पश्चात् क्षपक अति विशुद्ध लैश्या के साथ शुक्ल ध्यान को ध्याता है। शुक्ल ध्यान भी चार प्रकार का होता है—पृथक्त्व सवितर्क, सवितर्क एकत्व, सूक्ष्मक्रिया और समुच्छिन्नक्रिया।

पृथक्त्व सवितर्क—क्योंकि अनेक द्रव्यों को, तीन योगों के द्वारा उपशान्त मोहनीय गुणस्थान वाले मुनि ध्याते हैं, इसी कारण इसे पृथक्त्व कहते हैं। श्रुत को वितर्क कहा जाता है और पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु ही ध्याता है। इसी कारण इस ध्यान को सवितर्क कहा जाता है। तथा अर्थ व्यञ्जन और योगों के परिवर्तन रूप विचार के होने के कारण इस शुक्ल ध्यान को सवीचार भी कहा गया है।

एकत्व वितर्क—क्योंकि क्षीण कषाय गुण स्थानवर्ती मुनि के द्वारा एक ही योग का अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्य का ध्यान किया जाता है अतः एक ही द्रव्य का अवलम्बन लेने के कारण इसे एकत्व कहते हैं।

सूक्ष्म क्रिया—यह शुक्ल ध्यान श्रुत के अवलम्बन से रहित होने के कारण सवितर्क है और अर्थ व्यञ्जन और योगों का परिवर्तन रूप होने के कारण अवीचार। इसमें सोच्छ्वासादि क्रिया सूक्ष्म हो जाती है और सूक्ष्म

काययोग के होने पर ही होता है, इसी कारण इसे सूक्ष्म क्रिया कहा जाता है। सूक्ष्म काययोग में स्थित केवली उस सूक्ष्म काययोग को भी रोकने के लिए इस शुक्ल ध्यान को ध्याता है।

व्युत्सर्ग—परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। व्युत्सर्ग तप ही वि+उत्+सर्ग के मेल से बना है। 'वि' अर्थात् विविध, उत् अर्थात् उत्कृष्ट और सर्ग का अर्थ त्याग है। कर्मबन्ध के कारण विविध बाह्य और आभ्यन्तर दोषों का उत्तम त्याग अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिस्लाभादि की अपेक्षा से रहित त्याग व्युत्सर्ग है। यह व्युत्सर्ग का निरूपक है। यह आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार का है। क्रोधादि आभ्यन्तर तथा क्षोत्रादि द्रव्य बाह्य व्युत्सर्ग है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग—मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, चार कषायों इन चोदह अन्तरंग परिग्रहों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। अन्तर्गार धर्मामृत में व्युत्सर्ग का स्वरूप इस प्रकार किया है—पूर्वाचार्य कायत्याग को भी अन्तरंग परिग्रह का त्याग मानते हैं। यह कायत्याग नियतकाल और सार्वकालिक भेद से दो प्रकार का है। उनमें नियतकाल के भी नित्य और नैमित्तिक दो भेद हैं तथा सार्वकालिक त्याग के भक्त प्रत्याख्यान मरण, इग्निनी मरण और प्रायोपगमन मरण ये तीन भेद कहे हैं।

बाह्य व्युत्सर्ग—क्षेत्र, वास्तु, घन, धान्य, द्विपद, चतुष्पाद, यान, शयन, आसन, कुप्य और भाण्ड इन दस परिग्रहों का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है। जिस प्रकार तुष सहित चावल का तुष दूर किए बिना उयका अन्तर्मल का शोधन करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार बाह्य परिग्रह रूपी मल के त्याग के बिना उससे सम्बद्ध आभ्यन्तर कर्ममल का शोधन करना शक्य नहीं है।

व्युत्सर्ग तप से परिग्रहों का त्याग हो जाने से निर्ग्रन्थता की सिद्धि होती है। जीवन की आशा का अन्त, निर्भयता तथा रागादि दोषों की समाप्ति हो जाती है और रत्नत्रय के अभ्यास में तत्परता आती है।



‘नीतिवाक्यामृत’ में राजकोष की विवेचना

□ चन्द्रशेखर एम० ए० (अर्थशास्त्र)

‘नीतिवाक्यामृत’ आचार्य सोमदेव सूरि की प्रसिद्ध रचना है। इस ग्रन्थ का प्रणयन विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में किया गया और इसकी रचना चालुक्यों के राज्याश्रम में हुई। यह ग्रन्थ आचार्य सोमदेव के विख्यात चम्पू महाकाव्य के उपरान्त लिखा गया था। नीति-वाक्यामृत का प्रधान विषय है राजनीति। राज्य एवं शासन-व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी आवश्यक बातों का विवेचन किया गया है। राज्य के सप्तांग—अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, बल एवं मित्र के लक्षणों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। साथ ही राजधर्म की बड़े विस्तार के साथ व्याख्या की गई है। इस राजनीति प्रधान ग्रन्थ में मानव के जीवन-स्तर को समुन्नत करने वाली धर्मनीति, अर्थनीति एवं समाजनीति का विशद विवेचन मिलता है। यह ग्रंथ मानव-जीवन का विज्ञान और दर्शन है। यह वास्तव में प्राचीन नीति साहित्य का सारभूत अमृत है। मनुष्यमात्र को अपनी-अपनी मर्यादा में स्थिर रखने वाले राज्यप्रशासन एवं उसे पल्लवित-सर्वधन एवं सुरक्षित रखने वाले राजनीतिक तत्वों का इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है।

जैन सन्यासी होते हुए भी उन्होंने अर्थ के महत्त्व का भली-भांति अनुभव किया है। यह बात उनकी दूरदर्शिता की परिचायक है। नीतिवाक्यामृत में धर्म, अर्थ और काम की विशद व्याख्या की गई है। अर्थ पुरुषार्थ की व्याख्या करते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं—जिमसे प्रयोजनों की सिद्धि हो वह अर्थ है।

राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्यांगों में कोष को बहुत महत्त्व दिया है। आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि कोष ही राजाओं का प्राण है। संचित कोष सकट काल में राज्य रक्षा करता है। वही राज्य राष्ट्र को सुरक्षित रख सकता है जिनके पास विशाल कोष है। संचित कोष वाला राजा ही युद्ध को दीर्घकाल तक चलाने में समर्थ होता है। दुर्ग में स्थित होकर प्रतिरोधात्मक युद्ध को चलाने के लिए भी सुदृढ़ कोष की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसलिए

कोष को क्षीण होने से बचाने तथा संचित कोष की वृद्धि करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने अनेक उपाय बतलाये हैं। राजनीति के ग्रन्थों में अपने महत्त्व के कारण ही कोष एक स्वतन्त्र विषय रहा है। आचार्य सोमदेव ने भी अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओं की भांति इस विषय का भी विशद विवेचन किया है। नीतिवाक्यामृत में कोष समुद्देश्य कोष सम्बन्धी बातों का दिग्दर्शन करता है।

कोष की परिभाषा—आचार्य सोमदेव ने कोष समुद्देश्य के प्रारम्भ में ही कोष की परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार जो विपत्ति और सम्पत्ति के समय राजा के तन्त्र की वृद्धि करता है और उसको सुसंगठित करने के लिए धन की वृद्धि करता है वह कोष है। धनाढ्य पुरुष तथा राजा को धर्म और धन की रक्षा के लिये तथा सेवकों के पालन पोषण के लिए कोष की रक्षा करनी चाहिए। कोष की उत्पत्ति राजा के साथ ही हुई जैसा कि महाभारत के वर्णन से स्पष्ट होता है। उसमें लिखा है कि प्रजा ने मनु के कोष के लिए पशु और हिरण्य का पचीसवां भाग तथा धान्य का दसवां भाग देना स्वीकार किया।

कोष का महत्त्व—सम्पूर्ण आचार्यों ने कोष का महत्त्व स्वीकार किया है। आचार्य सोमदेव का पूर्वोक्त कथन—कोष ही राजाओं का प्राण है—इसके महान महत्त्व का द्योतक है। आचार्य सोमदेव आगे लिखते हैं कि जो राजा कोड़ी-कोड़ी करके अपने कोष की वृद्धि नहीं करता उसका भविष्य में कल्याण नहीं होता। आचार्य कौटिल्य कोष का महत्त्व बतलाते हुए लिखते हैं कि सबका मूल कोष ही है। अतः राजा को सर्वप्रथम कोष की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। महाभारत में भी ऐसा वर्णन आता है कि राजा को कोष की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि राजा लोग कोष के ही अधीन हैं तथा राज्य की उन्नति भी कोष पर आधारित है। कामन्द ने कहा है कि प्रत्येक से यही सुना जाता है कि राजा कोष के आश्रित हैं। कोष के इस महत्त्व के

कारण ही मनु ने लिखा है कि सरकार तथा कोष का निरीक्षण राजा स्वयं ही करे क्योंकि इनका सम्बन्ध राजा से ही है। याज्ञवल्क्य राजा को यह आदेश देते हैं कि उसे प्रति दिन राज्य की आय-व्यय का स्वयं निरीक्षण करना चाहिए तथा इम विभाग के कर्मचारियों द्वारा संग्रहीत स्वर्ण एवं धनराशि को कोष में जमा करना चाहिए। आचार्य सोमदेव का कथन है कि राज्य की उन्नति कोष से होती है, न कि राजों के शरीर से। आगे वे लिखते हैं कि जिसके पास कोष है, वही युद्ध में विजयी होता है।

इस प्रकार आचार्य कोष को राज्य की सर्वाङ्गीण उन्नति एवं उसकी सुरक्षा का अमोघ साधन मानते हैं। कोष वाले राजा को सेवक और सैन्य सब कुछ मुलभ हो सकते हैं परन्तु कोषहीन राजा को कोई भी वस्तु मुलभ नहीं होती। कोषविहीन राजा नाम मात्र का ही राजा है। क्षीण कोष वाला राजा अपनी प्रजा पर धन-संग्रह के लिए अनेक प्रकार के अत्याचार करता है। जिसके परिणामस्वरूप प्रजा दुखी होती है और वह उसके अत्याचार से तंग आकर उस देश को छोड़कर अन्यत्र चली जाती है। इससे राजा जन-शक्ति-विहीन हो जाता है।

उत्तम कोष—इस बात का समर्थन सभी विद्वान् करते हैं कि राज्य की प्रतिष्ठा, रक्षा एवं विकास के लिए कोष की परम आवश्यकता है। इसके साथ ही आचार्यों ने इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि कौन-सा कोष उत्तम है। आचार्य सोमदेव उत्तम कोष का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि जिसमें स्वर्ण, रजत का प्राबल्य हो और व्यावहारिक नाणको (प्रचलित मुद्राओं) की अधिकता हो तथा जो आपात्काल में बहुत व्यय करने में समर्थ हो वह उत्तम कोष है।

कोष के गुण—आचार्य सोमदेव ने कोष के गुणों की जो व्याख्या की है वह अधिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपत्तिकाल में धान्य और पशुओं के विक्रय से पर्याप्त धन प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जिन वस्तुओं का विक्रय तुरन्त हो सके, ऐसी ही वस्तुओं का अधिक मात्रा में संग्रह राजकोष में होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से सोमदेव ऐसी वस्तुओं का संग्रह करने के लिए राजा को परामर्श देते हैं। नाणक की भी कोष में बड़ी आवश्यकता

रहती है, क्योंकि सेना और अन्य राजकर्मचारियों को वेतन में नाणक (प्रचलित मुद्रा) ही देना पड़ता है। इस मुद्रा से व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का सरलतापूर्वक क्रय कर सकता है। स्वर्ण और रजत की अधिक मात्रा होने से नाणक तैयार किए जा सकते हैं। इसीलिए उत्तम कोष वही है जिसमें सोना और रजत अधिक मात्रा में हो। इसके अतिरिक्त यदि कोई शत्रु राजा के देश पर आक्रमण कर दे और उसके पास युद्ध करने के लिए पर्याप्त सेना न हो तो राजा साम-दामादि से शत्रु को लौटा सकता है। शत्रु को तभी धन से सन्तुष्ट किया जा सकता है जबकि राजा का कोष स्वर्ण एवं रजत से परिपूर्ण हो।

कोष-विहीन राजा की स्थिति

आचार्य सोमदेव सूरि ने धनहीन राजा की निन्दा की है, क्योंकि उनकी दृष्टि में राज्य की प्रतिष्ठा एवं सुरक्षा की आधारशिला कोष ही है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि धनहीन व्यक्ति को तो उसकी स्त्री भी त्याग देती है, फिर अन्य पुरुषों का तो कहना ही क्या? इसका अभिप्राय यही है कि धनहीन राजा को उसके सेवक तथा पदाधिकारी त्यागकर अन्य राजा की सेवा में चले जाते हैं। जिससे वह असहाय अवस्था को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। आचार्य का यह भी कहना है कि धनहीन व्यक्ति (राजा) चाहे कितना ही कुलीन एवं सदाचारी क्यों न हो, सेवकगण उसकी सेवा करने को प्रस्तुत नहीं होते क्योंकि वहां से उन्हें धन प्राप्ति की कोई आशा नहीं होती। इसके विपरीत नीच कुल में उत्पन्न हुए एवं चरित्र भ्रष्ट व्यक्ति से घनाढ्य होने के कारण उसे धन का स्रोत समझ कर सभी लोग उसकी सेवा को प्रस्तुत रहते हैं।

उक्त विवेचन का अभिप्राय है कि कुलीन और सदाचारी होने पर राजा को राजतन्त्र के नियमित तथा व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए न्यायोचित उपायों द्वारा कोष की वृद्धि करनी चाहिए।

आचार्य सोमदेव ने आगे लिखा है कि उस तालाब के विस्तीर्ण होने से क्या लाभ है जिसमें पर्याप्त जल नहीं है। परन्तु जल से परिपूर्ण छोटा तालाब भी इससे कहीं अधिक प्रशंसनीय है। सारांश यह है कि मनुष्य कुलीनता

आदि से बड़ा होने पर भी यदि दरिद्र है तो उसका बड़प्पन व्यर्थ है क्योंकि उससे कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। अतः नैतिक उपायों द्वारा धन का संग्रह करना महत्वपूर्ण बतलाया गया है।

रिक्त राजकोष की पूर्ति के उपाय—

आचार्य सोमदेव ने रिक्तराजकोष की पूर्ति के उपायों पर प्री प्रकाश डाला है। उनके अनुसार राजकोष की पूर्ति के निम्नलिखित उपाय हैं—

(१) ब्राह्मण और व्यापारियों से उनके द्वारा संचित किए गए धन में से क्रमशः धर्मानुष्ठान, यज्ञानुष्ठान और कौटुम्बिक पालन के अतिरिक्त जो धनराशि शेष बचे उसे लेकर राजा को अपनी कोष-वृद्धि करनी चाहिए।

(२) घनाढ्य पुरुष, सन्तान-विहीन धनी व्यक्ति विधवाओं का समूह और कापालिक-पाखण्डी लोगों के धन पर कर लगाकर उनकी सम्पत्ति का कुछ अंश लेकर अपने कोष की वृद्धि करे।

(३) सम्पत्तिशाली देशवासियों की प्रचुर धन राशि का विभाजन करके उनके भली-भांति निर्वाह योग्य धन छोड़कर उनसे प्रार्थना पूर्वक धन ग्रहण करके राजा को अपने कोष की वृद्धि करनी चाहिए।

(४) अचल सम्पत्तिशाली, मन्त्री, पुरोहित और अधीनस्थ सामन्तो से अनुनय विनय करके घर जाकर उनसे तन याचना करनी चाहिए।

इस प्रकार उक्त साधनों से राजा को अपने रिक्त राजकोष की वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। राजा को सदैव इस कार्य में प्रयत्नशील रहना चाहिए। कोष ही राज्य की प्राणशक्ति है और उसके अभाव में वह नष्ट हो जाता है।

उत्कोच लेने वाले राज्याधिकारियों से धन प्राप्त करना—

आचार्य सोमदेव ने उत्कोच लेने वाले राज्याधिकारियों की घोर निन्दा की है और उनसे राजा को सावधान रहने का परामर्श दिया है। आचार्य का मत है कि राजा को उन लोगों पर कठोर नियन्त्रण रखना चाहिए और उनके साथ कभी नहीं मिलना चाहिए। यदि राजा भी उनमें धन के लोभ से साक्षीदार हो जाएगा तो इससे

महान् अनर्थ होगा। उसका राष्ट्र और कोष सभी कुछ नष्ट हो जाएगा। इसके साथ ही सोमदेव ने उन उपायों का भी उल्लेख किया है, जिनके द्वारा उन राज्याधिकारियों से उत्कोच की धन राशि पुनः प्राप्त हो सकती है। इसका सर्व प्रमुख उपाय यही है कि राज्याधिकारियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाए, जिससे कि वे प्रजा से उत्कोच लेने का साहस ही न कर सकें। यदि नियन्त्रण रखने पर भी उन्होंने इस अनुचित रीति से धन संग्रह कर लिया है तो उस धन को राजा विभिन्न उपायों से ग्रहण कर ले।

अधिकारी लोग दुष्टव्रण के समान बिना कठोर दण्ड दिए घर में उत्कोच द्वारा संचित किया हुआ धन आसानी से देने को प्रस्तुत नहीं होते। उन्हें बार-बार उच्च पदों से साधारण पदों पर नियुक्त करके भयभीत करना चाहिए। अपनी अवनति से घबराकर वे उत्कोच का धन स्वामी को देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। जिस प्रकार वस्तु को बार-बार प्रस्तर पर पटकने से साफ किया जाता है उसी प्रकार अधिकारियों को उनके अपराध सिद्ध होने पर बारम्बार दण्डित करने से वे उत्कोच का धन राजा को सौंप देते हैं। अधिकारियों में आपसी फूट होने से भी राजा के कोष की वृद्धि होती है। इसका तात्पर्य यह है कि अधिकारी वर्ग आपस में फूट के कारण एक दूसरे का अपराध राजा के सम्मुख प्रकट कर देते हैं, जिसके कारण उत्कोच आदि से संचित किया हुआ धन अधिकारी वर्ग से राजा को सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार इन समस्त साधनों से राजकोष की वृद्धि की जाती थी। आचार्य सोमदेव ने अधिकारियों की सम्पत्ति को राजाओं का द्वितीय कोष बतलाया है जो कि यथार्थ ही है। आपत्तिकाल में राजा अधिकारियों से प्रार्थनापूर्वक धन प्राप्त कर सकता है ऐसा आचार्य का मत है। इसी कारण अधिकारियों की सम्पत्ति को राजाओं का द्वितीय कोष बतलाया गया है।

उपरोक्त विवरण में यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य सोमदेव सूरि केवल एक धर्माचर्य उच्चकोटि के दार्शनिक, अलौकिक तार्किक, विभिन्न विद्याओं के ज्ञाता एवं उद्भट विद्वान् ही नहीं थे, अपितु वे उच्च-

कोटि के अर्थशास्त्री भी थे। अर्थशास्त्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म सिद्धांतों का आचार्य को पूर्ण ज्ञान था। वे एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे और इस बात को भली-भांति जानते थे कि धन के बिना राज्य का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत में कोष समुद्देश्य का समावेश किया तथा अन्य समुद्देश्यों में भी यत्र-तत्र अर्थशास्त्रों के गूढ़ सिद्धांतों की विवेचना की है। धर्माचार्य होते हुए भी उन्होंने अर्थ के महत्त्व को है तथा कोष को राजाओं का प्राण बतलाया है। उन्होंने धर्म, अर्थ, और काम तीनों पुरुषार्थों का ही समरूप से

सेवन का आदेश दिया है। आचार्य तीनों पुरुषार्थों में अर्थ को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि यही अन्य पुरुषार्थों का आधार है। इनके द्वारा वर्णित अर्थ की परिभाषा बड़ी महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित है। जिससे सब प्रयोजनों सिद्धि हो उसे वह अर्थ कहते हैं। वास्तव में उनका कथन यथार्थ ही है। क्योंकि विश्व में ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो धन से पूर्ण न हो सके। अर्थ व्यक्ति की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। इसी कारण आचार्य ने अर्थ को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है।

दिगम्बर जैन कालिज, बडौत (मेरठ)

(पृ० १७ का शेषांश)

है तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ आप्त ठहरते हैं और यदि सब देशों और कालों को जानकर नहीं कहते तो आपका कथन प्रमाणित नहीं माना जा सकता। आप्त के नाम पर आप्ताभासों का बाहुल्य है। अतः आप्ताभासों (बनावटी आप्त) को जान लेना अत्यावश्यक है। इसी कारण ग्रन्थकार ने आप्ताभासों का विस्तार से वर्णन किया है। शिव, शिवगण, गंगा, पार्वती, गणेश, वीरभद्र, ब्रह्मा, सरस्वती, नारद, विष्णु, राम, परशुराम, बुद्ध, इन्द्र, आठों दिक्पाल, सूर्य, चन्द्रमा, बुद्ध, मंगल, भैरव, सर्प, भैरवियाँ, गोमाता, पृथ्वी, नदी, समुद्र आदि जो भी देवी-देवता के रूप में पूजे जाते हैं, एक-एक को लेकर उनकी समीक्षा की है। इतना ही नहीं जैनो के भी श्वेताम्बर, यापनीय काष्ठ, संधी, द्रविड़ संधी, निष्कुण्डिका आदि भी उनकी आलोचना परिधि से बाहर नहीं हो पाए हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो भी प्रमाण दिये हैं वे पुराण प्रसिद्ध हैं, जिससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अहंदास जैन पुराणों के साथ ही हिन्दू पुराणों के भी अंश पण्डित थे। बुद्ध की भी गंभीर आलोचना से उनका बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अगाध पाण्डित्य प्रकट होता है।

मांस भक्षण के प्रसंगों को भी ग्रन्थकार ने उठाया है और बड़े वैदुष्यपूर्ण शब्दों में मांस भक्षण का निषेध किया है। यहां भी कवि की तार्किक शैली ने विराम नहीं लिया है। ६२वें श्लोक में कहा गया है कि—‘यदि कोई कहे कि अन्न जीव का शरीर है अतः अन्न की तरह मांस भक्षण करना कोई बुरा नहीं है, तो उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि अन्न भी जीव का शरीर है

और मांस भी जीव का शरीर है, फिर भी आर्य पुरुषों को अन्न ही खाना चाहिए, मांस नहीं। जैसे माता भी स्त्री है और पत्नी भी स्त्री है किन्तु लोग पत्नी को ही भोगते हैं, माता को नहीं। इस प्रकार आप्त की परीक्षा कर ११७वें श्लोक में आप्त का स्वरूप बताते हुए कहा है— आप्तोर्थतः स्याद्मरागमाद्यैरच्छांगताद्यैरपि भूष्यमाणः। तीर्थकरश्छिन्नसमस्त दोषावृत्तिश्चसूक्ष्माद्रि पदार्थदर्शी॥

तदनन्तर तीर्थकर का अर्थ बताते हुए जिनेन्द्र देव का स्वरूप बताया है और कहा है कि उनके ही श्रीमान् स्वप्न, वृषभ, शिव, विष्णु, आदि अनेक नाम हैं। इसके बाद जीवाजीवादि मात तत्त्वों का स्वरूप और उसके बाद सम्यग्दर्शन का वर्णन है इसी सन्दर्भ में लोक मूढ़ता का स्वरूप बताया है। आठ मद और छ. अनायतनों को बता कर सम्यग्दर्शन के निःशास्त्रितादि आठ अंगों का वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन के आठ दोषों का भी विवेचन यही किया है। इसके बाद आठ अंगों में प्रसिद्ध हुए व्यक्तियों के नाम और सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बताया है। सात परम स्थानों का कथन कर दो पद्यों में सम्यक्-ग्यान का स्वरूप बताया है। आगे सम्यक् चरित्र का स्वरूप बताकर कहा गया है कि इन तीनों की पूर्णता से ही मोक्ष होता है। तदनन्तर आचार्य, उपाध्याय और साधू का स्वरूप बताकर उनकी स्तुति की गई है। अन्त में उपसंहार करते हुए कहा है—

इत्युक्तमाप्तादिवषट्स्वरूप सशृण्वतोस्त्रैव दृढा रुचिः स्यात्। सज्ज्ञानमस्याश्चरितततोस्मात्कर्मक्षमोस्मात्सुखमप्यदुःखम्।

जैन कालिज, खातौली।

पं० शिरोमणि दास कृत धर्मसार सतसई

अथ पंचम संधि प्रारभ्यते :

चोपाई—कर जोड़े नृप पूछे बात,
गणधर देव कहौ तुम बात ।
तीर्थकर पद कंसे होय,
मुनिवर धर्म कहौ पुनि सोय ॥१॥
षोडश कारण व्रत को करै,
केवली सगति क्षायक धरै ।
छटै सातै गुणधान विराजै,
होय दिगम्बर मुनिवर राजै ॥२॥
गणधर कहै सुनो हो राय,
यतिवर धर्म महा सुखदाय ।
महा कठिन कहिये ससार,
जातै भवदधि पावै पार ॥३॥
क्रोध लोभ माया मद त्यागी,
देह भोग ससार विरागी ।
आशा विषय तजै जब व्रती,
सो जग मे यह कहिये जती ॥४॥
अस थावर की जो करहि सुरक्षा,
दया महाव्रत यह जिन शिक्षा ।
निज पर हेतु मृषा जब तजै,
अनन्त महा व्रत सो मुनि भजै ॥५॥
पर धन इच्छा करै न बाधु,
निज दोषन नही गोपे साधु ।
मन-वच-काय तजै जब दोष,
स्तेय महा व्रत यह सुख पोष ॥६॥
दोहा—चर विधि नारी जानिए, जे त्यागे मन वच काय ।
व्रत कीरति अनुमोद है, इह विधि गुनि जै राय ॥७॥
पांचऊ इन्द्रिय लिंग दस, काम विकिन दस जानि ।
शील भेद इह विधि गुनै, अठारह सहस बखानि ॥८॥
चोपाई—इह विधि शील धरै मुनि कोई,
महाव्रत ब्रह्मचर्य है सोई ।

□ श्री कुन्दनलाल जन प्रिन्सिपल, दिल्ली

दश विधि उपधी बाहिज कहै,
चोदह पुनि अभ्यन्तर रहै ॥९॥
ए चौबीस उत्पागै शुद्ध,
महाव्रत यह आकिचन बुद्ध ।
अब सुनु पाचों समिति भेद,
जातै होय पाप बहु छेद ॥१०॥
भूमि शोध पग धरै जु साधु,
जातै जीव लहै नही बाधु ।
नीची दृष्टि मद अति चलै,
ईश्या समिति यह तासौ पलै ॥११॥
धर्म वचन बोले शुभ बनै,
कै घरि मोन रहै दृढ़ जेन ।
विकया वचन तजै जब मुनी,
भाषा समिति जान यह गुनी ॥१२॥
पहर उठे दिन चढइ जु जो लौ,
रहइ पहर उठे पुनि तो लौ ।
आहार शुद्धि नव कोटि बखानि,
एषणा समिति कहौ जिन बानि ॥१३॥
घरहि कमडलु घरनी देख,
अरु पुनि ताहि लेहि पत रेख ।
आदान निक्षेपण समिति बनाई,
धरै मुनीन्द्र सकल सुखदाई ॥१४॥
भूमि देख मल मूत्रहि क्षिपै
फिर पुनि आनि जाप नित जपै ।
घरहि जो गुनिय भासौ नित्त,
प्रतिष्ठापन यह समिति जु मित्त ॥१५॥
पाचो इन्द्रिय विषय विरोधै,
तप सों अग्नि महा तनु सोधै ।
षट् आवश्यक साधै जती,
भूमि शयन पुनि राचै व्रती ॥१६॥
स्नान रहित सोहै मुनिराज,
वसन विवर्जित पुनि दिगंबर बास ।

निज शिर केश लुंच विधि करे,
 पंच घरा फिर भिक्षा घरे ॥१७॥
 ठाढ़े भोजन लेइ प्रवीन,
 पाणि पात्र अति पर घर लीन ।
 दातून रहित सोहे मुनिराइ,
 एक बार भोजन तनु आइ ॥१८॥
 दोहा—ऐ अट्ठाईस मूल गुण, जो पाले मुनि राय ।
 सो मुनिवर गणधर कहै, तारन तरन सहाय ॥१९॥
 उत्तर गुण जो पालहि, लक्ष चौरासी धीर ।
 ते जिन शासन में कहे, यतिवर गुणनि गंभीर ॥२०॥
 चौपाई—जो मुनि देह भोग सुख आशा,
 धन इक कौड़ि न राखे पासा ।
 धरि यति भेष करे व्रत भंगु,
 बहुत मोह कर बाधे संगु ॥२१॥
 सुख यश हेतु महा व्रत धरै,
 हिंसा करि माया को परे ।
 ते मुनि दुर्गति जैहैं सही,
 यहै गाय (ह) श्री गणधर कही ॥२२॥
 दोहा—तप जप संयम शील शुभ, दयाक्षमा परमार्थ ।
 ते गुरु निश्चय जानिजै, तारण तरण समर्थ ॥२३॥
 चौपाई—जो पर्वत पर मंडहि जोग,
 नियमा पर छांडे सब भोग ।
 ग्रीष्म मघा भी पर परै,
 अरुदमारि (दावाग्नि) पुनि वन में जरै ॥२४॥
 दोहा—सुख दुःख सम जानि कै, शत्रु मित्र सम रूप ।
 धरि सन्तोष निराश मति, सहई परीषह भूप ॥२५॥
 चौपाई—वर्षा काल वृक्ष तल जाय,
 धरै जोग तहं मन वच काय ।
 वरसै मेह महा घति घोर,
 चहुंधा वायु झकोरइ जोर ॥२६॥
 दोहा—करकैंटा अरु विषहनरा, वृश्चिक सर्प जु क्रूर ।
 ऊपर चढ़ै जु झाइकैं, सहइ परी वह शूर ॥२७॥
 शीतल बूंद जो टपकही, बेलें लपटें अंग ।
 आशा देह जु त्यागिकै, धरै ध्यान निःसंग ॥२८॥
 चौपाई—शीतकाल पुनि जानहु धीर,
 धरै जोग सरवर के तीर ।

पर हित सार जरै तरु जाति,
 सहइ जीव दुख नाना भांति ॥२९॥
 दोहा—तहां ध्यान दृढ मुनि धरै, कर्म क्षय निज हेत ।
 द्वादशानुप्रेक्षा चितवै, सु वर्णनि करौ सुचेत ॥३०॥
 चौपाई—धन यौवन नारी सुख नेह,
 पुत्र कलत्र मित्र तनु एह ।
 रथ गज घोड़े देश भंडार,
 इन्हो जात नही लागे वार ॥३१॥
 जैसे भेष पटल क्षण क्षीण;
 तैसो जानो कुटुम्ब सगु दीन ।
 जल संयोग आम घट जैसे,
 सकल भोग बिधि जानहुं तैसो ॥३२॥
 दोहा—जो उपजो सो विनशाई, यह देखो जग रीति ।
 अध्रुव सकल विचारि कै, कहु धर्म सौ प्रीति ॥३३॥
 —इति अध्रुवनुप्रेक्षा
 चौपाई—जैसे हिरण सिंह बस परचो,
 तैसो जीव काल ने धरचो ।
 कोऊ समर्थ नही ताहि बचाव,
 कोटि यत्न करि जो दिखरावै ॥३४॥
 मन्त्र तन्त्र जे औषधादि धनी,
 बल विद्या ज्योतिष अति गुनी ।
 ए सब निष्फन होहि विशाल,
 जब जीव आनि परै वश काल ॥३५॥
 दोहा—इन्द्र चक्री हरि हर सबै, विद्याधर बलवत ।
 काल पाश तें उपरे सुको किहू रक्षहि अन्त ॥३६॥
 —इति अशरणानुप्रेक्षा
 चौपाई—द्रव्य क्षेत्र पुनि काल जु आनि,
 भव अरु भाव तही जुव खानि ।
 यह संसार पंच विधि कही जै,
 जीवन मरण जीव दुख लहीजै ॥३७॥
 समय अनता नत जु लए,
 अनतकाल तह पूरण भए ।
 समय एक कहुं बचिऊ न तीव,
 जामन मरण लहीं नही जीव ॥३८॥
 दोहा—जिनतें बहु सुख पाइए ते भए दुख को रूप ।
 परावर्तन बहु प्रीयो, यह संसार स्वरूप ॥३९॥
 (शेष अगले अंक में)

जरा सोचिए !

१. अपरिग्रह धर्म को कैसे बचाये

जैन धर्म का मूल अपरिग्रह है और इस धर्म में वर्णित देव और गुरु दोनों ही अपरिग्रही शौच-पूर्ण हैं। हमारे देव—‘जिन’ पूर्ण अपरिग्रही है, उनका धर्म जैन भी अपरिग्रहत्वपूर्ण है और गुरु—मुनि गण भी अपरिग्रही है। इसी बात को यदि हम अभेद रूप से कहें तो अपरिग्रह ही देवत्व है और अपरिग्रहत्व में ही गुरुत्व या दिगम्बरत्व है; ऐसा कह सकते हैं। अर्थात् अपरिग्रहत्व की पराकाष्ठा होने पर वीतरागी-जिन ‘देव’ है; उनका धर्म ‘जैन’ भी अपरिग्रह की पराकाष्ठा है और दिगम्बर मुनि भी अपरिग्रह की ही जीती-जागती मूर्ति है।

ऊपर की कथनी से हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि—जैनत्व एकाकी शुद्ध-रूप में, पर से नाता तोड़ने में फलित होता है। हमारे यहां दो शब्द आते हैं—संयोग और वियोग। संयोग अशुद्धि का द्योतक है और वियोग शुद्धि का द्योतक है। संयोगी अवस्था संसारी है और वियोगी अवस्था शुद्धि की परिचायिका है। आश्चर्य है कि वस्तु की ऐसी मर्यादा होने पर भी अज्ञानीजीव परिग्रह-संयोग (अशुद्धि) में खुश और परिग्रह-वियोग (शुद्धि) में नाखुश देखे जाते हैं।

इसी प्रकार संगठन और विघटन जैसे दोनो शब्दों पर विचार करें तो धर्म—वस्तु का स्वभाव, पर से विघटन में होता है और वस्तु की विकृति पर-संगठन से होती है; जबकि आज के लोग विघटन को तिरस्कृत कर संगठन पर जोर देते देखे जाते हैं। स्पष्ट है कि—भिन्न व्यक्तित्वों का एक समुदाय में होना संगठन है और हर व्यक्ति का स्वतन्त्र—स्वरूप में रहना विघटन है। कृपया सोचिए जैनत्व में आने के लिए आप विघटन को चुनेंगे या विकारी भाव संगठन को? हमारी राय में आप एक बार विघटन करके तो देखिए, पर से अलग अपने को देखिए : आप स्वयं ही बोल उठेंगे—जैन धर्म की जय !

आचार्य कहते हैं—

‘विरम किमपरेण कार्यं कोलाहलेन,

स्वयमपि निभूतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।’ समयसार कलश;

—हे भव्य, अन्य कार्य-कोलाहलों से (तेरा लाभ)

क्या ? तू विराम ले—उनसे अपना विघटन कर और छह मास अपने में रहकर देख। तुझे परमानन्द प्राप्त होगा।

स्मरण रहे—विघटन जिन, जैन, दिगम्बर और मुनि के शुद्ध-रूप में आने का उपाय है। जब तक हमारा पर-परिग्रह से विघटन न होगा तब तक हमारे द्वारा जिन, जैन, दिगम्बर और मुनि जैसे रूपों में एक भी रूप ग्रहण नहीं किया जा सकेगा; क्योंकि—पर-परिग्रह से तो हम सदा से ही संगठित होते रहे हैं, हमें उक्त चारों रूपों में से एक भी रूप नहीं मिल सका है।

मगलोत्तम-शरण पाठ यानी चत्तारि मंगलम् आदि पाठ तो आप नित्य पढ़ते हैं। यह पाठ अनादि है। आप देखे कि इसमें अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म इन चार को मंगल रूप और शरणभूत कहा गया है। दूसरी ओर विनय-रूप णमोकार-मन्त्र पर भी दृष्टिपात करें, वहां आचार्य उपाध्याय का नाम जुड़ा हुआ है; जबकि चत्तारि मंगल पाठ में उन्हें छोड़ दिया गया है। ऐसा क्यों? व्यवहार में हम समाधान कर लेते हैं कि आचार्य-उपाध्याय दोनों पद साधू पद में गभित हैं। पर, यदि ऐसा ही है तो णमोकार मन्त्र में भी उक्त दोनों पद न देकर इन्हें साधु-पद में क्यों नहीं गभित कर लिया गया? सूत्र भी लघू हो जाता और भाव भी फलित हो जाता। पर ऐसा नहीं किया गया; क्योंकि णमोकार मन्त्र मात्र विनय-मन्त्र है, नमस्कार मन्त्र है, और मगलोत्तम शरण-मन्त्र वस्तु-स्वरूप परिचायक है। यतः—जैसे, सिद्ध और साधु पूर्ण अपरिग्रहत्व रूप हैं वैसे आचार्य और उपाध्यायों के साथ पूर्ण अपरिग्रहत्व नहीं। उनके शिष्य परिवार हैं, उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि विकल्प रूप शुभ, परिग्रह है। भले ही वे व्यवहार दृष्टि से हमारा मंगल करते हों, लोक दृष्टि में उत्तम

और शरणभूत हों फिर भी शुद्ध-वस्तु रूप में स्वयं में (जिम्मेदारी समझने—शिष्यगण को अनुशासन में रखने रूप विकल्प के कारण स्व-मंगलरूप और उत्तम नहीं, क्योंकि उनमें उक्त परिग्रह का अंश है। इसीलिए जो आचार्य उग्र-तप के इच्छुक हों, समाधि में जाना चाहें उन्हें आदेश है कि आचार्य पद का भार (परिग्रह) किसी योग्य शिष्य को सौंप दें और साधु रूप में विचरण करें तथाहि—

‘गच्छाणु पालणत्थं आहोइय अत्तगुणसम भिक्खू ।

तो तस्मिगणविसगं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥’

—मूलाराधना—२७४,

—अपने गुण के समान जिसके गुण हैं ऐसा वह बालाचार्य गच्छ का पालन करने योग्य है ऐसा विचार कर उस पर अपने गण को विसर्जित करते हैं, अर्थात् अपना पद छोड़कर सम्पूर्ण गण को बालाचार्य को छोड़ देते हैं ।

यहां अपरिग्रही होने—एकाकी होने की बात है और इसी की ध्यान में रखकर आचार्य कुन्द कुन्द ने मुनियों के रहने योग्य स्थानों को चुना है । वे कहते हैं—

‘सुण्हरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा,
गिरि-गुह गिरि-सिहरे वा भीमवणे अहव वसिमे वा ।
सवसासत्त तित्थ व च चइदालत्तयं वुत्तिहि,
जिणभवण अह वेज्झ, जिणमग्गे जिणवरा विति ॥

—कुन्दकुन्द, बोधपाहुड, ४२-४३

—मुनियों को शून्य घर में अथवा वृक्ष के नीचे उद्यान में अथवा शमशान भूमि में अथवा पर्वतों की गुफा में अथवा पर्वत के शिखर पर अथवा भयंकर वन में अथवा वसंतिका में रहना चाहिए । ये सभी स्थान स्वाधीन हैं । जो अपने आधीन हो ऐसे तीर्थ, व चैत्यालय और उक्त स्थानों के साथ-साथ जिन-भवन को जिनेन्द्रदेव उत्तम मानते हैं ।

उक्त विधान अपरिग्रहपोषक, एकान्त और स्वाधीनता संरक्षण की दृष्टि से है क्योंकि जन-सकुल स्थान में आत्मध्यान भी नहीं हो पाता । किसी ने कहा भी है—

बासे वहना कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।

एक एव चरेत्स्मात्कुमार्या इव ककणम् ॥

—सुहागिन के हाथों में अनेक चूड़ियां होती हैं जिससे

शब्द होता है ऐसे ही दो आदमी होने पर बातें भी हो सकती हैं । पर कुमारी कन्या के हाथ में पड़ा कड़ा अकेला होने से शब्द नहीं करता—शान्त रहता है । इसी प्रकार प्रकार यदि मुनि एकाकी, निर्जन स्थान में रहेगा वह शांत रहने में सरलता से समर्थ होगा ।

प्रसंग है, अपने गुरु मुनि श्री विद्यानन्द जी के साथ हमारे हरिद्वार भ्रमण का । जब हम हरिद्वार में थे, हमने देखा—श्री गंगा जी का मुनि-मन सम निर्मल जल, पर्वत से नीचे उतरता, कल-कल करता, नगर में प्रवेश के बाद दूषित-मलिन होकर सड़कों के नीचे बने गटरो (नाले-नालियों) में वह रहा है । मानों वह नगर-प्रवेश को अपनी भूल मानकर शर्मिन्दा हो, अपना मुंह सड़क के नीचे बने गटरो में छिपा रहा हो । वायु की भी यही स्थिति थी । जो वायु पर्वतों पर पहले कुछ समय पूर्व शीतल, सुगन्धित और मन-भावन थी; वह नगर प्रवेश के बाद दूषित हो गई थी । हम सोचते रहे जब उन्मुक्त बहने वाले स्वच्छ जल और चलती शुद्ध वायु की नगर प्रवेश में ऐसी दशा है तब वे साधु धन्य है जो यहाँ निवास कर अपने भावों को अपने में थामे हुए हो । फिर दिग्म्बर सत तो धन्य है, त्याग-तप की पराकाष्ठा है, उन्हें अपने में स्थिरता के लिए सर्वाधिक प्रयास करना पड़ता होगा । धन्य है वे ! अन्यथा कहावत तो यह है कि—

“काजल की कोठरी में कैसे ही सयानों जाय ।

काजल की एक रेख लागे पै लागे है ॥”

अभी कुछ दिन पूर्व हमने धर्म-संरक्षणी भा० दि० जैन महासभा के मुख-पत्र जैन गजट में सम्पादक का लेख ‘शत-शत बार नमन’ पढ़ा । हम चौंक पड़े । सभी जानते हैं कि महासभा धर्म की यथास्थिति रखने में सदा कट्टर और मुनि-भक्त रही है : वह मुनियों में कमजोरी बताने में सदा उपगूहन अंग का पालन करती रही है । पर लेख से ऐसा लगा कि इस परिग्रह को लेकर आज वह भी चिन्तित दिखती है ।

तथाहि—

“आज साधुओं में मठ-मन्दिर-आश्रम बनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है । उनका ममत्व भाव इन संस्थाओं के प्रति इतना गहरा है कि वर्ष का अधिकांश समय उनका

एक ही स्थान पर बीतने लगा है। यदि इसे रोका न गया तो भ्रम है कि निकट भविष्य में जैन-साधु अन्य धर्मावलम्बी साधुओं की तरह कहीं उपाश्रयवासी बनकर न रह जाएं।

* साधु या त्यागी भले ही पैसा हाथ से छूते न हों किन्तु उसका हिसाब-किताब रखते देखे जाते हैं।

* आज कुछ साधु अपने साथ पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र के अतिरिक्त टेपरिकार्डर, ट्राजिस्टर आदि भी रखते हैं। लोगों से कहकर कैसिट आदि मगाते हैं।

* आचार्य शान्ति सागर जी कहा करते थे कि नकद पैसा लेने वाला साधु तो नरक जायेगा ही, देने वाला उनमें पहिले जाता है। **खन्दा-चोकड़ा करना यह साधु का काम नहीं है। वरगय का व्यापार नहीं हो सकता।**”

(जैन गजट २१ अक्टूबर १९८६ से)

उक्त बातें कहाँ तक, कितनी ठीक हैं, हम नहीं जानते। हा, यह अवश्य कहते हैं कि ये सब बातें परिग्रह रूप होने से विकारी—धर्मभ्रष्ट करने वाली हैं। इनसे बचकर ही जैन-शासन को सुरक्षित रखा जा सकता है। हम तो यह भी कहेंगे कि आज गानव-स्वभाव इतना दूषित बन गया है कि जब हम छोड़ने की, अपरिग्रही और जैन बनने की बात करते हैं तब यह जोड़ने की बात करता है और जोड़ने की इस धुन में वह अपरिग्रही को भी नहीं बखशाता। उसे भी घेरे रहकर उसके धार्मिक क्रिया-राश्ट्रों के समय तक को अपने उपकार में ही लगवाना चाहता है। कई लोग तो अपरिग्रहियों के बहाने धन्धे चलाने की धुन में भी देखे जाते हैं। कोई उनके प्रवचन छपाकर बेचते हैं तो कोई अन्य बहानों से पैसा इकट्ठा करते हैं। भले ही जबकि साधु को उनसे प्रयोजन भी न हो, आदि।

प्रसंग में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि लोग अपरिग्रह की मूर्ति दिगम्बर गुरुओं का घेराव न करे केवल उनके धर्म-उपकरणों को ही जुटाए। यदि हमारी स्वार्थ-रूपी करनी से साधु का साधुत्व और अपरिग्रहत्व जाता है तो सच समझिये कि जो धर्म अवशेष है, वह भी चला जायगा। यतः केवल जैन ही ऐसा है, जिसमें वीतरागता और अपरिग्रह की प्रमुखता और पराकाष्ठा है और इसी-लिये सर्वज्ञता है, और इसी की पूजा है, यही धर्म है।

अन्यथा—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य पर तो सभी धर्म वाले और राजनीति चलानेवाले, सभी जन-साधारण जोर देते देखे जाते हैं।

२. एक पत्र के अंश (जो हमने लिखा)

धर्म स्नेही, जय जिनेन्द्र !

आपके कई प्रकाशन मिलते रहे। विचार कर निवेदन कर रहा हूँ। मुनि श्री के बहाने हम ऐसी किसी भी सस्था के खडे करने के पक्ष में नहीं, जिसमें अर्थ संग्रह करने या उसके हिसाब के रख-रखाव का प्रसंग हो। हम तो मुनि श्री को प्रचार के साधनों—टेप-रिकार्डर, माइक, बीडियो और मंच आदि से भी दूर देखना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि—मुनि श्री का घेराव न किया जाए। यदि उनसे कुछ धर्मोपदेश सुनना हो तो उनके ठहरने के स्थान पर जाकर ही सुना जाय। मुनि श्री का जयकारा करना-कराना, उन्हें समूह की ओर खींचना, उन्हें मार्ग से च्युत करने जैसे मार्ग हैं। इनसे साधु का अह बढ़ता है, यश-लिप्ता होती है, राग-रंजना होती है, और वह जिसके लिए दीक्षित हुआ है उस स्व-साधना से वंचित रह जाता है, पर-सुधार के चक्कर में पड़ जाता है : आदि।

ये हम इसलिए भी लिख रहे हैं कि आज मुनि-मार्ग विकृत रूप ले रहा है : सस्थाओं से बढ़े त्यागी अर्थ संग्रह में लगे देखे जाते हैं, उनके प्रति लोगों की श्रद्धा भी घट रही होती है। ऐसे में जब इस काल में कोई सच्चा हीरा हमारे सामने आया है तो हम आदर्श रूप में उसका सदुप-योग अपने आत्मोद्धार-मार्ग में करें—उसे घेरकर उसकी ज्योति के अवरोधक न हों।

३. “सिद्धा ण जीवा” (पवला)

जीवन-मरण आवागमन का नाम है। और आवागमन को शास्त्रों में ससार कहा है—‘ससरणं ससारः।’

जब कोई व्यक्ति शुद्ध-आत्म-स्वरूप के विवेचन में ‘आत्मा जीता है’, आदि जैसे शब्दों का व्यवहार करता है तो बड़ा अटपटा लगता है, फिर चाहे वह ‘चेतन गुण से जीता है’ ऐसा ही क्यों न कहे? सोचने की बात है कि जब चेतना—ज्ञान-दर्शन को स्वभाव मान लिया तो उसमें

आवागमन कैसा, जीना-मरना कैसा ? स्वभाव तो न कभी जीता है और न कभी मरता है—सदा एक रूप ही रहता है। स्वभाव में अन्य पर्याय का विकल्प ही नहीं होता। व्यवहार में जिसे हम जीना-मरना कहते हैं वह सर्वथा पर-आश्रित है, अशुद्ध अवस्था का द्योतक है और वह अन्य ही किन्हीं कारणों से होता है। और इसीलिए आचार्यों ने भी जीवन-मरण का आधार कर्मोदयादि को बतलाया है। संसारी जीवों में कर्मोदय से प्राण होते हैं और प्राणों के धारण-विसर्जन को जीवन-मरण की संज्ञा दी गई है। 'जीव' शब्द भी इसी प्रक्रिया में फलित हुआ है और आचार्यों ने भी 'आउपमाणं जीविदं णाम' ऐसा—कहा है।

पिछले दिनों हमने मान्य-आगम ध्वला का उद्धरण देते हुए लिखा था कि 'सिद्ध' जीव नहीं है, जीवित पूर्व है। वह कथन प्राणों की ओदयिक भावों की दृष्टि से था और युक्त-युक्त तथा पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्द समत था। हम कुन्दकुन्दाम्नायी हैं और तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता श्री उमास्वामी महाराज, उसी परम्परा के उत्तरवर्ती आचार्य हैं और ध्वलाकार आचार्य भी इसी परम्परा के हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो सभी का मन्तव्य एक है और सभी ने मुक्त आत्माओं को जीव संज्ञा से बाहर रखा है। 'जीव' संज्ञा केवल जीवन-मरण—संसार अवस्था तक ही सीमित रखी है। सभी ने आत्मा के चेतन गुण को स्वीकार किया है। उन्होंने आत्मा अथवा चेतन को संसारी और मुक्त या जीव और सिद्ध इन दो रूपों में स्वीकार किया है। संसारी को जीव और मुक्त को सिद्ध (संज्ञक) बतलाया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो जीवादि—तत्त्वमात्र को भी हेय बतला, शुद्ध-आत्मा मात्र को उपादेय स्वीकार किया है। यदि उन्हें सिद्धों में जीव-संज्ञा कथंचित् भी इष्ट होती तो वे उसे कभी भी हेय न बतलाते। वे कहते हैं—

‘जीवादि बहिर्तत्त्वं हेयमुपादेयमप्यणो अप्पा ।

कर्मोपाधि समुम्भव गुणपञ्जाएहि वदिरित्तो ।’

—नियमसार ३८

टीका—जीवादि सप्त तत्त्वजातं परद्रव्यत्त्वान् ह्युपादेयम् । आत्मनः सहज—वैराग्यप्रसादशिखरशिक्षामणे परं द्रव्य पराङ्मुख्य पंचेन्द्रिय—प्रसरवर्जितगात्र मात्र परिग्रहस्य, परमजिन योगीश्वरस्य, स्व-द्रव्य-निश्चितमते-

रुपादेयो ह्यात्मा ।’ (अमृतचन्द्र)

—जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, इस आत्मा को आत्मा ही उपादेय है। यह आत्मा कर्म की उपाधि से पैदा होने वाले गुण पर्यायों से भिन्न है। पर-द्रव्य होने से जीव आदि सप्त तत्त्व मात्र उपादेय नहीं हैं। ‘.....प्रखर ज्ञानी परम जिन-योगीश्वरो के द्वारा आत्मा ही ग्राह्य है।

स्वामी अकलंकदेव जीव के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—‘औपशमिकादि भाव पर्यायो जीवः पर्यायादेशात् ।’ राजवा० १।७।३ तथा ‘औपशमिकादि भाव साधनश्च व्यवहारतः ।’—१।७।६ अर्थात्—पर्यायाधिक नय से औपशमिकादि भाव रूप जीव है। व्यवहार नय से औपशमिकादि भावों से जीव (स्वरूप लाभ करता) है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य विरचित गो० जी० कां० की जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका में कहा है—‘कर्मोपाधि सापेक्षज्ञानदर्शनोपयोग चेतन्य प्राणेन जीवतीति जीवः ।’—२।२।८

कर्मोपाधि की अपेक्षा सहित ज्ञानदर्शन उपयोग रूप चेतन्य प्राणों द्वारा जीने वाला जीव है।

स्मरण रखना चाहिए कि जीवन कर्मोपाधि सहित चेतन का व्यापार है और वह प्राणों पर आधारित है तथा प्राण आयुकाल-पर्यन्त विभिन्न कर्मोपाधित है। प्राणों के सम्बन्ध में जीवकाण्ड में बड़े खुलासा रूप में लिखा है—‘पचवि इन्द्रिय पाणा मण वच काएसु तिणि बलपाणा । आणा पाणप्पाणा आउग पाणेण होति दस पाणा ॥१२६॥ वीरियजुदमदिखउवसमुत्था णोइंदियेसु बला ।

देहुदये कायाणा बचीवला आउ आउदये ॥१३०॥

पांच इन्द्रिय प्राण है, मन वचन काय तीन बल प्राण हैं, श्वासोच्छ्वास प्राण हैं और एक आयु प्राण है। मनो-बलप्राण और इन्द्रियप्राण वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण से उत्पन्न होते हैं। शरीरनाम कर्म के उदय से कायबल प्राण होता है। श्वासोच्छ्वास और शरीर नाम कर्म का उदय होने पर वचन बल प्राण होता है, आयु कर्म के उदय से आयु प्राण होता है। इसी गोमटसार जीव काण्ड में यह भी लिखा है कि सिद्धों में सभी संसारी उपाधियों व प्राणों का सर्वथा अभाव है—

‘गुण जीव ठाण रहिया सण्णा पजजत्ति पाण परिहीणा ।
सेसणवयमणूणा सिद्धा मुद्धा सदा होंति ॥’—७३१

सिद्ध परमेष्ठी सर्वथा शुद्ध होते हैं; वे गुणस्थान, जीव-स्थान, संज्ञा पर्याप्ति प्राण रहित होते हैं। उनमें ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और अनाहार को छोड़ कर शेष मार्गणाएं नहीं पाई जाती।

पंचास्तिकाय में तो सिद्धों को जीव के स्वभाव से सर्वथा भिन्न तक कह दिया है—

‘जेत्ति जीव सहावो णत्थि, अभावोय सव्वहा तस्स* ।

ते होंति भिण्ण देहा, सिद्धा वच्च गोयरमदीदा ॥’—३५

जिनमें । का स्वभाव नहीं है और उसका सर्वथा अभाव है, वे सिद्ध, शरीर-रहित हैं और वचन अगोचर हैं। स्मरण रखना चाहिए कि यदि जीव की परिभाषा शुद्ध रूप में चेतना या उपयोग रूप होती—कर्म प्रभावित न होती, तो आचार्य उमा स्वामी—जो संसारावस्था में इसे जीव नाम का सम्बोधन देते रहे, इसका नाम बदलकर मुक्त में इसे सिद्ध नाम न देते—‘अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन सिद्धत्वेभ्यः ।’ णमोकार मंत्र में णमो सिद्धाणं और ‘मंगलोत्तमस्मरण’ पाठ में सिद्धामंगलम् आदि का समावेश भी जीव संज्ञा के अभाव की पुष्टि करते हैं कि कर्मवश होने वाली जीव पर्याय संसारी तक सीमित है—मुक्त में नहीं।

आखिर, अनादि-मन्त्र में जीव जैसे प्रसिद्ध तत्त्व का नाम न लेकर उसे ‘सिद्ध’ रूप में कहने का कोई तो मूल कारण होना ही चाहिए। हमारी दृष्टि में तो कारण यही है कि जीव अवस्था कर्मबद्ध है और सिद्ध अवस्था कर्म-रहित परम-आत्मा है।

तत्त्वार्थ सूत्र ऐसे शास्त्र है जो संसारी—जीवों को मोक्ष-मार्ग बतलाने की दृष्टि से लिखे गए हैं। फलतः इस

शास्त्र में मुक्ति-मार्ग में सात तत्त्वों का वर्णन करते समय संसारियों को लक्ष्य में रखकर उनके बद्ध होने के कारण, उन्हें जीव नाम से समझाया गया है ताकि वे प्रसंगगत तत्त्वों से परिचित हों—अपने को बद्ध समझ मुक्ति—शुद्ध अवस्था की प्राप्ति को उत्प्रेरक हो सकें। जो उनकी वास्तविक होनी चाहिए और जिसे आचार्य उमा स्वामी ने भी दशम अध्याय में (जीवत्व संज्ञा से बदलकर) सिद्धत्व-संज्ञा रूपा में स्वीकृत किया है।

स्मरण रहे कि पारिणामिक-भाव का अर्थ स्व-स्वभाव नहीं है, अपितु पारिणामिक भाव संसारी अवस्था के कर्मों-दयादि की अपेक्षा-रहित वे भाव हैं जो आत्मा की स्वाभाविक विकास-शक्ति को इंगित करने के भाव में व्यवहृत होते हैं और संसारावस्था के बाद व्यवहार में नहीं आते—छूट जाते हैं। जीवत्व भी छूट जाता है, उमका स्थान ‘सिद्धत्व’ ले लेता है। यदि पारिणामिक भाव, स्वभाव (निर्मल दशा रूप) होते तो क्षायिक (मुक्ति में वर्णित-सम्यक्त्वादि) भावों को भी पारिणामिक भावों में ही गभित कर लिया गया होता—आचार्यों ने उसके लिए पृथक् सूत्र न रचा होता। इसी तरह तत्त्वार्थसूत्रादि में वर्णित ‘संसारिणो मुक्ताश्च’ जैसे भेद आत्मा की अशुद्ध और शुद्ध-पर्याय के दिग्दर्शन मात्र में है और इन्हें संसारी-आत्मा अर्थात् जीव (अशुद्ध आत्मा) को समझाने की दृष्टि से कहा गया है। अतः—हे जीव (अशुद्ध आत्मा-संसारी) तेरा स्वरूप तो सिद्धत्व है, तू जीवत्व में न रह सिद्धत्व में आ। यही जिन वाणी का सार है और यही मुक्तात्मा का स्वरूप है। ‘तमः सिद्धेभ्यः’ !

अन्त में हम लिख दे और लिखते भी रहे हैं कि जो विचार हम देते हैं वे विचार के लिए होते हैं—किसी आग्रह के बिना। विचारिए और सोचिए।



—सम्पादक

* ग्रन्थों में गाथा के दूसरे पद का अर्थ—‘सर्वथा उसका अभाव भी नहीं है’ ऐसा किया गया है। हमारी दृष्टि में यह न्याय्य नहीं ठहरता। हां, यदि ‘य’ शब्द के स्थान पर ‘वि’ शब्द होता तो उक्त अर्थ ‘वि’ (अपि) के कारण ठीक बैठ जाता—यह विचारणीय है। फिर यदि चेतना के कारण कदाचित् जीव की कथंचित् (प्रसंग में) सत्ता भी स्वीकार कर ली जाय तो उसे भी ‘कर्मोपाधि—सापेक्षज्ञानदर्शनोपयोग चैतन्य प्राणेन जीवति इति जीवः’ के प्रकाश में बाधित ही माना जायगा। ‘अशुद्ध चेतना लक्षणो जीवः, शुद्धचेतना लक्षणः सिद्धः ।’

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर

जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण

सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ... ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । उचपन

ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : ग्रन्थात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित

५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ...

३-००

न्याय-दीपिका : भा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० । १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द ।

७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री

यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे । सम्पादक प हीरालालजी

सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक

पृष्ठों में । पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । ... २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया

७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

१२-००

ध्याक धर्म संहिता : श्री दरबारसिंह सोधिवा

५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुवर्चिन सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त

तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैनाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित

२-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री ...

२-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-

References.) In two Vol. (P. 1942)

Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेंसी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३
से मुद्रित ।